

शोध दिशा

शोध अंक 4

दिसंबर 2007

300 रुपए

संपादकीय कार्यालय

हिंदी साहित्य निकेतन, 16 साहित्य विहार,
बिजनौर 246701 (उ०प्र०)
फोन : 01342-263232, फैक्स : 01342-262375
ई-मेल : giriraj@hindisahityaniketan.com
वैब साइट : www.hindisahityaniketan.com

क्षेत्रीय कार्यालय

दिल्ली एन०सी०आर०
अनुभूति
सी-106, शिव कला
बी 9/11, सेक्टर 62, नोएडा
फोन : 09314021909, 09314421909

राजस्थान

अंकुर गोयल
बी-105, त्रिमूर्ति अपार्टमेंट
त्रिमूर्ति मार्ग, मालवीय नगर, जयपुर 302017
फोन : 0141-2753952, 09351553454

हरियाणा, हिमाचल एवं पंजाब

डा० हरिशरण वर्मा
710/35 जनता कालोनी
रोहतक (हरियाणा) 124001
फोन : 01262-248211, 09355676460

संपादक

डा० गिरिराजशरण अग्रवाल

प्रबंध संपादक

डा० मीना अग्रवाल

संयुक्त संपादक

मनोज अबोध

सह संपादक

डा० रश्मि त्रिवेदी

कला संपादक

गीतिका गोयल
अनुभूति

उपसंपादक

डा० अशोककुमार

विधि परामर्शदाता

अनिलकुमार जैन
एडवोकेट

शुल्क

वार्षिक शुल्क : बारह सौ रुपए

यह प्रति : तीन सौ रुपए

(सभी पद मानद एवं अवैतनिक हैं।)

प्रकाशित सामग्री से संपादकीय सहमति आवश्यक नहीं है। पत्रिका से संबंधित सभी विवाद केवल बिजनौर स्थित न्यायालय के अधीन होंगे। शुल्क की राशि 'शोध दिशा' बिजनौर के नाम भेजे। (सन् 1989 से प्रकाशन-क्षेत्र में सक्रिय)

स्वत्वाधिकारी 'हिंदी साहित्य निकेतन' की ओर से मुद्रक प्रकाशक डा० गिरिराजशरण अग्रवाल द्वारा आदर्श प्रिंटर्स, सी-51, मोहन पार्क, शाहदरा, दिल्ली 110032 से मुद्रित एवं 16 साहित्य विहार, बिजनौर (उ०प्र०) से प्रकाशित। पंजीयन संख्या : 24 (137) ए 95-आर I

संपादक : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल

परामर्श-मंडल

- डा. आर.पी.सिंह (पूर्व कुलपति, मेरठ विश्वविद्यालय) प्राचार्य बरेली कॉलेज, बरेली (उ.प्र.)
- डा. अशोक चक्रधर, पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग, जामिया विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
- डा. हरिमोहन, प्रोफेसर हिंदी विभाग, के.एम.मुंशी हिंदी विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा
- डा. हरमहेंद्रसिंह बेदी, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग, गुरु नानकदेव विश्वविद्यालय, अमृतसर
- डा. रामसजन पांडेय, प्रोफेसर हिंदी विभाग, महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक (हरियाणा)
- डा. योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण', (पूर्व प्राचार्य) 74/3 नया नेहरूनगर, रुड़की (उत्तराखंड)
- डा. मुकेश गर्ग, रीडर हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
- डा. माया टाक, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष संगीत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज.)
- डा. संतराम वैश्य, प्रोफेसर हिंदी विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराखंड)
- डा. लालबहादुर रावल, प्राचार्य, आर.एस.एम. स्नातकोत्तर महाविद्यालय, धामपुर (उ.प्र.)
- डा० मंजुलाकुमार, प्राचार्या, रानी भाग्यवती देवी महिला महाविद्यालय, बिजनौर (उ.प्र.)
- डा० हरिशरण वर्मा, 710/35 जनता कालोनी, रोहतक (हरियाणा) 124001
- डा. महेश दिवाकर, अध्यक्ष हिंदी विभाग, गुलाबसिंह कॉलेज, चाँदपुर (उ.प्र.)
- डा. निरंकार सिंह, रीडर व अध्यक्ष भूगोल विभाग, वर्धमान कॉलेज, बिजनौर (उ.प्र.)
- डा. मिथिलेश दीक्षित, अध्यक्ष हिंदी विभाग, बी.डी.एम०एम० महिला महाविद्यालय, शिकोहाबाद, उ.प्र.
- डा. महेशचंद्र, रीडर हिंदी विभाग, मेरठ कॉलेज, मेरठ (उ.प्र.)
- डा. शंकरलाल शर्मा, अध्यक्ष हिंदी विभाग, आर.एस.एम. स्नातकोत्तर महाविद्यालय, धामपुर (उ.प्र.)
- डा. आद्याप्रसाद द्विवेदी, पूर्व अध्यक्ष हिंदी विभाग, सतीशचंद्र स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बलिया
- डा. जितेंद्र वत्स, रीडर हिंदी विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया (बिहार)
- डा. शंभुनाथ तिवारी, हिंदी विभाग, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, भीलवाड़ा (राज.)
- डा. सुरेंद्र विक्रम, अध्यक्ष हिंदी विभाग, लखनऊ क्रिश्चियन कॉलेज, लखनऊ (उ.प्र.)
- डा. श्यामधर तिवारी, प्रोफेसर हिंदी विभाग, संघटक महाविद्यालय पौड़ी, गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर (उत्तरांचल)
- डा. प्रवीणकुमार वर्मा, रीडर हिंदी विभाग, सनातन धर्म कॉलेज, पलवल (हरियाणा)
- डा. उत्तरा गुप्ता, रीडर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग, रघुनाथ गर्ल्स कॉलेज, मेरठ (उ.प्र.)
- डा. उषारानी वर्मा, रीडर हिंदी विभाग, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, रुद्रपुर (उत्तराखंड)

कुछ बातें आपके साथ

‘शोध-दिशा’ का ‘शोध अंक : चार’ आपको समर्पित करते हुए हार्दिक प्रसन्नता हो रही है।

शोध के क्षेत्र में संलग्न साथी भलीभाँति जानते हैं कि शोध निरंतर चलती रहने वाली प्रक्रिया है। भारत के उन सभी विश्वविद्यालयों में प्रति वर्ष हजारों शोधार्थियों का पंजीकरण होता है, जहाँ शोधकार्य कराने की सुविधा उपलब्ध है। हम यह भी जानते हैं कि इनमें से अनेक शोध-छात्र अध्ययनशील होते हुए भी अभिव्यक्ति की क्षमता के अभाव में अपना शोधकार्य बीच में ही छोड़ देते हैं।

जैसा कि मैंने पहले भी कहा है कि स्नातकोत्तर परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद छात्रों में शोध के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न होती है। शोध-प्रविधि और शोध-प्रक्रिया का ज्ञान न होने के कारण वे इस शोधकार्य को भी परीक्षा उत्तीर्ण करने-जैसा ही मानते हैं और सोचते हैं कि इस उपाधि को भी येन-केन-प्रकारेण प्राप्त कर लिया जाय। लेकिन वास्तविकता यह है कि शोध तपस्या-जैसा कार्य है और इसमें जिज्ञासा, चिंतन, साधना और समर्पण की भरपूर आवश्यकता होती है। यदि किसी शोधार्थी में इन गुणों का अभाव है तो वह कुछ भी कर सकता है, कम-से-कम शोध जैसे गंभीर कार्य को नहीं कर सकता। ‘शोध-दिशा’ उन्हें लेखन और प्रकाशन का मंच प्रदान कर रही है।

मैं यहाँ बताना चाहता हूँ कि अनेक शोधार्थी अपने शोध-आलेख तैयार करते समय शोध-आलेख की गंभीरता को भूल जाते हैं। उचित व सही संदर्भों के अभाव में तथा अशुद्ध भाषा के प्रयोग से उनके आलेख की गरिमा कम हो जाती है।

पत्रिका के परामर्श मंडल का अपूर्व सहयोग हमें प्राप्त हो रहा है, यह हमारे लिए गौरव की बात है।

पत्रिका के शोध अंक निरंतर प्रकाशित होते रहें, इसके लिए शोध-निदेशकों, शोध-छात्रों, शोध-प्रेमियों से आग्रह है कि वे अपने शोध-आलेख निरंतर प्रेषित करते रहें। शोध-आलेख टंकित रूप में होने चाहिए। यदि शोध-आलेख में उचित संदर्भ नहीं दिए गए हैं तो उसे शोध-पत्र की मान्यता नहीं मिल पाएगी, अतः आलेख में उचित संदर्भ अवश्य दें।

डा. गिरिराजशरण अग्रवाल

संपादक

मन के गीत
रिमझिम फुहार
बने हैं मीत

पहला गीत
निकल हृदय से
बना है मीत

वेदना गीत
आह से निकलते
बढ़ाते प्रीत

गीत की बेला
न भूलो, भूलो तुम
दुनिया मेला

स्वर है गीत
बना लय प्रवाह
सबका मीत

भरदें ज्वाला
शब्द-मोती से बनें
शिक्षा की माला

डॉ० मीना अग्रवाल
16 साहित्य विहार, बिजनौर



अनुक्रम

ये प्रेमचंद का तो कफ़न नहीं है/ डॉ० कमलकिशोर गोयनका	7
हिंदी साहित्येतिहास लेखन : परंपरा, साहित्य और विचार/ डॉ० हरमहेंद्रसिंह बेदी	19
डॉ० अग्रवाल के गज़ल-साहित्य में जीवन-मूल्य/ कुमारी हेमलता देवी	28
कश्मीर में हिंदी कथा-साहित्य/ डॉ० ज़ाहिदा जबीन	49
भक्तिकाव्य : निर्गुण व सगुण भक्ति का संबंध (श्रीमद्भागवत एवं श्रीमद्भगवद्गीता के विशेष संदर्भ में)/ डॉ० ज्योति सिंह	54
महाकवि बिहारी के शृंगारिक उपमान/ ओमप्रकाश त्रिपाठी	64
संत दादूदयाल की भक्तिभावना/ शशिकांत पांडेय	70
कुमार विकल के काव्य में आए मूल प्रतिपाद्य शब्द/ सोनिया शर्मा	74
'कृष्णायन' का शिल्प एवं महत्त्व/ डॉ० शारदा शर्मा	78
अवधी लोकगीत में नारी-जीवन की अभिव्यक्ति/ श्रीमती माया शुक्ला	82
आचार्य पद्मसिंह शर्मा के पत्रों में व्यंग्य-विनोद/ डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	90
अज्ञेय : व्यक्तित्व वैशिष्ट्य और काल-चिंतन/ डॉ० पूनम चौहान	95
प्रेमचंद का हास्य-व्यंग्य लेखन/ डॉ० बालेंदुशेखर तिवारी	100
साहित्य और समाज का नाता : एक पुनर्विचार/ डॉ० बागेश्री चक्रधर	107
एक साक्षात्कार पं० अमृतलाल नागर के साथ/ डॉ० भानु रघुवंशी	112
हिंदी का वर्तमान बालकहानी-साहित्य/ संतोषसिंह एवं श्रीमती सुमन	119
निष्पक्ष कलम की धनी : डॉ० मिथिलेश दीक्षित/ नरेशचंद्र सक्सेना 'सैनिक'	125
दलित चेतना : उत्तराखंड के रचनाकार दयानंद अनंत के उपन्यास 'निशांत' के परिप्रेक्ष्य में/ सरिता दीक्षित	132
हिंदी की प्रगतिशील आलोचना : दशा और दिशा/ विद्यासागर त्रिपाठी	136
समकालीन हिंदी-कहानी में नारी की सामाजिक स्थिति/ राजेंद्रप्रसाद यादव	140
दसवें दशक के हिंदी-नाटकों में सामाजिक उच्चवर्ग की स्थिति/ डॉ० सुनीलकुमार कौशिक	145
हरियाणवी संस्कार गीत/ डॉ० हरिशरण वर्मा	151
पुनर्जागरण के पुरोध-भारतीय संस्कृति के प्राख्याता : मैथिलीशरण गुप्त/ डॉ० (श्रीमती) अनिल कुमारी	161
निराला-साहित्य में राष्ट्रीयता और इतिहास-बोध/ रामविलास यादव	167
द्विवेदीयुगीन पुनर्जागरण और श्री मैथिलीशरण गुप्त/ डॉ० अशोक उपाध्याय	174
प्रगतिवादी हिंदीकाव्य : पौराणिक एवं ऐतिहासिक संदर्भ/ श्रीमती उमा मिश्रा	184

आकाशवाणी रोहतक से प्रसारित हिंदी नाटकों में संतान के कारण उत्पन्न परिवार की समस्याएँ/ डॉ० इंदूमति	191
रसखान के काव्य में पौराणिक संदर्भ/ जया मिश्रा	200
राही मासूम रजा के 'आधा गाँव' का सामाजिक यथार्थ/ रुचि सिंह	210
सूरकाव्य में संतमत् की विशेषता/ स्वाति सिंह	216
हिंदी ग़ज़ल में दलित सवाल/ डॉ० रामगोपाल भारतीय	224
रसखान का दर्शन/ विनयकुमार पांडेय	239
जायसी की काव्यभाषा का स्वरूप/ दिनेशकुमार त्रिपाठी	243
अमृतराय के कहानी-पात्रों का मनोवैज्ञानिक पक्ष/ डॉ० गीतारानी	248
लोकमंगल की भावना : निराला-काव्य के प्रसंग में/ अजिताभनारायण मिश्र	252
दूरवर्ती शिक्षा के माध्यम से अध्यापक शिक्षा, मुद्दे एवं चुनौतियाँ/ डॉ० शिल्पी शर्मा	256
उत्तर भारतीय हिंदू-समाज पर मुस्लिम समाज का प्रभाव/ अंसार खॉं	263
साम्यवाद का पतन और वैश्वीकरण के परिप्रेक्ष्य में मार्क्सवाद-लेनिनवाद की प्रासंगिकता/ संतोष श्रीवास्तव	267
केंद्र-राज्यों के मध्य राज्यपाल की विवादास्पद भूमिका/ कांतादेवी वर्मा	271
डॉ० अंबेडकर और सामाजिक न्याय/ देवेन्द्र कुमार	276
ग्रामीण जीवन-मूल्य का अर्थ, परिभाषा, मूल्य का उद्देश्य/ चंद्रप्रकाश चक्रवर्ती	286
कुषाणों के समाज में कृषि व पशुपालन/ राकेश कुमार	293
भूमंडलीय ऊष्मीकरण/ डॉ० रश्मि गोयल	301
डॉ० राममनोहर लोहिया, एक समाजवादी चिंतक : आलोचनात्मक अध्ययन/ डॉ० मंजुला कुमार	308
भारत और नेपाल का सामाजिक संबंध/ अनिलकुमार मैहरा	312

ये प्रेमचंद का तो कफ़न नहीं है डॉ० कमलकिशोर गोयनका

‘नया ज्ञानोदय’ के नवंबर, 2006 के अंक में डॉ० बच्चनसिंह का लेख ‘यह किसका कफ़न है?’ प्रकाशित हुआ था, जिसमें उन्होंने प्रेमचंद की प्रसिद्ध कहानी ‘कफ़न’ पर डॉ० धर्मवीर की पुस्तक ‘प्रेमचंद : सामंत का मुंशी’ के संदर्भ से इस कहानी का मूल्यांकन किया है। इस लेख में उन्होंने दो कार्य किए हैं— ‘कफ़न’ के पाठ का विवेचन तथा धर्मवीर की पुस्तक की समीक्षा। मैं नहीं समझा पाया कि इसमें धर्मवीर की पुस्तक के उल्लेख की क्या आवश्यकता थी? उन्होंने इसका उल्लेख किया था तो धर्मवीर की स्थापनाओं को मूल्यांकन करते हुए अपना अभिमत प्रस्तुत करते, किंतु वे उनके कुछ विचारों को अचर्चित छोड़ देते हैं। धर्मवीर प्रेमचंद को सेक्स का चोर, चोरी से रखैल रखने तथा जार कर्म का अपराधी बताते हैं। धर्मवीर लिखते हैं कि ‘कफ़न’ की बुधिया के पेट में जमींदार के बेटे का बच्चा है और प्रेमचंद सामंत के समान रखैल रखते हैं, इसलिए वे जमींदार अर्थात् सामंत के मुंशी हैं। इस तरह वे ‘कफ़न’ कहानी के रूप में अपना ‘जमींदारनामा’ ही लिखते हैं। धर्मवीर की पूरी पुस्तक कपोल-कल्पना एवं जातिगत घृणा से लिखी गई है और जो कसौटी रखी गई है, उसका साहित्य एवं ‘कफ़न’ कहानी से दूर का भी कोई संबंध नहीं है। धर्मवीर ‘कफ़न’ कहानी में ‘चमार’ शब्द के प्रयोग से विक्षुब्ध हैं, जिसकी प्रतिक्रियास्वरूप वे प्रेमचंद के जीवन, चरित्र और विचारों को तार-तार कर देते हैं, परंतु वे यह नहीं देखते कि उन्होंने क्षत्रिय, ब्राह्मण एवं वैश्य पात्रों के चेहरों से भी नकाब उठाया है और उनकी जातिगत दुष्प्रवृत्तियों को निरावृत्त किया है। धर्मवीर ‘रंगभूमि’ के नायक सूरदास को नहीं देखते, जो चमार होकर भी उपन्यास के सभी पात्रों से श्रेष्ठतम पात्र है तथा ‘गोदान’ के उस प्रसंग को याद नहीं करते, जब सिलिया के भाई-बंद उसके प्रेमी ब्राह्मण के मुँह में हड्डी डालकर उसके ब्राह्मण धर्म की जड़ काट देते हैं। इससे पहले सिलिया का बाप हरखू झिंगुरी सिंह से कहता है, ‘तुम हमें ब्राह्मण नहीं बना सकते, मुदा हम तुम्हें चमार बना सकते हैं। हमें ब्राह्मण बना दो, हमारी सारी बिरादरी बनने को तैयार है। जब यह समर्थ नहीं है, तो फिर तुम भी चमार बनो। हमारी इज्जत लेते हो, तो अपना धर्म हमें दो।’ इस प्रसंग को पढ़कर जो दलित लेखक धर्मवीर के समान प्रेमचंद पर दलित-विरोधी होने का आरोप लगाते हैं, उनकी समझ पर क्या कहा जा सकता है? हिंदी में छुआछूत के कलंक पर इतनी गहरी चोट कोई और लेखक नहीं कर सका है।

बच्चनसिंह का लेख सैमुअल बेकेट के एक प्रसंग एवं उसके मत से आरंभ होता है तथा लेख के बीच में वे पिकासो का भी उल्लेख करते हैं, परंतु ‘कफ़न’ कहानी की मूल संवेदना को समझने के लिए इन विदेशी संदर्भों का क्या औचित्य है? बेकेट यदि कहता है तो इससे यह कैसे सिद्ध हो जाता है कि बुधिया की प्रसव-पीड़ा, चीख, कराह ही कहानी की एकमात्र वस्तु एवं एकमात्र रूप है? बुधिया की चीख एक तो मौन नहीं है, दूसरे बेकेट की

चुप्पी में चीख नहीं है तथा वह कहानी का आरंभ-मात्र है। वह कहानी का हिस्सा है, आरंभिक हिस्सा, लेकिन वह पूरी कहानी नहीं है। बुधिया की चीख उसकी मृत्यु के साथ ही बंद हो जाती है। बच्चनसिंह लिखते हैं कि 'यदि पाठक बहरा नहीं है तो कहानी की बुनावट और बिनावट में उसे सुनता रहता है, लेकिन यह सत्य नहीं है। घीसू-माधव और बुधिया गाँव में जहाँ रहते हैं, वहाँ चमारों का पूरा कुनबा रहता है, लेकिन इस कुनबे में से कोई भी बुधिया की चीख को नहीं सुनता और गाँव के दूसरे घरों-परिवारों द्वारा सुनने की तो कोई संभावना ही नहीं थी। बच्चनसिंह ने इस पर कोई मत नहीं दिया कि क्यों और कैसे बुधिया की प्रसव-चीख आस-पास के चमारों के परिवारों से अनसुनी रह गई? यह गाँव के जीवन और शहर के जीवन का भी सत्य नहीं है कि कोई स्त्री प्रसव-पीड़ा से चीख रही हो और आस-पास के लोग उसकी मदद को न आएँ। प्रेमचंद के जीवन का ही एक प्रसंग कुछ ऐसा ही है। प्रेमचंद के बड़े पुत्र श्रीपतराय का जन्म कुछ ऐसी परिस्थितियों में हुआ, जब प्रेमचंद तबादला होकर गोरखपुर पहुँचे तो पत्नी को प्रसव-पीड़ा होने लगी तो स्कूल के एक अनजान अध्यापक ने उन्हें अपने घर ठहराया और प्रेमचंद दौड़े लेने दौड़े। जब दरवाजे पर बाजे बजे तब उस मौहल्ले में शोर हुआ कि आखिर बच्चा हुआ कहाँ? अतः 'कफ़न' में यदि बुधिया की प्रसव-पीड़ा की चीख से उसे ऐसी मदद नहीं मिलती तो इसका यह अर्थ नहीं है कि उसके आस-पास का चमारों का कुनबा इतना बहरा था कि वह उसकी चीख को सुन नहीं सकता था, बल्कि सच यह है कि बुधिया की मौत कहानी की मूल संवेदना के लिए आवश्यक थी। लेखक यदि चाहता तो बुधिया को प्रसव कराने के लिए एक-दो औरतें वहाँ अवश्य ही होतीं। यदि वे वहाँ नहीं हैं, जो निश्चय ही ग्रामीण जीवन की सच्चाइयों के विपरीत है, तब भी प्रेमचंद उसकी रचना करके कहानी के मूल प्रसंग की ओर बढ़ जाते हैं, लेकिन आगे चलकर वे पड़ोसियों के मानवीय एवं सामूहिक धर्म को दो बार याद करते हैं। बुधिया के मरने पर जब घीसू-माधव जोर-जोर से रोते हैं तो प्रेमचंद पड़ोसियों को सांत्वना के लिए उपस्थित करते हैं। वे कहानी में लिखते हैं, 'पड़ोसवालों ने यह रोना-धोना सुना, तो दौड़े हुए आए और पुरानी मर्यादा के अनुसार इन अभावों को समझाने लगे।' इसी प्रकार गाँव की अन्य स्त्रियाँ भी संवेदना प्रकट करने आती हैं। लेखक लिखता है, 'गाँव की नर्म दिल वाली स्त्रियाँ आ-आकर लाश देखती थीं और उसकी बेकसी पर दो बूँद आँसू गिराकर चली जाती थीं।' इन दो वर्णनों से स्पष्ट है कि बुधिया की मौत पर पड़ोसी ही नहीं, गाँव की अन्य स्त्रियाँ भी दौड़कर आती हैं और अपनी संवेदना प्रकट करती हैं। घीसू-माधव का चमारों का कुनबा और गाँव का समाज अभी जड़ीभूत संवेदनहीनता से ग्रसित नहीं है। इसका एक प्रमाण और यह है कि ज़मींदार के अलावा गाँव के बनिए-महाजन तथा अन्य लोग कफ़न के लिए पैसे देते हैं और घीसू-माधव के पास पाँच रुपये की अच्छी रक़म जमा हो जाती है। गाँव के जो लोग पैसे नहीं दे पाते, वे नाज और लकड़ी देते हैं और प्रेमचंद आज के समीक्षकों को यह बता देते हैं कि गाँव में अभी मनुष्यता, भाई-चारा और पारिवारिकता ज़िंदा है। गाँव के लोग और पास-पड़ोसी घीसू-माधव का रोना-धोना तो सुनते हैं, लेकिन वे बुधिया की प्रसव-पीड़ा और चीख को इसलिए नहीं सुन पाते कि वे बेहरे हैं, बल्कि इसलिए कि लेखक के लिए कहानी की ऐसी ही रचना आवश्यक है। कहानी में एक बात और है, जिसकी ओर ध्यान जाना चाहिए। बुधिया बीमार न थी और न उसे दवा-दारु की आवश्यकता थी जैसा कि घीसू गाँव के

जमींदार से कहता है। बुधिया की बीमारी प्रसव की थी और स्वाभाविक है कि बुधिया को मालूम होगा कि उसका प्रसव कभी भी हो सकता है। अतः उसे ही दाई आदि की व्यवस्था के प्रति चिंतित होना चाहिए था और अपनी पड़ोसिनों से बात करके रखनी चाहिए थी।

‘गोदान’ में भी एक बुधिया है, जिसका नाम झुनिया है। गोबर उसका पति है और वह पति के साथ शहर में रहती है। बुधिया के समान झुनिया भी गर्भवती है और उसे बच्चा होने वाला है, लेकिन वह भी अपने पति गोबर की उपेक्षा की शिकार है। गोबर को पत्नी की प्रसव की कोई चिंता नहीं है और जिस रात को बच्चा होता है, वह शराब पीकर आता है और खिचड़ी खाकर टाँग पसारकर सो जाता है, परंतु यहाँ झुनिया नहीं मरती है। उसकी पड़ोसिन चूहिया उसे देखकर समझ जाती है कि आज-कल में बच्चा होगा तो वह उससे दाई-वाई ठीक करने के बारे में पूछती है तो वह किसी दाई को न जानने और पति की उपेक्षा की बात कहती है। रात को गोबर का नशा उतरता है तो पत्नी का प्रसव निकट देखकर घबराता है कि वह कहाँ दाई को खोजे तथा दो-चार रुपये भी उसके पास नहीं हैं। इसी समय झुनिया की प्रसव-पीड़ा सुनकर वही पड़ोसिन चूहिया आती है और गोबर से तुरंत दाई बुलाकर लाने को कहती है, परंतु गोबर दाई का घर नहीं जानता तो चूहिया उससे कहती है, ‘यही कहते हैं, अनाड़ी आदमी किसी काम का नहीं। पूरा पेट और दाई की खबर नहीं।’ चूहिया अंत में स्वयं दाई बनती है और झुनिया का प्रसव कराती है और बच्चे के पैदा होने के बाद अपनी छाती का दूध पिलाकर उसे जीवित रखती है। प्रेमचंद चाहते तो ‘कफ़न’ की बुधिया के लिए भी आस-पास के परिवारों में से किसी चूहिया को प्रसव कराने के लिए उपस्थित कर देते, परंतु कहानी की रचना ही ऐसी थी कि जिसमें बुधिया को मरना था, जिससे कफ़न के लिए धन-संग्रह हो और फिर उस पैसे से मनपसंद भोजन खाया जाए और शराब पी जाए और जीवन की विसंगति और धर्म की विडंबना को निरावृत्त किया जा सके।

बच्चनसिंह ने आगे लिखा है, ‘प्रेमचंद धीरे-धीरे अपने को बदल रहे हैं। ‘कफ़न’ में तो भाषा बदली हुई है। मुहावरे बदले हुए हैं। थीम भी एकदम भिन्न है—न सुधारवादी न आश्रमवादी। एक शोषित तबके का ‘डी-ह्यूमनाइज़्ड’ ठाठ।’ यह तो सर्वविदित तथ्य है कि कथ्य (थीम) के अनुसार भाषा, मुहावरे सब बदल जाते हैं और यदि प्रेमचंद की कहानियों में ऐसा होता है तो इसमें अनोखी क्या बात है? उनकी ऐतिहासिक, शहरी तथा ग्रामीण जीवन की कहानियों की भाषा-संरचना भिन्न-भिन्न होगी ही, लेकिन बच्चनसिंह का अभिप्रेत यह है कि प्रेमचंद ने स्वयं को बदला है अपनी संवेदना और चिंतन में तथा इसका प्रमाण यह है कि ‘कफ़न’ कहानी में सुधारवादी एवं आश्रमवादी प्रेमचंद नहीं है। बच्चनसिंह की यह स्थापना कोई नई नहीं है। हिंदी के मार्क्सवादी समीक्षक तो यह वर्षों से कहते आए हैं कि प्रेमचंद की सुधारवादी एवं आश्रमवादी साहित्यिक दृष्टि अविकसित मानसिकता की उपज है लेकिन वे ‘कफ़न’ कहानी में इससे मुक्त होकर कहानी हो ‘डी-ह्यूमनाइज़्ड’ की ऊँचाइयों तक पहुँचाकर कला-शिखर का स्पर्श करते हैं। राजेंद्र यादव ने सन् 1978 में अपनी पुस्तक ‘प्रेमचंद की विरासत’ में लिखा था कि प्रेमचंद हृदय-परिवर्तन का गांधीवादी आदर्शवाद छोड़कर ‘कफ़न’ कहानी में हृदय-स्तब्धता या विजडित संवेदना के बिंदु पर साँस तोड़ते हैं। राजेंद्र यादव ने इसे ही ‘डी-ह्यूमनाइज़्ड’ (अमानवीकरण) कहा है। बच्चनसिंह ने भी ‘दस्तावेज़’ (प्रेमचंद विशेषांक,

अंक 7-8) में लगभग 25 वर्ष पूर्व 'कफ़न' कहानी की संवेदनहीनता (डी-ह्यूमनाइज़्ड) की व्याख्या के साथ, 'आधुनिक बोध की पहली कहानी' कहा था। कहानी की यह कसौटी प्रेमचंद की नहीं है और न उनके युग की ही है। कहानी में (और साहित्य में भी) पात्रों को अमानवीय बनाने की यह कसौटी, जिसे आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'कफ़न' कहानी को 'अमानुषीय' कहा था, उन लेखकों एवं समीक्षकों की है, जो स्वयं अपने जीवन में अमानवीयता से दूर रहना चाहते हैं और कहानी के पाठक से यह आशा करते हैं कि वह सहृदय हो, मानवीय भावनाओं से ओत-प्रोत हो और वह 'कफ़न' में घीसू-माधव की जड़ मानवीयता या संवेदनहीनता के साथ तादात्म्य स्थापित करें। यदि आधुनिकता का अर्थ संवेदनहीनता और अमानवीयता है तो उसे आधुनिक कहकर गौरवान्वित क्यों किया जाए? यह बात बच्चनसिंह, राजेंद्र यादव से छिपी नहीं है कि प्रेमचंद की आधुनिकता में मनुष्यत्व लुप्त नहीं हुआ था। प्रेमचंद तो अपनी रचनाओं में तथा अंतिम रचनाओं में भी घोर अमानवीयता के चित्रण के बावजूद मनुष्यत्व एवं उसके उदात्त भावों से पूरी ताकत के साथ जुड़े रहते हैं। यदि 'कफ़न' का ही उदाहरण लें तो स्वयं बच्चनसिंह मानते हैं कि मनुष्य कितना भी डी-ह्यूमनाइज़्ड हो जाए, कहीं-न-कहीं एक अदद इंसानियत बची रहती है। उनका यह मत तब है जब वे 'कफ़न' कहानी को अमानवीकरण की कहानी कहते हैं। बच्चनसिंह ने अपने लेख में इस इंसानियत की विस्तार से चर्चा नहीं की, किंतु 'कफ़न' में कई ऐसे प्रसंग हैं जिन्हें देखकर स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्रेमचंद ने घीसू-माधव, बुधिया आदि पात्रों में मनुष्यत्व को मरने नहीं दिया है। सबसे पहले बुधिया को लें। बुधिया विवाहोपरांत घीसू-माधव के घर को व्यवस्थित करती है, उनका दोजख भरती है और पैसा कमाकर लाने के लिए भी उन पर दबाव नहीं डालती। यह उसके संवेदनशील स्त्री होने का प्रमाण है, यद्यपि इस सद्व्यवहार के बावजूद वह छली जाती है और उसका पति एवं ससुर उसे मरने देते हैं। इस प्रकार बुधिया एक सुपत्नी, सुपुत्र-वधू और सुगृहिणी है तथा उसमें मानवीयता के गुण हैं। चमारों के कुनबों और ग्रामीण स्त्रियों की संवेदनशीलता की चर्चा भी छे हो चुकी है। घीसू और माधव में भी संवेदनशीलता और मनुष्यत्व मरा नहीं है। कहानी के आरंभ में ही घीसू बेटे माधव से झोंपड़े के अंदर जाकर बहू को देखने के लिए कहता है। माधव मना करता है तो घीसू उसकी संवेदनशीलता को ललकारते हुए कहता है, 'तू बड़ा बेदर्द है। साल-भर जिसके साथ सुख-चैन से रहा, उसी के साथ इतनी बेवफाई।' स्पष्ट है, घीसू बेटे की बेदर्दी पसंद नहीं करता है और चाहता है कि बेटा अपनी पत्नी से इस कष्ट में भावात्मक रूप से जुड़े, उसे सांत्वना दे और कष्ट-निवारण करे, क्योंकि वही उसके सुख-दुख का साथी है। माधव भी संवेदना-शून्य नहीं है और वह बाप से कहता है कि वह उसका तड़पना और हाथ-पाँव पटकना नहीं देख सकता। इसमें माधव की भाव-शून्यता अथवा संवेदनहीनता देखना उचित नहीं है, क्योंकि प्रत्येक समाज में ऐसे लोग होते हैं, जो अपने दुर्बल भावावेश के कारण ऐसे दृश्यों को देखने से बचते हैं लेकिन यह आवश्यक अवश्य है कि वह अपनी गर्भवती पत्नी को बचाने तथा उसके प्रसव की व्यवस्था करने का उद्योग क्यों नहीं करता है? 'गोदान' में गोबर भी झुनिया के प्रसव-काल के प्रति असावधान है, लेकिन नशा उतरते ही वह पत्नी के प्रति संवेदनशील हो उठता है और माधव के समान पत्नी के मरने की प्रतीक्षा नहीं करता। माधव जानता है कि विवाह के बाद बुधिया ने उसे सुख-चैन सब दिया है, घर की व्यवस्था की है

और उसका पेट भरा है और वह उसकी ही संतान को जन्म देने लिए तड़प रही है। वह कहता भी है कि बाल-बच्चा होने पर क्या होगा, क्योंकि घर में सोंठ, गुड़, तेल कुछ भी नहीं है। अतः माधव अपनी पत्नी बुधिया को देखने झोंपड़ी में केवल इसलिए नहीं जाता कि उसे भय है कि उसका बाप घीसू आलू का बड़ा भाग खा जाएगा, बल्कि उसमें साहस और कर्मशीलता नहीं है और वह पत्नी के प्रति गोबर की ही तरह लापरवाह है और अपने दायित्व से बचता है।

माधव की संवेदनशीलता की कुछ स्थितियाँ 'कफ़न' में और भी हैं। बुधिया के मरने के बाद वह हाय-हाय करके छाती पीटते हुए जोर-जोर से रोता है। क्या यह माना जाए कि यह नाटक था, वास्तविक रोना नहीं था? माधव कफ़न के पैसों से बाप के साथ शराब पीकर कहानी के अंत में एक बार फिर चीखें मार-मारकर रोता है और 'दुख और निवारण' में घीसू से कहता है कि बुधिया ने ज़िंदगी में बड़ा दुख भोगा। वह कितना दुख झेलकर मरी। माधव का पत्नी के लिए यह रोना उसके संवेदनशील होने का प्रमाण है और इसका भी कि वह बुधिया की दुख-भरी मौत से अंदर से आहत है। कहानी में माधव की संवेदनशीलता और मनुष्यता भिखारी को बचा हुआ भोजन देने में भी है। लेखक लिखता है, 'भरपेट खाकर माधव ने बची हुई पूड़ियों का पत्तल उठाकर एक भिखारी को दे दिया, जो खड़ा इनकी ओर भूखी आँखों से देख रहा था और देने के गौरव, आनंद और उल्लास का अपने जीवन में पहली बार अनुभव किया।' माधव का यह व्यवहार उसमें मनुष्यत्व के जीवित होने का प्रमाण है। उसकी यह गौरव, आनंद और उल्लास की अनुभूति क्या उसकी जड़ संवेदनशीलता अथवा हृदयस्तब्धता अथवा विजडित संवेदना का उदाहरण माना जाए? कहानी में घीसू और माधव कफ़न के पैसों से शराब पीकर एक नितांत अमानवीय व्यवहार करते हैं और वे निकृष्टतम पात्र बनते हैं, परंतु लेखक अपने इन पात्रों में, विशेष रूप से माधव में, मनुष्य की संवेदनशीलता और दूसरों के प्रति सद्भाव को मरने ही नहीं देते बल्कि उसमें जीवन के वास्तविक आनंद और उल्लास की अनुभूति कराकर जीवन का सकारात्मक चित्र भी प्रस्तुत करते हैं। 'रंगभूमि' उपन्यास (1925) में उसका नायक सूरदास पूर्णतः पराजित होता है, किंतु लेखक उसे अंत में उपन्यास का सर्वश्रेष्ठ पात्र बनाकर प्रस्तुत करता है। 'गोदान' का होरीराम भी जीवन-पर्यंत अभाव, अपमान, अत्याचार और शोषण का शिकार बनता है। वह हर क्षेत्र में जीवन की लड़ाई हारता है, परंतु अंतिम समय लेखक उसके भागे हुए भाई हीरा को उससे मिलाकर विजय का आनंद प्रदान करता है। 'कफ़न' कहानी में माधव के इस व्यवहार के बाद घीसू भी उस भिखारी से सहज सद्भाव से कहता है, 'ले जा, खूब खा और आशीर्वाद दे।' वह अपने साथ भिखारी को भी बुधिया के प्रति कृतज्ञ बनाना चाहता है, जिसके कारण उसके (उनके) जीवन की सबसे बड़ी लालसा पूरी होती है। स्पष्ट है, जीवन में कुछ देने का आनंद तथा दूसरों के प्रति कृतज्ञता का भाव क्या मानवीय जड़ता और संवेदनशीलता के समाप्त होने के उदाहरण हैं? यहाँ तक कि घीसू और माधव भी, जो आरंभ में बुधिया को मरने देते हैं, मदिरा-पान के उपरांत उसी बुधिया के प्रति कृतज्ञता-भाव रखते हैं, जिसने मरते-मरते भी उनकी ज़िंदगी की सबसे बड़ी लालसा पूरी कर दी।

'कफ़न' कहानी में घोर अमानवीयता की चर्चा खूब हुई है, परंतु कहानी में प्रस्तुत ऐसे प्रसंगों और घटनाओं की चर्चा और मूल्यांकन नहीं हुआ। 'कफ़न' कहानी में ऐसे कुछ प्रसंग हैं—घीसू-माधव का बुधिया को प्रसव-पीड़ा में मरने देना और बाहर बैठकर आलू खाना, कफ़न के लिए एकत्र पैसों से मदिरालय जाकर शराब पीना और भोजन करना तथा शराब के नशों में,

बुधिया की मृत्यु के दर्द को भूलकर नाचना और गाना। इनमें दूसरा प्रसंग महत्वपूर्ण है, जिसकी ओर बच्चनसिंह, राजेंद्र यादव और अन्य किसी आलोचक का ध्यान नहीं गया है। प्रश्न यह है कि घीसू-माधव तो एकत्रित पैसों से बुधिया के लिए कफ़न लेने जाते हैं, लेकिन वे पहुँच जाते हैं एक मधुशाला पर, जिसका कोई तर्कसंगत कारण लेखक नहीं दे पाया है। इससे पूर्व वे बुधिया के चीखते-चिल्लाते समय ठाकुर की बारात में खाए गए भोज पर बातचीत करते हैं तो माधव कहता है, 'अब हमें कोई ऐसा भोज नहीं खिलता।' घीसू इस भोज को याद करके जैसे आत्म-तृप्ति पाता है और माधव भोज्य-पदार्थों की संख्या और स्वाद आदि को सुनकर उनकी लालसा करने लगता है। यह एक प्रकार से कफ़न के पैसों से शराब पीने और सुस्वादिष्ट भोजन करने की आगामी घटना की पृष्ठभूमि के रूप में निर्मित की गई है, परंतु इसमें शराब की लालसा का कोई भाव नहीं है। प्रेमचंद की यह मान्यता है कि चरित्र और घटना का आधार मनोवैज्ञानिक होना चाहिए, किंतु घीसू-माधव के मधुशाला जाने का कारण वे 'दैवी प्रेरणा से एक मधुशाला के सामने आ पहुँचे और जैसे किसी पूर्व-निश्चित व्यवस्था के अंदर चले गए। वहाँ जरा देर तक दोनों असमंजस में खड़े रहे।' बच्चनसिंह यहाँ इस 'दैवी प्रेरणा' के औचित्य-अनौचित्य की चिंता नहीं करते और इसमें आज के बाजारवाद को देखकर कहानी के पाठ की उपेक्षा करते हैं। प्रेमचंद का अभिप्राय यह है कि कोई देवी प्रेरणा किसी पूर्व निश्चित व्यवस्था के अनुसार इन दोनों को मधुशाला में भेज देती है, लेकिन यह किसी चरित्र के पूर्णतः नए परिदृश्य में जाने अथवा एकदम अकल्पनीय व्यवहार का सबसे कमजोर तर्क है। कोई भी प्रबुद्ध पाठक इस तर्क को स्वीकार नहीं करेगा कि कोई देवी शक्ति उन्हें मधुशाला तक पहुँचा देती है और यह भी कि यह पहले से ही निश्चित था कि उन्हें वही पहुँचना है। यहाँ यह आवश्यक था कि प्रेमचंद या तो उनके मधुशाला जाने का कोई कारण या औचित्य का उल्लेख करते या उनके अचेतन मन के रहस्यों और उसमें छिपी शराब की लालसा का संकेत करते। घीसू शराब पीने के बाद उल्लास की लहरों में तैरता कहता है, 'मरते-मरते हमारी जिंदगी की सबसे बड़ी लालसा पूरी कर गई।' घीसू की यह आत्मस्वीकृति बताती है कि भूख उसकी आवश्यकता थी, लालसा नहीं। उसकी लालसा थी ठाकुर के यहाँ किया गया स्वादिष्ट भोजन और अचेतन में दबी शराब की लालसा। इसमें शराब पीने की लालसा ही 'सबसे बड़ी लालसा' थी और वह अचेतन मन में इतने गहरे दबी हुई थी कि लेखक भी उसका कोई संकेत नहीं दे पाया, लेकिन घीसू यह संकेत कर देता है कि शराब पीकर आनंद करना ही उसकी 'सबसे बड़ी लालसा' थी। घीसू ठाकुर की बारात में खाई दावत को याद करता है, क्योंकि उसमें स्वादिष्ट एवं भरपेट भोजन की उसकी लालसा तृप्त हुई थी, लेकिन शराब पीकर आनंदानुभूति की उसकी 'सबसे बड़ी लालसा' उसके अचेतन मन में कही-न-कही दबी हुई थी। उसके हाथ में कफ़न के पैसे आते ही जैसे यह लालसा अंतर्मन में फखफड़ाने लगी हो और वह अदृश्य दैवी शक्ति बनकर उसे मधुशाला तक ले जाती हो। ठाकुर की दावत में उसे इस लालसा की संतुष्टि का अवसर नहीं मिला था। वहाँ उसे शराब न मिली थी। अतः पैसों के हाथ में आते ही वह शराब की बड़ी लालसा को तृप्त करता है, उसे उल्लास की अनुभूति होती है और मदिरा के इस आनंद में पाप-पुण्य और वैकुंठ की परिभाषाएँ बदल जाती हैं।

बच्चनसिंह ने अपने लेख में कुछ तथ्यात्मक भूलें भी की हैं। उनका कथन है कि

प्रेमचंद का अंतिम उपन्यास और कहानी अर्थात् 'गोदान' और 'कफ़न' दोनों पहले उर्दू में लिखे गए थे, परंतु 'गोदान' के संबंध में यह सच नहीं है। 'गोदान' पहले हिंदी में लिखा गया था और उसके हिंदी में लिखे दो मूल ड्राफ्ट कला भवन, वाराणसी में सुरक्षित हैं, जिनकी फोटो प्रति मेरे पास है। इसके साथ 'कफ़न' को अंतिम कहानी कहना भी ग़लत है। 'कफ़न' सर्वप्रथम उर्दू में 'जामिया' उर्दू पत्रिका के दिसंबर, 1935 के अंक में छपी थी। इसके उपरांत प्रेमचंद की निम्न दस कहानियाँ प्रकाशित हुई हैं— 'मिस पद्मा', 'मोटर के छींटे', 'होली की छुट्टी', 'दो बहनें', 'रहस्य', 'कश्मीरी सेब', 'जुरमाना', 'यह भी नशा वह भी नशा', 'क्रिकेट मैच' और अंतिम शांति। अतः हिंदी के आलोचकों को 'कफ़न' कहानी को लेखक की अंतिम कहानी कहने और उसे ऐसा मानकर विवेचना करने की भूल सुधार लेनी चाहिए। बच्चनसिंह ने इसी लेख में एक अन्य स्थान पर लिखा है कि 'कफ़न' उनकी अंतिम कहानी है— 'सड़ा सेव' को छोड़कर, परंतु कहानी 'सड़ा सेव' नहीं बल्कि 'कश्मीरी सेव' है और वह 'कफ़न' के बाद छपनेवाली छठी कहानी है। बच्चनसिंह ने प्रेमचंद के 1 सितंबर, 1915 के एक पत्र के संदर्भ से यह स्थापित किया है कि प्रेमचंद को उनके जीवन-काल में न उर्दू वालों ने महत्त्व दिया और न हिंदी वालों ने, लेकिन मरणोपरांत दोनों भाषाओं के लेखकों ने अभूतपूर्व सम्मान दिया। यह भी एक ऐसा मिथ है जो वर्षों से चल रहा है, लेकिन हिंदी के प्रसिद्ध एवं प्रतिष्ठित आलोचकों ने इसके सत्यासत्य को परखने का न तो प्रयत्न किया और न उपलब्ध सामग्री को ही देखा। बच्चनसिंह प्रेमचंद के सितंबर, 1915 में लिखे एक पत्र के हवाले से उर्दू के साथ हिंदी वालों पर भी आरोप लगाते हैं जबकि इस पत्र में प्रेमचंद केवल उर्दू वालों की उपेक्षा की शिकायत करते हैं। इस पत्र के लिखने तक प्रेमचंद की केवल एक कहानी 'प्रतिज्ञा' (1914) ही छपी थी और दूसरी कहानी 'सौत' थी जो 'सरस्वती' के दिसंबर, 1915 में प्रकाशित हुई थी। अतः सन् 1915 के पत्र संदर्भ में बच्चनसिंह का निष्कर्ष एकदम ग़लत है। प्रेमचंद का पहला कहानी संग्रह 'सप्त-सरोज' सन् 1917 में छपा था और उनकी तुलना रवींद्रनाथ टैगोर से की गई थी। इसके बाद लिखे गए उनके पत्रों को ही देख लिया जाए तो स्पष्ट हो जाएगा कि हिंदी संसार ने उन्हें हृदय से ही नहीं लगाया बल्कि 'कहानी सम्राट' और 'उपन्यास सम्राट' के पदों पर आसीन किया। ऐसा भी नहीं है कि उन्हें उर्दू में ख्याति नहीं मिली, पर यह भी सही है कि वे उर्दू की सांप्रदायिकता के शिकार हुए। वे इससे दुखी भी थे, परंतु वे अंत तक उर्दू से जुड़े रहे। अफ़सोस है, डॉ॰ बच्चनसिंह जैसा प्रतिष्ठित आलोचक तथ्यों की उपेक्षा करता है और उन्हें देखे बिना ही निष्कर्ष निकाल देता है।

बच्चनसिंह ने अपने लेख में एक बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया है कि यह किसका कफ़न है? वे इसके कई विकल्प देते हैं— 'यह स्वयं प्रेमचंद का कफ़न है? इसी वर्ष उनकी मृत्यु हो जाती है कि उनके पूर्व आदर्शों, मान्यताओं, विश्वासों, आस्थाओं का कफ़न है? या बुधिया और शोषक-व्यवस्था का? एक-न-एक दिन तो इस व्यवस्था को भी मरना ही है। प्रेमचंद ने कफ़न तैयार कर रखा है।' बच्चनसिंह ने 'दस्तावेज़' के अंक 7-8 (अप्रैल-जुलाई, 1980) में 'कफ़न' कहानी की चर्चा में यही लिखा था कि यह प्रेमचंद के जीवन का ही कफ़न नहीं सिद्ध हुई। यदि वे और जीते रहते तो और भी झूठे मूल्यों का कफ़न ओढ़ना पड़ता।' असल में प्रेमचंद की मृत्यु के साथ 'कफ़न' कहानी को जोड़ देने से बहुत ही अवैज्ञानिक

निष्कर्ष निकाले गए हैं। कुछ आलोचकों ने तो यहाँ तक लिख दिया है कि प्रेमचंद के देहांत पर उनके यहाँ कफ़न के लिए पैसे भी न थे जो एकदम झूठ है। प्रेमचंद के देहांत पर उनके पास लगभग पाँच हजार रुपए बैंक में थे, दो बीमा की पॉलिसी थीं और हजारों रुपयों का पुस्तकों का भंडार था तथा सरस्वती प्रेस थी। प्रेमचंद को 'कफ़न' कहानी लिखते समय क्या यह मालूम था कि उनकी मृत्यु एकदम निकट है? प्रेमचंद की मौत की छवि बुधिया की मौत में देखना और दोनों मौत में एकरूपता देखना दोनों ही भ्रामक कल्पनाएँ हैं। बुधिया के कफ़न का कोई संबंध प्रेमचंद के कफ़न से नहीं है। यह पूर्णतः भ्रामक एवं निराधार कल्पना है। इसी प्रकार 'कफ़न' को प्रेमचंद के पूर्व आदर्शों, मान्यताओं, विश्वासों, आस्थाओं का कफ़न कहने का भी कोई औचित्य तथा तर्कसंगत आधार नहीं है। यह एकदम अविश्वसनीय है कि एक कहानी लेखक की लगभग 290 कहानियों, 14 उपन्यासों, 3 नाटकों तथा सैकड़ों पृष्ठों के लेखों में व्याप्त आदर्शों, मान्यताओं, विश्वासों एवं आस्थाओं को नष्ट कर दे। विश्व का कोई भी ऐसा लेखक नहीं है, जिसने अपनी लगभग 30 वर्षों की साहित्य-साधना के आदर्शों तथा आस्थाओं को कब्र में ऐसे दफ़न कर दिया हो जैसाकि बच्चनसिंह तथा कुछ दूसरे आलोचक कहते हैं। बच्चनसिंह से आशा थी कि वे 'कफ़न' पर अपने इस दूसरे लेख में प्रेमचंद के उन आदर्शों, मान्यताओं, विश्वासों तथा आस्थाओं की विस्तृत चर्चा करते, जिन्हें प्रेमचंद ने सचेत रूप से 'कफ़न' कहानी लिखकर ध्वस्त किया है, किंतु अफ़सोसजनक है कि वे पाठक को अंधेरे में छोड़ देते हैं। इस संबंध में यह मान्यता प्रचलित की गई कि प्रेमचंद ने अपने आश्रमवादी तथा हृदय-परिवर्तनवादी आदर्शों एवं विश्वासों को तिलांजलि दे दी। यह मत भी तथ्यों पर आधारित नहीं है। प्रेमचंद के चौदह उपन्यासों में से केवल दो उपन्यासों— 'सेवासदन' एवं 'प्रेमाश्रम' में सदन तथा आश्रम की स्थापना से समस्या का समाधान किया गया है, जबकि इनमें भी जीवन का कठोर यथार्थ आद्योपांत विद्यमान है। 'रंगभूमि' उपन्यास में सूरदास की मौत, 'निर्मला' उपन्यास में निर्मला की त्रासदी तथा 'गोदान' में किसान होरीराम के मजदूर के रूप में मरने में न तो कोई आश्रमवादी आदर्श है और हृदय-परिवर्तन का कोई समाधान है। कहानियों में भी आरंभ से ही आदर्शों की अपेक्षा यथार्थ जीवन का पलड़ा ही भारी रहा है, लेकिन उनका यह विश्वास कि पतित एवं दुष्ट पात्रों में भी एक अच्छे मनुष्य के गुण होते हैं, अंत तक बना रहता है। 'गोदान' का होरीराम अपने भाई के कारण अनेक विपत्तियाँ झेलता है, किंतु वह होरी की मौत के समय आकर और होरी के पैरों में गिरकर होरी को जो विजय का उल्लास देता है, वह इसी मनुष्यता की विजय है। 'कफ़न' कहानी में भी यही मनुष्यता अपनी झलक दिखाकर लेखक के विश्वास को और भी मजबूत करती है। माधव भरपेट खाने के बाद बची हुई पूड़ियों की पत्तल सामने खड़े एक भूखे भिखारी को दे देता है और लेखक के अनुसार वह जीवन में पहली बार देने के 'गौरव, आनंद और उल्लास' का अनुभव करता है। कहानी में इस प्रसंग की यही सार्थकता है कि प्रेमचंद अपने इन गिरे-दबे चरित्रों में मनुष्यता को जीवित रखें और उनके अंदर गहरे दबे उच्च मनोभाव को प्रकाशित करें। प्रेमचंद दिखाना चाहते हैं कि कफ़न के पैसों से शराब पीने वाले लोग भी अपने जैसे भूखे भिखारी के प्रति संवेदनशील हो सकते हैं और शेष बचे भोजन को देकर आनंद का अनुभव कर सकते हैं। माधव का पत्नी के प्रति पश्चाताप का भाव तथा उसके दुख के प्रति संवेदनशीलता एवं उसके वैकुण्ठ जाने की कामना में भी उसका सद्भाव ही क्रियाशील है। इसे

कोई प्रेमचंद का आदर्श कहे, या विश्वास अथवा आस्था, वे इसे 'कफ़न' कहानी में भी मरने नहीं देते हैं। अतः कहानी को लेखक के आदर्शों एवं विश्वासों का कफ़न कहने का भी कोई औचित्य नहीं है।

असल में कहानी का ताना-बाना तथा उसका मूलाधार हिंदू समाज की सामाजिक परंपराओं तथा धार्मिक एवं आध्यात्मिक विश्वासों की विसंगतियों, विद्रूपताओं और अमानवीयता पर आधारित है, जिसे समझ बिना कहानी की आत्मा को नहीं समझा जा सकता। 'कफ़न' कहानी का शिल्प दो रूपों में बँटा है— एक रूप तो वह है, जिसमें बुधिया का चीखना, उसकी मौत, घीसू-माधव का आलू खाना, बुधिया को मरने देना, कफ़न के लिए बाप-बेटे द्वारा पैसे माँगना, कफ़न के लिए बाज़ार जाना और मदिरालय पहुँचना, शराब पीना और भोजन करना तथा नाचते-गाते हुए गिरना आदि प्रसंग हैं, जो कहानी का ढाँचा बनाते हैं, परंतु कहानी का जो दूसरा रूप है—जो समाज, धर्म एवं आध्यात्म की परंपराओं एवं विश्वासों पर आधारित है, वह कहानी के विचार पक्ष को प्रस्तुत करता है, जो अपनी विसंगति और विडंबनाओं में बार-बार संवाद करता है। इसका वैशिष्ट्य यह है कि यह अंश पूरा संवादात्मक है जो घीसू और माधव के बीच होता है। कहानी का तीसरा परिच्छेद इन्हीं के संवादों को प्रस्तुत करता है जो कहानी के विचार पक्ष को सामने लाता है। इस परिच्छेद के आरंभ में ही घीसू मरनेवाले को नया कफ़न देने के धार्मिक एवं सामाजिक विश्वास को चुनौती देते हुए कहता है, 'कैसा बुरा रिवाज़ है कि जिसे जीते जी तन ढाँकने को चीथड़ा भी न मिले, उसे मरने पर नया कफ़न चाहिए।' यह वाक्या निश्चय ही बुधिया से संबंधित नहीं है, क्योंकि वह आकर घर को व्यवस्था देती है तो स्वयं भी चीथड़ों में लिपटी न रहती होगी। यह एक सामान्य कथन है और सामाजिक व्यवस्था की विसंगति पर गहरा व्यंग्य है, लेकिन घीसू इसका उपयोग मधुशाला में जाने के तर्क के रूप में करता है कि जब मनुष्य को जीवितावस्था में चीथड़ा तक नसीब नहीं होता तो मरने के बाद उसे नया कफ़न क्यों मिलना चाहिए और जो 'रिवाज़' ऐसा करने को विवश करता है उसे क्यों माना जाए? कहानी में यह पहला बौद्धिक हस्तक्षेप है, जो घीसू से अधिक लेखक की ओर अधिक इशारा करता है तथा जिसमें अर्थों की कई परतें हैं। लेखक अपने पात्र के मुख से अपनी बात कहता है कि यह समाज तथा उसे व्यवस्था देनेवाला धर्म कैसा है, जो जीवन से अधिक मृत्यु को सम्मान देता है। जब मृत शरीर को कफ़न के रूप में नया वस्त्र देना ज़रूरी है तो उस व्यक्ति के जीवन-काल में ऐसी व्यवस्था क्यों नहीं होनी चाहिए? जीवन का महत्त्व एवं सम्मान मृत्यु से कम क्यों हो? इस प्रकार लेखक व्यक्ति और समाज के सार्थक संबंधों पर सोचने के लिए विवश करता है। यद्यपि यह सवाल घीसू उठाता है जो स्वयं समाज के लिए निरर्थक हो गया है और उसने बेटे को भी अपना जैसा बना लिया है। लेखक ने लिखा भी है कि दोनों को न जवाबदेही का खौफ़ था, न बदनामी का फ़िक्र। इन सब भावनाओं को उन्होंने बहुत ही पहले ही जीत लिया था। वास्तव में इन दोनों ने परिवार और समाज सभी के प्रति अपने उत्तरदायित्व और जवाबदेही से स्वयं को मुक्त कर लिया था। अतः ऐसे निरर्थक पात्र समाज के दायित्वों को प्रश्न उठाए तो इसका यही अर्थ होगा कि वे आत्म-रक्षा एवं अपने कुकर्म को तर्क का आधार देने की चेष्टा कर रहे हैं। इसलिए पाठक घीसू की बौद्धिक क्षमता तथा उसके निरर्थक बोध को ध्यान में रखकर इस वाक्य में लेखक की ही आवाज़ पाता है और अपने अंतर्मन में संवाद करता

है।

घीसू-माधव में शराब पीने और भोजन करने बाद फिर संवाद होता है, जो लेखक के अनुसार, 'श्रद्धालुता' के रंग और 'आध्यात्मिक भाव' के साथ होता है। माधव में कहीं-न-कहीं अपराध-बोध है तभी लेखक के अनुसार वह 'देवताओं को अपनी निष्पापता का साक्षी?' बनाता है और घीसू भी 'दार्शनिक भाव' से शराब और भोजन से 'आत्मा' की प्रसन्नता और बुधिया को 'पुन्न' मिलने की बात कहता है। इन दोनों के वार्तालाप में 'परलोक', आत्मा, पुण्य (पुन्न), भगवान, वैकुण्ठ, माया-जाल आदि शब्द कहानी में एक प्रकार का धार्मिक तथा आध्यात्मिक वातावरण उत्पन्न करते हैं। यह एक विडंबना ही है कि जो घीसू-माधव शव के अंतिम संस्कार की धार्मिक एवं सामाजिक व्यवस्था को तोड़कर कफन के पैसों से शराब पीते हैं वे ही परंपरागत धार्मिक विश्वासों के अनुरूप बुधिया को वैकुण्ठ देने की ईश्वर से प्रार्थना करते हैं। कहानी में घीसू-माधव का चरित्रांकन तथा आरंभिक घटनावली से ऐसा कोई संकेत नहीं है कि ये दोनों आत्मा, स्वर्ग, पुण्य-पाप, वैकुण्ठ की व्यवस्था करनेवाले धर्म के प्रति आस्थावान होंगे। एक प्रकार से उनके कार्य धर्म-विरोधी, पाप-पुण्य विरोधी, आत्मा विरोधी और मानव-विरोधी हैं। अतः उनके इस संवाद में पाठक को घोर विसंगति और विद्रूपता दिखाई देती है और वह मानता है कि घीसू-माधव अपने अपराध-दंश से मुक्त होने के लिए 'निष्पापता' के लिए देवताओं और धर्म को साक्षी बनाते हैं और बुधिया के लिए वैकुण्ठ की कामना करते हैं। धर्म के प्रति ये विश्वास एक प्रकार से लोक विश्वास ही हैं जो सैकड़ों-हजारों वर्षों से समाज में प्रचलित हैं कि पुण्यवान को वैकुण्ठ मिलता है और ऐसा व्यक्ति संसार के माया-जाल से मुक्त हो जाता है। घीसू यही कहता है, 'क्यों रोता है बेटा, खुश हो कि वह माया-जाल से मुक्त हो गई, जंजाल से छूट गई। बड़ी भाग्यवान थी, जो इतनी जल्द माया-मोह के बंधन तोड़ दिए।' घीसू और माधव दोनों ही कफन के पैसों से खाए भोजन से इतने तृप्त हैं कि वे कहते हैं कि हमारी आत्मा प्रसन्न हो रही है तो क्या उसे 'पुन्न' न होगा तथा क्या उसे 'वैकुण्ठ' न मिलेगा? प्रेमचंद इस प्रसंग में अपना हस्तक्षेप करते हैं और घीसू के शब्दों में अमीरों द्वारा गरीबों को लूटने तथा गंगा-स्नान एवं मंदिर में जल चढ़ाकर अपने पापों के धोने पर सीधी चोट करते हुए कहते हैं, 'हाँ बेटा, वैकुण्ठ में जाएगी। किसी को सताया नहीं, किसी को दबाया नहीं। मरते-मरते हमारी ज़िंदगी की सबसे बड़ी लालसा पूरी कर गई। वह न वैकुण्ठ में जाएगी तो क्या ये मोटे-मोटे लोग जाएँगे, जो गरीबों को दोनों हाथों से लूटते हैं और अपने पाप को धोने के लिए गंगा में नहाते हैं और मंदिरों में जल चढ़ाते हैं।' यहाँ प्रेमचंद अपनी पुरानी पद्धति के अनुसार पात्र को अपने विचारों का वाहक बनाते हैं लेकिन घीसू की पात्रता इन विचारों के उपयुक्त नहीं थी, इसलिए ये कहानी के मुख्य विषय से संश्लिष्ट नहीं हो पाते और आरोपित से जान पड़ते हैं। डॉ बच्चनसिंह का भी 'दस्तावेज' वाले लेख में यही निष्कर्ष है।

बच्चनसिंह ने कहानी के अंत में घीसू-माधव द्वारा नशे की हालत में कबीर के पद की एक पंक्ति के गाने, नाचने तथा गिर पड़ने की थोड़ी व्याख्या तो की है, परंतु 'ठगिनी क्यों नैना झमकावै! ठगिनी' का पूरा पद देकर भी वे इसे कहानी की आत्मा से नहीं जोड़ पाए हैं। प्रेमचंद कहानी के अंत को विशेष महत्त्व देते हैं और प्रायः अंत ही कहानी के प्रतिपाद्य का सूत्र खोलता है। असल में कहानी का रहस्य कबीर के इसी पद में छिपा हुआ है और इसे समझकर

ही कहानी के अभिप्रेत को समझा जा सकता है। कबीर का यह पद हिंदू दर्शन की 'माया' के स्वरूप की व्याख्या करता है। कबीर कहते हैं कि यह माया ठगिनी है, जो आँखें झमकाकर अनेक रूपों में मोहित करती है। यह गले में तुलसी की माला डालकर तीनों लोकों को भरमाती है और सत्य से दूर रखती है। 'कफ़न' कहानी की 'ठगिनी' भी यही माया है। बच्चनसिंह इस 'ठगिनी' को पुराने अर्थ में माया नहीं मानते, वे इससे 'व्यर्थता बोध' अथवा 'अर्थहीनता' का अर्थ लेते हैं, जो कहानी के पाठ से सिद्ध नहीं होता। प्रेमचंद 'ठगिनी' शब्द से 'अर्थहीनता' का अर्थ लेते तो वे माया के स्वरूप को स्पष्ट करनेवाला कबीर का पद क्यों लेते? प्रेमचंद और कबीर की माया एक ही है, वह ठगिनी है, भ्रमित करती है, धर्म के आडंबरों और अंधविश्वासों से भी वह तीनों लोकों को ठगती है। तुलसीदास कहते हैं कि यह 'माया' इतनी शक्तिशाली है कि नारद मुनि इसके वशीभूत होकर ऐसे मूढ़ हो गए कि भगवान की स्पष्ट बातें भी न समझ सके। 'कफ़न' कहानी में घीसू-माधव इस ठगिनी माया से दो रूपों में व्यवहार करते हैं— एक तो वे इस माया का भंजन करते हैं तथा दूसरे वे इसके भ्रम-जाल में फँसे रहते हैं। कबीर के पद में यह जो 'गले डाल तुलसी की माला' है, वह धर्म के बाह्याडंबरों एवं विश्वासों का प्रतीक है, जो ठगिनी माया ही है। धर्म ने मनुष्य को अनेक संस्कारों में बाँधा हुआ है और अंतिम संस्कार भी उनमें से एक है। धर्म और परंपरानुसार शव के अंतिम संस्कार के लिए नया वस्त्र चाहिए। घीसू इस धर्म-जाल को कहानी में तोड़ता है और कहता है कि यह कैसा बुरा रिवाज़ है कि जिसे जीते जी तन ढाँकने को चीथड़ा भी न मिले, उसे मरने पर नया कफ़न चाहिए। कहानी का मूल विचारा इसी प्रश्न से उत्पन्न होता है। इसे लेखक 'बुरा रिवाज़' कहता है, पर यह है बुरा धर्म ही, जो जीवन से अधिक मृत्यु को सम्मान देता है। घीसू दूसरा सवाल करता है कि कफ़न लगाने से क्या मिलता है, आखिर जल ही जाता है और मरने वाले के साथ नहीं जाता। यह विचार ठगिनी माया का पर्दाफ़ाश करता है कि कफ़न कोई उपयोगिता एवं सार्थकता नहीं है, क्योंकि वह जलकर नष्ट हो जाता है और मरने वाले के साथ नहीं जाता। अतः वे माया के इस निरर्थक रूप को निरावृत्त करके अपने जीवन की सबसे बड़ी लालसा-शराब और स्वादिष्ट भोजन, को पूरा करने के लिए मधुशाला में पहुँच जाते हैं। यह माया के पर्दे को हटाकर सत्य को उद्घाटित करने की चेष्टा है, परंतु ठगिनी माया इतनी प्रबल है कि घीसू-माधव उसमें बहने लगते हैं। घीसू और माधव शराब पीने के बाद लगभग दो पृष्ठों में जो वार्तालाप करते हैं उसमें पाप-पुण्य, आत्मा-परमात्मा, लोक-परलोक, स्वर्ग-नरक आदि का धार्मिक आध्यात्मिक माया-जाल फैला हुआ है, जो इन दोनों पात्रों को ही नहीं पूरे समाज को ठगता है और उसे अंधविश्वासों में जीने के लिए बाँधे रखता है। घीसू-माधव चेतनावस्था में इस माया के पर्दे को हटाते हैं, पर वे शराब के नशे में माया का गुणगान करते हैं, परंतु वे कबीर के पद को गाकर एक प्रकार से इस मायावी एवं भ्रामक धर्म के वास्तविक स्वरूप को उजागर कर देते हैं। कबीर के पद की पंक्ति 'ठगिनी क्यों नैना झमकावे' उनके धार्मिक विश्वासों को नया अर्थ देती है और लोक-परलोक, वैकुण्ठ आदि की धारणाएँ ठगने और भरमाने वाले अंधविश्वास बन जाते हैं और धर्म के इस रूप की निरर्थकता पाठक के मन में उतर जाती है। 'कफ़न' कहानी मनुष्य की निरर्थकता अथवा उसकी जड़ता की कहानी नहीं है, बल्कि वह ऐसे धर्म की निरावृत्त करती है जो जीवन को महत्त्व न देकर मृत्यु को महत्त्व देता है और जो जीवितावस्था में चीथड़ा नसीब नहीं कराता, परंतु

मृत्यु पर नया कफ़न देने को विवश करता है। 'गोदान' उपन्यास का भी ऐसा ही प्रतिपाद्य है। यह कैसा समाज है, धर्म है जो किसान को जीवितावस्था में गाय नहीं देता, लेकिन मरने पर उसे गो-दान देना होगा। प्रेमचंद के लिए धर्म की इस कुरूपता एवं अमानवीयता की आलोचना करना आरंभ से ही लेखकीय कर्म रहा है, अतः 'कफ़न' को प्रेमचंद की परंपरागत संवेदना एवं चैतन्य से जोड़कर देखना ही उचित होगा।

इस प्रकार 'कफ़न' कहानी को प्रेमचंद का कफ़न कहने का कोई औचित्य नहीं है और न उनके आदर्शों, मान्यताओं एवं आस्थाओं का कफ़न भी उससे व्यंजित होता है। कहानी में बुधिया को कफ़न नहीं मिलता, न वह खरीदा ही जाता है, जबकि पूरी कहानी कफ़न पर ही लिखी गई है। लेखक इस कफ़न का उपयोग कई दिशाओं में करता है, जिनकी प्रतीति उसकी अर्थ-ध्वनियों से होती है। कहानी सर्वप्रथम धर्म की मायावी एवं भ्रान्त विश्वासों एवं परंपराओं पर कफ़न डालती है, वह उस मानवीय व्यवहार पर कफ़न डालती है जो मनुष्य को निस्सहाय अवस्था में मरने देता है, वह उस व्यवस्था पर कफ़न डालती है, जो मनुष्य को अकर्मण्य, स्वार्थी और संवेदनहीन बनाती है, वह उस पारिवारिक रचना पर कफ़न डालती है, जिसमें स्त्री सेवा-समर्पण की मूर्ति होकर भी पुरुषों की अमानवीयता के कारण मरने को विवश है, वह उस मनोरचना पर कफ़न डालती है जो शोषण एवं पाप कर्मों के बाद गंगा-स्नान एवं मंदिर में जल-चढ़ाने से पापों के प्रक्षालन का विश्वास दिलाती है। घीसू को विश्वास है कि समाज के लोग बुधिया को कफ़न अवश्य देंगे और कहानी में ये अर्थ ध्वनियाँ कहती हैं कि इन्हें भी कफ़न इसी समाज को देना है। कहानी के पाठ का तो यही सच है। इस पाठ का एक सच यह भी है कि कहानी में बुधिया को कफ़न नहीं मिलता और उसकी लाश वैसे ही पड़ी रह जाती है, अतः समाज एवं धर्म की इन अमानवीयताओं पर कभी कफ़न पड़ेगा, ऐसे विश्वास का कोई कारण दिखाई नहीं देता। कहानी की बुधिया और हमारा धर्म-समाज एमरूप हो जाते हैं। यह एकता 'कफ़न' कहानी की चरम उपलब्धि है।

□ ए-98, अशोक विहार, फेज प्रथम
दिल्ली 110052

हिंदी साहित्येतिहास लेखन, परंपरा साहित्य और विचार

डॉ० हरमहेंद्रसिंह बेदी

साहित्येतिहास 'साहित्य और इतिहास' इन दो शब्दों के योग से बना है। जय भगवान गोपाल के मतानुसार मानवकार्यों का क्रमानुसार व्यवस्थित इतिहास है। मानवीय संवेदनाओं की रमणीय अभिव्यक्ति साहित्य है। समुनराजे के मतानुसार साहित्येतिहास कुछ विशिष्ट लेखकों एवं उनकी कृतियों मात्र का अध्ययन नहीं है, वरन् युग विशेष की समूहगत कृतियों का समन्वित अध्ययन है। मैनेजर पांडेय के मतानुसार जी हार्डमैन ने लिखा है कि साहित्य और इतिहास एक बौद्धिक अनुशासन के रूप में ही नहीं बल्कि साहित्य के इतिहास की रक्षा के लिए आवश्यक है। मैनेजर पांडेय आगे लिखते हैं कि साहित्य के इतिहास का आधार है साहित्य के विकासशील स्वरूप की धारणा। साहित्य की प्रगति, निरंतरता और विकासशील में आस्था के बिना साहित्य का इतिहास असंभव है। इस रूप में साहित्य अधिकतर इतिहास मानव सभ्यताओं के इतिहास भी कहे जा सकते हैं।

आधुनिक चिंतन की एक विशेष धारा में इतिहास को आधुनिक संस्कृति की नवीनता की सुरक्षा के लिए जान-बूझकर इतिहास से बचने का प्रयास होता है। फ्रांशिश बैरी के इतिहास को चयनात्मक और व्यवस्थित स्मृति मानते हुए कला या साहित्य के इतिहास के प्रति उदासीनता को स्वेच्छा स्मृति को कमजोर करने का प्रयास कहा है। साहित्य और कला इतिहास के प्रति उदासीनता संपूर्ण सामाजिक स्मृति का तिरस्कार है। किसी राष्ट्र की कलात्मक साहित्यिक चेतना और चिंतन का विस्मरण है। वर्तमान अतीत को खोकर अपनी सत्ता की वास्तविकता नहीं समझ सकता। हार्टमैन ने ठीक ही लिखा है कि साहित्यिक चेतना और उसके इतिहास की एकता से साहित्य रूप में कलाकार की आस्था मजबूत होती है और मानव-चेतना तथा उसकी विषय-वस्तु के बीच अपनी मध्यवस्था के कर्तव्य का साहित्यकार को बोध होता है। नलिन विलोचन शर्मा लिखते हैं कि साहित्यिक इतिहास क्या है? इतिहास नामों की तालिका मात्र नहीं है। वह केवल घटनाओं और तिथियों की भी सूची नहीं है, जिसमें उनकी कृतियों का विवरण और सारांश मात्र हो। आचार्य रामचंद्र शुक्ल का साहित्यिक इतिहास का विभाजन इन पंक्तियों में बड़ी निश्चयात्मकता के साथ व्यक्त हुआ है— जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का स्थाई साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अंत तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य परंपरा के साथ-साथ इनका सामंजस्य दिखाना ही साहित्य का इतिहास कहलाता है। वस्तुतः साहित्य का प्रामाणिक इतिहास विशुद्ध साहित्यिक कृतियों के आधार पर ही लिखा जा सकता है। यह दूसरी बात है कि हमारे निष्कर्ष याद राजनीतिक अथवा सामाजिक इतिहास से पुष्ट होते हैं तो इसमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए, अर्थात् वे हमारे निष्कर्षों के लिए सहायक हो सकते हैं, आधारभूत तत्त्व कदापि नहीं हो सकते।

अब प्रश्न यह उठता है कि किसी साहित्य का इतिहास लिखा कैसे जाए। इस प्रसंग में

विद्वानों में अनेक मत हैं और कोई भी मत सर्वथा निभ्रांत अथवा सर्वमान्य नहीं है। कहा जा सकता है कि अभी तक किसी भी भाषा का कोई भी साहित्येतिहास ऐसा नहीं है, जिसकी पद्धति को सर्वथा प्रामाणिक मानकर अन्य इतिहासों के लिए आदर्श मान लिया जाए।

इसके कई कारण हैं, कई कठिनाइयाँ हैं, साहित्यिक कृतियों के मूल्यांकन, पुनर्मूल्यांकन की बदलती हुई दृष्टि, विभिन्न आलोचना पद्धतियाँ, मूल्यांकन के शास्त्रीय अथवा नवीन मापदंड, विकास के प्रक्रम की वैज्ञानिक प्रवृत्त्यात्मक अथवा संरचनात्मक व्याख्याएँ तथा कालक्रम या संप्रदायों के अनुसार अध्ययन करने से ऐसी कुछ कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं।

साहित्येतिहास लेखन का एक आधार वैज्ञानिक पद्धति है। इसके अंतर्गत वस्तुनिष्ठता, निर्वैयक्तिकता, निश्चितता, वैज्ञानिक आदर्शों के समक्ष निरपेक्ष तथ्यों के संकलन, कार्यकरण परंपरा एवं मूल स्रोत के अध्ययन के प्राकृतिक विज्ञान की पद्धतियों का अनुकरण करने का प्रयास किया जाता है।

जीव वैज्ञानिक संकल्पनाओं के प्रयोग की पद्धति भी साहित्येतिहास के लिए सार्थक नहीं मानी जाती।

साहित्येतिहास लिखने की दूसरी पद्धति यह है कि अलग-अलग लेखकों पर लेखों की एक अविच्छिन्न लड़ी तैयार करके एक सूत्र में पिरोने की चेष्टा की जाती है।

साहित्येतिहास का सर्वाधिक आधार ऐतिहासिक विकास क्रम की प्रक्रिया से संबंधित है। साहित्यिक कृतियों को छोटे-बड़े समूहों में व्यवस्थित करके उनका विकास क्रम निर्धारित करना और समूची धारा के अंतर्गत उनका स्थान स्थिर करना साहित्येतिहास का प्रमुख प्रयोजन होता है। यह अलग बात है कि समूची धारा की अवधारणा ही इस समस्या का मूलबिंदु रही है। विकास की शृंखला का निर्माण मूल्यों के आदर्श की योजना के संदर्भ में ही किया जा सकता है और ये मूल्य इस प्रक्रिया के चिंतन से ही प्रकट होते हैं।

भारतीय विभिन्न भाषाओं में लिखा जानेवाला साहित्य भारतीय साहित्य कहलाता है, लेकिन होता नहीं है। भारतीय साहित्य की रूपरेखा को ऐतिहासिक संदर्भ में तब तक नहीं समझा जा सकता, जब तक इसके कहलाने और होने के अंतर के विवेक को समझा नहीं जा सकता। कहा जाता है कि भारतीय साहित्य का आधुनिक रूप भारत की चौदह प्रमुख भाषाओं में समाविष्ट है, जिनकी कश्मीरी, उर्दू, उड़िया, असमी, तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम। गोपाल शर्मा ने भारतीय भाषाएँ पंद्रह मानी हैं जो कि इस प्रकार हैं— अससिमिया, उड़िया, उर्दू, कन्नड़, कश्मीरी, गुजराती, तमिल, तेलुगु, बांग्ला, मलयालम, पंजाबी, मराठी, संस्कृत, सिंधी और हिंदी। लेकिन सर्वपल्ली राधाकृष्णन् भारतीय भाषाएँ सोलह मानते हैं— असमिया, उड़िया, बंगला, मराठी, मलयालम, संस्कृत, सिंधी, हिंदी और अँग्रेज़ी। यद्यपि भारतीय साहित्य, विभिन्न भाषाओं में विकसित होता रहा है, किंतु इस समस्त भाषाओं के साहित्य की प्राव्य धारा एवं जीवन की गति का उद्गम संस्कृत साहित्य से ही हुआ है। इसके अतिरिक्त इनकी शैली, स्वरूप एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का आधार भी हमारे देश के प्रतिनिधि प्राचीनतम संस्कृत साहित्य की परंपरा में सन्निहित है। किरपाल सिंह कसेल के मतानुसार सारी आधुनिक भारतीय भाषाएँ साँझी राष्ट्रीय विरासत की छोटी-बड़ी संतान हैं। आधुनिककाल में एक राष्ट्र और उसकी अखंडता की भावना का प्रसार हुआ। इससे सारी राष्ट्रीय भाषाएँ आदि भाषाओं के साहित्य का प्रभाव प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में देखा जा सकता है।

भारतीय साहित्य अकादमी, नेशनल बुक ट्रस्ट, आकाशवाणी और फ़िल्म आदि प्रसार साधनों के द्वारा यह परस्पर आदान-प्रदान विशेष करके उस समय और भी आवश्यक हो गया है, जबकि सारी राष्ट्रीय भाषाएँ राष्ट्रीय आदर्शों के लिए गतिमान हैं। लेकिन अब तक जो भारतीय साहित्येतिहास लिखे जा चुके हैं, जैसे हिंदी में आचार्य रामचंद्रशुक्ल का हिंदी साहित्य का इतिहास, किसी एक ज्वलंत प्राणधारा के सूत्र नहीं, बल्कि एक अलग-अलग डिब्बों में बंद किए कुछ पत्र हैं, जिनको भारतीय साहित्य का जीवंत नाम देना मुश्किल है। ये इतिहास तब तक सही रूप में नहीं लिखा जा सकेगा, जब तक हम भारतीय नक्शों में कुछ भाषाओं के साहित्य को या तो केवल रोमांटिक दृष्टि से देखेंगे या तो उन्हें छोड़ ही दिया जाएगा, जैसे कबीलों का साहित्य। जब तक हम इन्हें पंजाबी, मराठी, बंगला के कुलीन साहित्य के मुक़ाबले में आदिवासी कहते रहेंगे तब तक हमारी भारतीय अवधारणा या तो सत्ताधारी वर्ग की अवधारणा होगी या इतिहास क्रम में अधूरी। यह बात देखने की है कि भारत के कबीलों का साहित्य और उसका ऐतिहासिक मूल्यांकन जितने ग़ैर संजीदा ढंग से किया जाता है, उससे उस साहित्य का भारतीय धारा के अंतर्गत होना किसी विशेष बुद्धिवालों को समझ नहीं आएगा। आश्चर्य की बात है कि सन्थाल गौड़ या कुछ और कबीलों के गीत उनके दूसरे साहित्य रूप ज़्यादातर पाश्चात्य विद्वानों ने संकलित किए हैं उनका संकलन तो बहुत वैज्ञानिक है, लेकिन इसका आधार उस जनजाति को भारतीय धारा से अलग देखने में बँधा है और हमारे वैज्ञानिक तो उसके बारे में बात ही कुछ कम करते हैं। अगर एक ही वाक्यांश में कहना हो तो हम कह सकेंगे कि जब तक जनजाति साहित्य कुलीन परंपरा के साहित्य का गुलाम रहता है, भारतीय साहित्येतिहास के बारे में सोचना व्यर्थ है।

अभी तक भारत के विभिन्न भाषाओं के इतिहास लिखे जा चुके हैं, जैसे हिंदी साहित्य का इतिहास, पंजाबी साहित्य का इतिहास, उर्दू साहित्य का इतिहास, मलयालम साहित्य आदि। इसके अतिरिक्त और भाषाओं के इतिहास भी लिखे जा चुके हैं, लेकिन इन भाषाओं में लिखा गया साहित्येतिहास भारतीय साहित्येतिहास नहीं बनता, बल्कि इन भाषाओं में लिखे जानेवाली एक विशेष भू-खंड की मानसिकता, भारतीय साहित्येतिहास का मूल तंतु बन सकता है जैसे आई सेरेवरी आकोव पंजाबी साहित्य में अँग्रेज़ी लिखने वाले मुलकराज आनंद का नाम भी लेते हैं। उर्दू भाषा में लिखनेवाले राजिंद्रसिंह बेदी तथा हिंदी में लिखनेवाले यशपाल भी कुछ हद तक इस कोटि में आते हैं। आई सेरेवरी आकोव के मतानुसार, 'यही कारण है कि हम ऐसे लेखकों को पंजाबी साहित्य में हवाला देते हैं, चाहे वे किसी भी भाषा उर्दू या अँग्रेज़ी या फारसी में भी क्यों न लिख रहे हों। इनमें हम खुद भी देख सकते हैं कि मध्य वर्ग में संत साहित्य को क्या हम किसी लिपि के अंतर्गत किसी एक भाषा से संबद्ध कर देंगे। क्या हम नामदेव की वाणी को देवनागरी में प्राप्त होने के बावजूद मराठी साहित्य की कोटि में मानने से इंकार कर देंगे।

गौरीशंकर पंड्या के मतानुसार— भारतीय साहित्य की परंपरा को हम तीन युगों में बाँट सकते हैं। लेकिन साहित्येतिहास तो नया संकल्प है, इसलिए इसे युगों में बाँटने की अभी तक ज़रूरत महसूस नहीं होनी चाहिए। साहित्येतिहास के बारे में केवल पाश्चात्य विचारधारा के अधीन ही सोचा जाने लगा है। इसलिए यह तो विधा ही नहीं है। इसमें हम कुछ समकालीन या बाद में आनेवाले साहित्य की टिप्पणियों में साहित्येतिहास के दर्शन मात्र कर सकते हैं। लेकिन यह विधा नहीं बनती।

जैसे 8-वीं सदी तक पहुँचते-पहुँचते शंकराचार्य के दर्शन (वेदांत) की बुनियाद उपनिषद् बनते हैं लेकिन यह बौद्धों के खिलाफ ही लिखा गया। साहित्य उस साहित्येतिहास की एक प्रमुख कड़ी होगी। इसी तरह मध्ययुगीन संत काव्य, वैदिक, बौद्ध, वेदांत दर्शन और नाथ सूफी संप्रदायों के प्रत्युत्तर में लिखा गया भक्ति साहित्य उस साहित्येतिहास में विशेष स्थान रखता है।

इसी प्रकार अपभ्रंश साहित्य से लेकर आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य तक कुछ साहित्यिक मूल्यों का लेन-देन उस साहित्येतिहास के लिए बहुत ज़रूरी है। देखने की बात है कि जिस अपभ्रंश शब्द को कभी तिरस्कारमयी दृष्टि से देखा जाता था अब उसे आदरणीय स्थान मिला हुआ है। यही मूल्य परिवर्तन साहित्येतिहास को समझने के लिए ज़रूरी है, जिससे एक तरफ तो सत्ताधारी भाषा विकास की जड़ता के खिलाफ आंदोलन के रूप में देखा जाएगा और दूसरी तरफ इतिहास में गँवारू कहलाए जानेवाली रुचियों को प्रगतिवादी रुचियाँ कहलाने तक का सामाजिक रूपांतरण हुआ। जगबीरसिंह के मतानुसार साहित्येतिहास के क्षेत्र में मध्यकाल शब्द का प्रयोग आधुनिक काल के विरोध के प्रसंग में किया जाता है। चाहे मूल रूप में ये दोनों शब्द काल वाचक हैं, परंतु व्यावहारिक रूप में यह विशेष प्रकार का संकल्पी मूलक लेखा-जोखा करने के लिए यह संकल्पी जुट एक व्यापक किस्म का काल विभाजन का आधार प्रस्तुत करता है। इसके अंतर्गत साहित्य इतिहास का कालविभाजन व्यक्ति चेतना और संवेदना के मौलिक परिवर्तन को मुख्य रखकर किया जाता है। आधुनिक काल तक आते-आते एक बात विशेष तौर पर ध्यान देने योग्य है कि इस वक्त तक मुद्रित यंत्रों का प्रचलन हो चुका था तथा साहित्यिक दृष्टि भी बदल गई। पहले जहाँ हस्तलिखित पुस्तकालय में ग्रंथों की जिज्ञासा और हाथों तक रखा जाता था तथा छापने के बाद पढ़नेवालों को ढूँढने की जिज्ञासा और ज़रूरत पैदा होती है, इस युग में बड़े क्षेत्र में आधुनिक युगबोध की भी ज़रूरत हुई। वस्तुतः साहित्य पढ़ने में तथा साहित्य दृष्टि में मूल्य परिवर्तन हुआ।

विद्वानों के मतानुसार सन् 1857 के बाद का युग आधुनिक युग कहलाता है। मैनेजर पांडेय के मतानुसार— साहित्य और कला के आधुनिक मानस की सृजनशीलता ही आधुनिक रूप में प्रकट होती है। साहित्य में आधुनिकता का अर्थ आधुनिक जीवन की समस्याओं और वास्तविकता की अभिव्यक्ति से है। आधुनिकता कला और साहित्य की रचना का एक दृष्टिकोण है और आधुनिक रचनाशीलता की एक विशेषता भी। रमेश कुंतल मेघ के मतानुसार— यह जो आधुनिक भारत का आधुनिकीकरण हो रहा है। भारतीय साहित्य की सामान्य विशेषताएँ वही हैं, जोकि एक भारतीय जन-जीवन के साहित्य में हो सकती हैं। हमारे देश की राजनीति, संस्कृति से जुड़ी विशेषताएँ हो सकती हैं। धर्म के प्रति विज्ञान, टेक्नोलॉजी, आविष्कारों से जो भारत में परिवर्तन आया है उससे भारत प्रभावित भी हुआ है, उसमें परिवर्तन भी हुए हैं। यह गहरे सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया है, जिससे परंपराबद्ध गाँवों अथवा कबीला चारित समाजों को आधुनिक औद्योगिकृत तथा नगर केंद्रित दुनिया के दबावों और मार्गों की प्रतिक्रिया मजबूर करनी पड़ती है। आधुनिक काल की विशेषताओं में अंग्रेजी शिक्षण-पद्धति के फलस्वरूप बाहरी संसार से संबंध स्थापित करना, छापाखानों की वृद्धि के कारण सैकड़ों प्रकार की पुस्तकों का निर्माण होना, साहित्य का विपुल प्रचार, संस्कृत ग्रंथों के रूपांतर में शिथिलता आना, पाश्चात्य देशों के विभिन्न साहित्यकारों के परिचय की महत्ता का बोध जनता का हो जाना, भारतीय

भाषाओं के बीच परस्पर संपर्क, गद्यशैली का विकास, साहित्य का राजनीतिक सिद्धांतों का प्रभाव, आशेषों के आविष्कार में साहित्य का उन्नत तथा संपूर्ण स्थान आदि प्रमुख हैं।

इस युग की सबसे प्रमुख विशेषता है पूरे भारतीय साहित्येतिहास में विभिन्न ज्ञानानुशासनों का साहित्य रचा जाना अर्थात् राष्ट्रीय भाषा तथा प्रांतीय भाषाओं में विभिन्न ज्ञानानुशासकों की पुस्तकों का लेखन। जैसे विज्ञान, अर्थशास्त्र, दर्शनशास्त्र, नृत्यशास्त्र, सामाजिक विषय राजनीति विषय आदि। इनके अतिरिक्त शिक्षा तथा इतिहास पर भी ग्रंथ लिखे गए उदाहरणतः वैज्ञानिक साहित्य के प्रकाशन में उत्तर प्रदेश सरकार की हिंदी समिति का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। डॉ० निहालकरण सेठी द्वारा लिखित 'तारा भौतिकी' या यारों की दुनिया महत्त्वपूर्ण प्रकाशन है। शिक्षा के प्रसार के साथ ही शैक्षणिक साहित्य का सृजन भी बढ़ता जा रहा है। आधुनिक शिक्षा का स्वरूप शिक्षा के विषय में सैद्धांतिक चर्चा है। इसकी लेखिका श्रीमती उषा हैं। अर्थ-व्यवस्था पर हिंदी समिति, उत्तर प्रदेश द्वारा प्रकाशित भारतीय कर व्यवस्था के लेखक डॉ० बाबूराम मिश्र हैं। दर्शन विषय पर दिल्ली से आत्माराम एंड संस ने प्रसिद्ध अमरीकी दार्शनिक और शिक्षाशास्त्री जॉन ड्यूड की दो महत्त्वपूर्ण पुस्तकों के हिंदी संकरण प्रकाशित किए।

सामाजिक विषय से संबंधित 'समाज कल्याण' शीर्षक से पं० विद्यासागर शर्मा द्वारा लिखित पुस्तक, समाज और उसके कल्याण की कल्पनाओं का विवेचन करती है तथा बिहार राष्ट्र भाषा परिषद् द्वारा प्रकाशित मगही संस्कार गीत एक महत्त्वपूर्ण प्रकाशन है।

लेकिन प्रकाशन विस्फोट को नियंत्रित करने के लिए कुछ किताबों की जरूरत और भी ज्यादा बढ़ जाती है जैसे कोश और संदर्भ पुस्तकें। इनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण हैं, जैसे इलाहाबाद से भाषा शब्दकोश, साहित्य सम्मेलन से मानक हिंदी कोश, काशी नागरी प्रचारिणी सभा से हिंदी शब्द सागर प्रकाशित हुए।

संयुक्त राष्ट्र संघ का हमारे जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा है, यह बात स्पष्ट करते हुए श्री गिरीश वास्तव ने 'संयुक्त राष्ट्र संघ तथा हमारा जीवन' पुस्तक लिखीं। इसके अतिरिक्त डॉ० मुकुंददेव शर्मा द्वारा लिखित राष्ट्रीय एकता और नैतिकता की शिक्षा में राष्ट्र की वर्तमान समस्याओं पर प्रकाश डाला है।

गोपाल शर्मा के मतानुसार हिंदी में विभिन्न प्रकाशनों की संख्या तथा उपेक्षित और शास्त्रीय ज्ञान क्षेत्रों पर लेखन की यात्रा उत्तरोत्तर बढ़ती ही जा रही है। नगेंद्र अपने इतिहास में लिखते हैं, 'यद्यपि अँग्रेजी ने इस देश में नई अर्थव्यवस्था, औद्योगिकता, संचार सुविधा, प्रेस आदि को अपनी निजी स्वार्थों के लिए स्थापित किया, फिर भी इससे भारत का हित हुआ। लेकिन अँग्रेजों ने केवल हित के लिए ही ऐसा नहीं किया, बल्कि भारत की अर्थव्यवस्था की मजबूरी के कारण ऐसा हुआ।

रचनात्मक दृष्टि रखनेवाले साहित्यकारों ने अब यह जान लिया है कि अँग्रेजों के भागते ही भारत की भाषाएँ एवं उनके साहित्य में परस्पर नैकट्य आ जाएगा। इसलिए वे भाषा विशेष अथवा साहित्य विशेष की दृष्टि से नहीं सोचते प्रत्युत राष्ट्रीय दृष्टि से भारतीय साहित्य एवं भारतीय परंपरा को एक अविभक्त एवं अखंड मानते हैं। सुब्रामन्यम भारतीय एवं रवींद्रनाथ की रचनाओं के अतिरिक्त मलयालम में शेक्सपियर, राहुल सांकृत्यायन (रचनासिंह सेनापति) तथा सुबोध कुमार सान्याल (रचना यांत्रिक) के अनुवाद उल्लेखनीय हैं। डॉ० धर्मवीर भारती

की प्रसिद्ध रचना त्रिवेणी का अनुवाद भी गुजराती में हुआ। रामचंद्र शुक्ल के प्रसिद्ध इतिहास का पंजाबी भाषा का अनुवाद हिंदी साहित्य का इतिहास से हुआ, इसके प्रकाशन का श्रेय पंजाब सरकार के भाषा विभाग को है। ओमप्रकाश के मतानुसार जहाँ तक भारतीय भाषाओं का संबंध है, रवींद्रनाथ की रचनाओं के अनुवाद प्रत्येक भाषा में सबसे अधिक हुए हैं। इसके अतिरिक्त पंजाबी में रवींद्रनाथ की कविता 'इकोत्तर शती' का अनुवाद देवेन्द्र सत्यार्थी ने हकोत्तर सौ के नाम से किया और हिंदी में इसका अनुवाद एक सौ एक कविताएँ नाम से दूसरे आचार्यों ने किया जैसे नामवर सिंह, हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा अन्य लेखकों ने, लेकिन गुरुदेव की कविता की आत्मा के भाषा रूपांतरण का जहाँ तक प्रश्न है, देवेन्द्र का अनुवाद बेजोड़ है। यह बात इसलिए कही गई है कि भाषा सामर्थ्य मूल्यांकन के लिए जो मानदंड हम प्रयोग करते हैं वे ज्यादातर आत्मगत होते हैं।

फादर गुंडर्ट द्वारा निर्मित 'मलयालम इंगलिश डिक्शनरी' एक नवीन महत्वपूर्ण कोश ग्रंथ है। यह लगभग एक शती के उपरांत इस युग में फिर प्रकाशित हुआ। डॉ० तुलपुलू से सन् 1000 से 1350 तक की मराठी भाषा के स्वरूप प्रदर्शित करने को निमित्त 'एन ओल्ड मराठी रीडर' का संपादन किया। उर्दू में मिर्जा जाफ़रअली ख़ाँ असर का शब्द कोश फरहंगे असर प्रकाशित हुआ। भाषा विभाग, पटियाला द्वारा पुनर्मुद्रित 'भैया सिंह का पंजाबी कोश' जो पहले 1892 में हुआ था मराठी में त्रिपाठ जोशी ने चिनारच्य हाथेन पुस्तक में कश्मीर का वर्णन किया है।

भारतीय भाषाओं का साहित्येतिहास एक ऐसा विषय है, जो यदि आकादमिक पक्ष में नहीं है, तो कम-से-कम बौद्धिक-पक्ष में काफ़ी हद तक उपेक्षित रहा है। इसके मुक़ाबले पर भारतीय धर्म, दर्शन, चित्रकला, मूर्तिकला, भवनकला आदि के विषयों पर आधारित साहित्य में कहीं ज्यादा ध्यान दिया गया है।

अभी तक भारत की भाषाओं के अलग-अलग इतिहास ही लिखे गए हैं, लेकिन आज राष्ट्रीय एकता पर बल दिया जाता है, इसलिए इस राष्ट्रीय एकता को लाने के लिए यह ज़रूरी है कि हमारी विभिन्न भाषाओं के इतिहासों को भारतीय साहित्येतिहास के रूप में बदल दिया जाए।

भारतीय साहित्येतिहास लेखन की समस्याओं पर विचार करने से पूर्व कुछ बिंदु उभरते दिखाई देते हैं, जो कि इस प्रकार हैं— भारतीय साहित्य जो कि सभी भाषाओं में लिखा जाता है, क्या ऐसा कोई विचार सूत्र है, जो सब भाषाओं के साहित्य में समानता हो। जो सारी विशेषताएँ एक विचार के रूप में पनप रही भारतीय साहित्य की अवधारणा के रूप में प्रकट हो। इसके साथ ही महत्वपूर्ण बिंदु यह भी उभरता है।

भारतीय इतिहास विभिन्न विधाओं में लिखा जा रहा है, जैसे मराठी में नाटक ने उन्नति की है और पंजाबी में कविता का काफ़ी विस्तार हुआ है। हर भाषा में कोई-न-कोई विधा अपनी विशेषता बना लेती है। इन विधाओं के विकास को भारतीय साहित्येतिहास लेखन के समय इनके लेखन को किस प्रकार उभारें कि भारतीय साहित्य की छवि उभरकर सामने आए।

पंजाब यूनिवर्सिटी चंडीगढ़ में आयोजित सेमिनार में अतरसिंह ने 'भारतीय साहित्य दीआँ इतिहासकारी दीआँ समस्याआँ' पत्र में भारतीय साहित्येतिहास लेखन की समस्याओं पर

जो विचार प्रकट किए थे वे इस प्रकार हैं—

पिछले आठ दशक से जो हमारी राजनीति पर भाषायी राष्ट्रवाद की भावना छाई हुई है। साहित्यिक मूल्यांकन और निर्णय कैसे करें जैसे जरूरी पक्षों को तो एक ओर छोड़ दें, साहित्यिक, तथ्यों को निर्धारित करना भी काफी हद तक मुश्किल हो गया है। हालाँकि इसके बिना साहित्यिक इतिहासकारों की तरफ से पहले सार्थक कदम भी नहीं उठाया जा सकता। प्रत्येक राष्ट्रवाद मुख्य रूप से क्षेत्रीय धरातल पर आधारित होता है। किसी भी वर्ग की पहचान को निर्धारित करने के साधन रूप में राष्ट्रवाद और देशभक्ति के मुक़ाबले का पहला अभिव्यंजन दो रूपों में होता है। पहला क्षेत्रीय विस्तारवाद और दूसरा अनुकूल भाव, दूसरे को अपने रूप में ढालना। इस नियम ने भारतीय भाषाओं की इतिहासकारी के क्षेत्र में जो तबाही मचाई है, वह इतनी विशाल है कि उसका लेखा-जोखा भी करना कठिन है।

अपनी साहित्यिक और भाषायी प्रमुखता को विस्तार देने के उत्साह में हिंदी साहित्यिक इतिहासकारों ने न सिर्फ़ अपनी भिन्न-भिन्न महत्वपूर्ण उपभाषाएँ जैसे कि मैथिली, भोजपुरी, ब्रज और राजस्थानी के लेखकों की साहित्यिक प्राप्तियों पर अपना हक़ जतलाया, बल्कि अनेक और भाषाओं के लेखकों और रचनाओं को भी अपने नाम के साथ जोड़ लिया है।

एक और बात, जिसने ऐतिहासिक स्थिति को जटिलता में बदलकर महत्ता दी है, वह है भिन्न-भिन्न साहित्यिक परंपराएँ और एक ही साहित्यिक परंपरा के अंतर्गत भिन्न-भिन्न धारणाओं के प्रसंग में धार्मिक और भाषायी पहचानों की जटिलता। जहाँ कहीं किसी धार्मिक पहचान ने किसी खास लिपि को अपने लिए प्रतीक के तौर पर अपना लिया है, वहाँ बात और भी उलझनपूर्ण हो जाती है। यही कारण है कि चाहे उर्दू हिंदी, एक ही भाषायी स्रोत में से फूटें लेकिन उनकी साहित्यिक परंपराएँ एक-दूसरे से अलग हो गईं।

साहित्यिक तथ्य की पहचान के प्रश्न से जुड़ी एक और समस्या भिन्न-भिन्न रचनाओं की साहित्यिक और ऐतिहासिक सार्थकता की है। भारतीय साहित्येतिहास-लेखन में निम्नलिखित समस्याएँ हो सकती हैं।

प्रत्येक युग में साहित्य चेतना में निरंतर परिवर्तन या विकास होता रहा है। वर्तमान युग का साहित्यिक चिंतन वैसा नहीं है, जैसा आचार्य रामचंद्र शुक्ल के समय से चालीस वर्ष पूर्व था। यद्यपि साहित्य के मौलिक प्रतिमान अधिक नहीं बदले फिर भी बदल रहे युगबोध के कारण प्ररिप्रेक्ष्य प्रविधि-प्रक्रिया आदि में परिवर्तन निश्चय ही होता है।

पिछले दशकों में निरंतर अनुसंधान के फलस्वरूप प्रचुर नवीन सामग्री प्रकाश में आई है और अनेक स्वीकृत तथ्यों का संशोधन हुआ है, जिनसे पूर्ववर्ती निर्णय और निष्कर्ष अनिवार्यतः बदल गए हैं। इनके अतिरिक्त एक सूक्ष्मतर कारण और भी है। जैसा कि 'इलियट' ने कहा है केवल अतीत ही वर्तमान को प्रभावित करता है। इस तर्क से प्रत्येक युग में साहित्य के नए विकास रूप उसके पूर्व रूपों के मूल्यांकन को प्रभावित करते रहते हैं जैसे हिंदी महाकाव्य-परंपरा में रामचरितमानस और रामचंद्रिका आदि का स्थान निर्धारण करने के लिए प्रियप्रवास, साकेत और कामायनी की रचना के बाद आज फिर से विचार करना पड़ेगा। किसी श्रृंखला में जब नई कड़ियाँ जुड़ती हैं तो स्वभावतः पुरानी कड़ियों की स्थिति पूर्ववत् नहीं रह जाती। अतः नवीन शोध-परिणामों के आधार पर विकासशील साहित्य-चेतना के आलोक में संपूर्ण परिदृश्य का पुनरावलोकन सर्वथा

आवश्यक है।

भारतीय साहित्येतिहास-लेखन के समय यह बात भी दृष्टि में रखनी पड़ेगी कि इतिहास के संदर्भ में साहित्य की सीमा कहाँ तक मानी जाए। सत्य तो यह है कि इस विषय में भी हमारा दृष्टिकोण व्यापक ही होना चाहिए और इसके साहित्य के अतिरिक्त ज्ञान के साहित्य का भी अंतर्भाव करना चाहिए। यह ठीक है कि साहित्य का अर्थ मूलतः यहाँ भी सर्जनात्मक साहित्य ही है और एक सीमा से आगे संपूर्ण वाङ्मय को उसके साथ समेटना संभव नहीं है, जैसे मध्ययुग में आयुर्वेद, ज्योतिष आदि शास्त्र तथा सांप्रदायिक साहित्य आदि सभी कुछ पद्य में ही लिखित है और गद्य में भी अनेक कच्ची-पक्की टीकाएँ, वचनिकाएँ, वार्ताएँ, ख्यातें तथा और बातें मिलती हैं।

इधर आधुनिक युग में ज्ञान-विज्ञान के असंख्य ग्रंथों की रचना निरंतर हो रही है। यह सब साहित्य के अंतर्गत तो नहीं आ सकता, लेकिन इस प्रकार के समस्त वाङ्मय का नियमित त्याग करना भी उचित नहीं है। उदाहरण के लिए हिंदी में आदिकाल में रचित गोरखनाथ आदि की वाणी या परवर्ती युग का वार्ता साहित्य शुद्ध साहित्य की परिधि में नहीं आता, किंतु क्या इतिहासकार उनकी उपेक्षा कर सकता है, उनके अभाव में विकास-परंपरा की कुछ आवश्यक कड़ियाँ लुप्त हो जाएँगी। इसी प्रकार आधुनिक युग में भी ज्ञान के साहित्य के ऐसे अनेक गौरव ग्रंथ हैं, जिनका उल्लेख इतिहास में करना अनिवार्य है।

वास्तव में इतिहास-लेखन इतिहास के अनुसंधान का पर्याय नहीं है। ऐतिहासिक अनुसंधाता जहाँ नवीन तथ्यों के अन्वेषण और उपलब्ध तथ्यों के नवीन आख्यान पर बल देता है, वहाँ इतिहास-लेखन इन दोनों दिशाओं में एक सीमा से आगे नहीं बढ़ सकता। उसके लिए नवीन की अपेक्षा प्रामाणिक और समयसिद्ध सामग्री का अधिक महत्त्व है। नए तथ्यों और नए शोध निष्कर्षों का वह आदर करता है, किंतु उसके लिए वे तब तक ग्राह्य नहीं होते, जब तक कि समय का प्रमाण-पत्र उन्हें प्राप्त न हो जाए। इसी प्रकार कृतियों तथा कृतिकारों की समीक्षा एवं मूल्यांकन में उसका अपना मौलिक दृष्टिकोण हो सकता है, जो आलोचना-क्षेत्र में निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है, परंतु इतिहास में एक सीमा से आगे उसका आग्रह करने से संतुलन भंग हो सकता है, इतिहास में तो समन्वयात्मक दृष्टिकोण और संतुलित विवेचन ही अधिक काम्य है।

भाषा साम्राज्य से दूसरी भाषाओं की मुक्ति और भाषा की प्रगति, वह दोनों महत्त्वपूर्ण चरण हैं, जो भारतीय साहित्येतिहास के मूल्यांकन के लिए आवश्यक हैं। इसके लिए चिंतन और आंदोलन दोनों ही चलते हैं, चलते रहने चाहिए जैसे खड़ीबोली साम्राज्यवाद में राजस्थानी, भोजपुरी, मैथिली की साहित्यिक संभावनाओं को देखना बहुत जरूरी है, शायद कुछ हद तक हम यह बात कर भी चुके हैं जैसे राजस्थानी, डोगरी, मैथिली आदि भाषाओं में साहित्य अकादमी पुरस्कार निश्चित किए जा चुके हैं और इन साहित्यकारों में हम नागार्जुन, मणिमधुकर जैसे बड़े साहित्यकारों का नाम ले सकते हैं इसी रास्ते से हम परिवेश की बात तक पहुँचते हैं। बंगला का उपन्यास, मराठी का नाटक, पंजाबी की कविता का स्वरूप तब तक नहीं समझा जा सकता है जब तक कि इन भूखंडों की राजनीतिक ऐतिहासिक चेतना को नहीं समझा जा सकता। इसलिए बिना परिवेश को जाने पंजाबी नाटक का मराठी नाटक से और बंगला उपन्यास से कश्मीरी उपन्यास का तुलनात्मक अध्ययन न करना बहुत ग़लत नतीजे पर पहुँचाएगा। इसलिए जब हम समूचे भारतीय साहित्येतिहास की बात करते हैं तो सही परिवेश की जरूरत और भी बढ़ जाती है।

विभिन्न भाषाओं के साहित्य के इतिहास लेखन में एक समस्या यह भी सामने आती है कि विभिन्न भाषाओं के साहित्यों में उचित प्रगति नहीं हुई। इसका कारण यह है कि इतिहास विधा की हमारे देश में विकसित परंपरा ही नहीं रही और आज भी हम इस दिशा में विशेष उन्नति नहीं कर पाए हैं। डॉ० नगेंद्र के मतानुसार, परिणाम यह है कि सौ से ऊपर ग्रंथों के प्रकाशन के बाद भी हिंदी में सर्वाधिक प्रामाणिक इतिहास आचार्य रामचंद्र शुक्ल का है, जिसकी रचना सन् 1929 में हुई है। विचारणीय बात यह है कि यह साहित्येतिहास एक प्रतिबद्ध (केवल एक नाम के लिए नहीं) साहित्यकार शुक्ल का लिखा हुआ है यहीं अंतर आता है। अकादमिक और बौद्धिक प्रतिबद्ध साहित्यकार की ऐतिहासिक सृजनधारा की ऐसी ही एक शृंखला है जैसी कि किसी सृजनात्मक लेखक की हो। आलोचक रामचंद्र शुक्ल प्रतिबद्ध आलोचक थे और इससे बड़ा आलोचक अभी तक कोई नहीं हुआ।

इसी प्रकार भारत की अन्य भाषाओं में भी ऐसा ही है। हमारी भाषाओं के साहित्यों में कई ग्रंथ ऐसे हैं, जो हस्तलिखित रूप में पड़े हुए हैं, और जिनका अभी प्रकाशन ही नहीं हुआ। इससे हमारे साहित्यों में निरंतरता की कमी दिखाई पड़ती है, जिसके फलस्वरूप भारतीय साहित्येतिहास लेखन में समस्या पैदा होती है।

मैनेजर पांडेय के मतानुसार— भारतीय साहित्य के इतिहास-लेखन का उचित रूप यह नहीं है कि विभिन्न भारतीय भाषाओं के साहित्य की सामान्य विशेषताओं को इकट्ठा कर दिया जाए या धर्म के आधार पर भारतीय संस्कृति को धारणा बनाकर उसकी व्यापकता की भारतीय साहित्य में खोज की जाए। भारतीय संस्कृति और साहित्य के इतिहास-लेखन के इस तरह के प्रयास अपनी असफलता की गवाही खुद दे रहे हैं। भारतीय साहित्य का इतिहास और उसके अंग के रूप में हिंदी साहित्य या किसी भी दूसरी भाषा के साहित्य का लेखन विभिन्न क्षेत्रों के समाज, संस्कृति भाषा और साहित्य के विकास की अवस्थाओं तथा वास्तविकताओं के आधार पर ही हो सकता है।

इसमें यह बात महत्वपूर्ण रही है कि मध्यकालीन साहित्य, जो अभी तक प्रकाश में नहीं आया, न तो उसको प्रकाश में लाए जाने की ज़्यादा उत्कंठा नज़र आती है और न शोध विद्यार्थियों को भी जानने के लिए उसकी जड़ तक जाना ज़रूरी है। उम्मीद है कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल की धारा भारतीय साहित्येतिहास-लेखन के लिए शुभ शकुन होगी।

वस्तुतः हम कह सकते हैं कि भारतीय साहित्य की विरासत, परंपरा तथा विशेषताओं को जानने के लिए भारतीय साहित्येतिहास-लेखन की आवश्यकता है। कुछ संस्थाएँ भारतीय साहित्येतिहास-लेखन में योगदान दे रही हैं, जैसे साहित्य अकादमी, नेशनल बुक ट्रस्ट तथा देश के विभिन्न भाषाओं के अध्ययन विभाग।

हमें सतर्क सिर्फ़ इस बात से होना है कि भारतीय शब्द की अवधारणा उसके सही परिवेश में होनी चाहिए और उसके लिए जनमानस से करीबी रिश्ता बहुत ज़रूरी है और उसके लिए भारतीय जनजातियों को एक महत्वपूर्ण स्थान देना पड़ेगा, जिसकी अभी तक परवाह नहीं की गई।

□ प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग
गुरु नानकदेव विश्वविद्यालय, अमृतसर

डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल के ग़ज़ल-साहित्य में जीवन-मूल्य

कुमारी हेमलता देवी (शोध-छात्रा)

डॉ० शंकरलाल शर्मा 'क्षेम'

अध्यक्ष हिंदी विभाग, आर०एस०एम० कॉलेज, धामपुर (शोध-निदेशक)

ग़ज़ल भले ही परंपरागत रूप से अरबी-फ़ारसी की देन रही हो, लेकिन ग़ज़ल आज साहित्य की एक सशक्त विधा के रूप में स्थापित हो चुकी है। ग़ज़ल वस्तुतः पूर्ण एवं कोमल काव्य-शैली है, जिसका सौंदर्य शिक्षित-अशिक्षित, स्त्री-पुरुष, अमीर-ग़रीब सभी के हृदयों को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। अब तो ग़ज़ल शोध-संगोष्ठियों से लेकर कवि-सम्मेलनों तक की शोभा बनी हुई है। पिछले कुछ दशकों में हिंदी-ग़ज़ल ने काव्य-जगत् में अपनी अच्छी-खासी पहचान बनाई है। ग़ज़ल जैसी कोमल विधा का सृजन केवल उर्दू में ही संभव है, इस धारणा का खंडन हिंदी-ग़ज़लकारों ने हिंदी में ग़ज़ल लिखकर किया है। हिंदी-ग़ज़ल अपने विभिन्न विकास-सोपानों को पार करके आज परिपक्व रूप प्राप्त कर चुकी है। वह समीक्षकों, विद्वानों और लेखकों के लिए तर्क-वितर्क, आलोचना और प्रत्यालोचना का विषय बनी हुई है। ग़ज़ल ने जन्म भले ही ईरान में लिया हो, मगर पोषित हिंदुस्तान में ही हुई है। ग़ज़ल ने किसी भी भाषा से ईर्ष्या नहीं की, वरन् उसे जिस भाषा के शब्द मिले, उन्हें अपना लिया और इस प्रकार उसका शब्द-भंडार बढ़ता चला गया। परंपरा-क्रम में हिंदी-ग़ज़ल उर्दू से और उर्दू में फ़ारसी से आई किंतु उसका मूल स्रोत अरबी शायरी ही है। अब धीरे-धीरे हिंदी में भी ग़ज़ल एक सशक्त विधा के रूप में स्थापित होती जा रही है और एक परंपरा बनकर हिंदी के वातावरण में अपनी अलग पहचान बना रही है। हिंदी-ग़ज़ल की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि उसने समसामयिक कथ्यों को स्वीकार किया है और वह महफ़िलों से निकलकर जन-चेतना से जुड़ गई है। इसमें वर्तमान में जी रहे आदमी की पीड़ा और समस्याओं को स्वर मिला है। हिंदी-ग़ज़ल आज के जन-जीवन को सही अभिव्यक्ति देने का माध्यम बन गई है। वह एकायामी न होकर बहुआयामी है। पिछले ढाई दशकों में जिन हिंदी-कवियों ने ग़ज़लें कहीं और ग़ज़ल के क्षेत्र में अपनी प्रतिभा से स्वयं को प्रभावित किया, उनमें डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल का नाम प्रथम पंक्ति के ग़ज़लकारों में सम्मानपूर्वक लिया जाता है। अब तक डॉ० अग्रवाल के 5 ग़ज़ल-संकलन प्रकाशित हो चुके हैं—

1. सन्नाटे में गूँज
2. भीतर शोर बहुत है
3. मौसम बदल गया कितना
4. रोशनी बनकर जिओ

5. शिकायत न करो तुम

एक समर्थ ग़ज़लकार के रूप में डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल आज हिंदी-जगत् में प्रतिष्ठित हो चुके हैं। यह उनकी अनवरत् मौन साधना का ही सुफल है। जीवन के उच्चतर मूल्यों के प्रति दृढ़ आस्था लेकर चलनेवाले आशावादी ग़ज़लकार के रूप में डॉ० अग्रवाल ने जो प्रतिष्ठा अर्जित की, वह निःसंदेह अभिनंदनीय है।

डॉ० अग्रवाल ने परंपरावादी न बनकर अपनी मौलिक सृजन-प्रतिभा का प्रदर्शन करना अधिक उचित समझा। उन्होंने यही प्रयास किया कि युग-विशेष के परिवेश तथा विचारों को अपने ढंग से प्रस्तुत किया जा सके। उनकी अधिकतर ग़ज़लों में सामाजिक परिवेश, मानवीय संबंधों के बीच आई कटुता, विषयों की गंभीरता, गहन विचारशीलता एवं शहरीकरण के परिणामस्वरूप गिरते मानवीय संबंधों एवं मूल्यों का बार-बार उल्लेख हुआ है, लेकिन हर बार उनका कथ्य नए अनुभवों को लेकर सामने आया है। उन्होंने केवल विषयों को ही महत्त्व नहीं दिया, बल्कि व्यक्त किए गए विषयों को कला में ढालने का सफल प्रयास भी किया है। प्रत्येक स्थिति में उन्होंने ग़ज़ल की वास्तविक लय, गति और उसकी बनावट को कहीं भी कृत्रिम नहीं होने दिया है। उनकी ग़ज़लों की यही सबसे बड़ी विशेषता है।

डॉ० अग्रवाल ने न केवल ग़ज़ल कही हैं अपितु उन्हें जिया भी है। उनकी ग़ज़लें गंभीर चिंतन एवं शिल्प-वैशिष्ट्य से परिपूर्ण हैं। उन्होंने अपने संपूर्ण ग़ज़ल-साहित्य में समाज के प्रत्येक पहलू को माध्यम बनाकर संसार को जाग्रत किया है। नगर से लेकर ग्रामीण, बाह्य दशाओं से लेकर आंतरिक, प्रसन्नता से लेकर पीड़ा, टीस आदि का वर्णन उन्होंने अपनी ग़ज़लों में किया। लुप्त होती हुई मानवता के प्रति उन्होंने इन शेरों के माध्यम से व्यंग्य करते हुए कहा है—

भीड़ के बीच में आदमी किस तरह,
टुकड़ा-टुकड़ा हुआ, लापता हो गया।¹
आदमीयत भी जाँचकर देखो
चेहरे-मोहरे को आदमी न कहो।²

औद्योगिक नगरों की व्यस्तता एवं भीड़भाड़ में मनुष्य अपनी ही पहचान खोता जा रहा है। मानवता से रहित ऐसे मनुष्यों का वर्णन डॉ० अग्रवाल ने बड़े ही सहज एवं स्वाभाविक ढंग से प्रस्तुत किया है। आज के वैयक्तिक रिश्ते-नाते वाष्प के समान निस्सार, क्षणिक अस्तित्वहीन एवं व्यावसायिक हो गए हैं। आज कुछ भी पहले जैसा नहीं रहा है। वर्तमान समय में परिचित मनुष्य भी पहचानने से इंकार कर देते हैं—

जब-जब हमने खोज निकाला, अपनेपन के रिश्तों को,
भूले-भूले से लगते थे, जितने परिचित चेहरे थे।³

आज की मशीनी ज़िंदगी की त्रासदी का अनुभव ग़ज़लकार के इस शेर में व्याप्त है—
एक पल संबंध तेरा, एक पल रोटी का सुख,
बस यह चक्कर मेरे जीवन का सफ़र होता गया।⁴

डॉ० अग्रवाल का यह शेर हम सभी के हृदयों से तादात्म्य स्थापित करने में समर्थ है—
हम छिपा लें स्वयं को यह संभव नहीं,
छेद ही छेद हैं घर की दीवार में।⁵

डॉ० अग्रवाल की गज़लें चिंतन की गहराई तथा भावपक्ष की परिपक्वता को लेकर सामने आई हैं। वे उनकी गज़लों का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक है, जिसमें व्यक्ति के आंतरिक अंतर्द्वंद्व को भी कुरेदने का प्रयास किया गया है। गज़लों के माध्यम से उन्होंने मानव की विवशता, मानव के मन की पीड़ा और संघर्षों से जूझते मनुष्य के अस्तित्व को उजागर करने का प्रयास भी किया है। इन गज़लों में गज़लकार अपने भीतर और बाहर, मनुष्य के अंदर और बाहर व्याप्त लौकिक व अलौकिक अंतर्द्वंद्व, संघर्ष, भावनाओं की कोमल अभिव्यक्ति तथा वर्तमान जगत् की सूक्ष्म से सूक्ष्म सच्चाइयों तक पहुँचने का संघर्ष करता हुआ उन्हें प्रत्यक्ष रूप से प्रकट करना चाहता है। गज़लकार ने आंतरिक नेत्रों से सांसारिक वास्तविकता को खोजने तथा उन वास्तविकताओं को समाज के सम्मुख लाने का भी प्रयास किया है। इनकी गज़लों में मानव-जीवन की कटुता भी है और यथार्थ सत्यता भी।

डॉ० अग्रवाल ने निर्धनों का शोषण करनेवाले धनवानों के प्रति कहा—
 धन-दौलत के कंगालों में, अपने मन की अमीरी ली,
 देख के नंगा सारे जग को, हमने ओढ़ फकीरी ली।⁶

गज़लकार ने स्वयं को दर्पण बनाकर उसमें सारे संसार के दुख-दर्द, टूटते-जुड़ते रिश्तों के बीच गुम होते हुए आदमी और संदर्भ तथा मानवीय पीड़ा व संवेदनाओं को देखा है। उन्होंने प्रत्येक व्यक्ति के दर्द को अपना दर्द समझा है। उन्होंने अपनी गज़लों में समाज के एक बड़े हिस्से को उकेरा है, अर्थात् आम आदमी की पीड़ा को बहुत ही बारीकी से अभिव्यक्त किया है। गज़लकार को केवल दर्द ही नहीं, वरन् दर्द के आधार की गहन अनुभूति भी है। यही कारण है कि उन्होंने साधारण मनुष्य की पीड़ा को समझा तथा उसे अनुभव किया और अपनी गज़लों के माध्यम से उन्हें अभिव्यक्ति प्रदान की।

आम आदमी का एकाकीपन बढ़ता ही जा रहा है। चारों ओर भीड़ है, लेकिन उस भीड़ में अपना कोई नहीं। प्रत्येक व्यक्ति उस अतीत को याद करता है, जो प्रेम, वत्सलता और अपनेपन से भरा हुआ था। अब तो केवल चिंता ही मानो मनुष्य की नियति बन गई है—

हँसी भी है, अधरों पे चिंता-भरी,
 वे मस्ती-भरे कहकहे अब कहाँ।
 हुए अपने-अपने में सीमित सभी,
 वे रिश्ते कहाँ, सिलसिले अब कहाँ।⁷

आज स्थिति यह है कि एक पड़ोसी दूसरे पड़ोसी का नाम तक नहीं जानता। मनुष्य अपने में सिमटता जा रहा है। एक समय था, जब सारा गाँव संबंधी हुआ करता था, परंतु आज कोई किसी को नहीं जानता। जीवन में व्यक्ति की जो विशेषताएँ हैं, उन्हें सराहनीय एवं स्वीकार्य नहीं कहा जा सकता, किंतु कवि का दायित्व है कि वह उन्हें समाज के सामने उजागर करे। डॉ० अग्रवाल ने इस दायित्व को पूर्ण रूप से निभाया है। उन्होंने अपनी गज़लों के माध्यम से आधुनिक जीवन की इन विवशताओं को गहराई के साथ खोजा है—

दृष्टि के विस्तार तक लावा ही लावा है यहाँ
 आग का पूरा समंदर तैर कर जाने को हूँ।⁸

जीते-जी तो अंत होता ही नहीं संघर्ष का
एक दरिया तय हुआ, फिर एक दरिया आ गया।⁹

डॉ० अग्रवाल के मन का ग़ज़लकार आदमी को भाषा, धर्म, जाति आदि को किसी भी नाम पर बँटते हुए नहीं देख सकता। वास्तविकता तो यह है कि प्रेम की सत्यता की तथा इंसानियत की राह में बहुत-सी कठिनाइयाँ आती हैं, लेकिन जो मनुष्य मुश्किलों से घबराकर हार स्वीकार कर ले, वह आदमी ही क्या? डॉ० अग्रवाल आदमी का आह्वान करते हुए कहते हैं—

ज़िंदगी जिसकी हो सिर्फ़ अपने लिए
वह भी क्या आदमी, वह भी क्या आदमी।¹⁰

डॉ० अग्रवाल की ग़ज़लों में जीवन के विविध अनुभवों की झाँकियाँ प्रस्तुत की गई हैं। गीत और ग़ज़ल को आत्मकेंद्रित अथवा व्यक्ति-केंद्रित बताकर ही काम नहीं चलेगा, क्योंकि उनकी ग़ज़लों में मानव-प्रेम और व्यक्तिगत प्रेम या रागात्मकता के अनेक सफल चित्र अंकित किए गए हैं—

अब तो ख़ाली शब्द हूँ अर्थों से हूँ बिछुड़ा हुआ,
तुम अधर पर मुझको रख लो तो दुआ हो जाऊँ मैं।¹¹
वो मित्रता, वो प्यार, वो सद्भावना, दुलार
बीते दिनों की कोई निशानी निकालिए।¹²

यहाँ एक ओर प्रेम की पावन कल्पना की गई है, जो ईश्वर-प्रार्थना से अभिन्न है, तो दूसरी ओर 'अधर पर मुझको रख लो' में मांसल प्रेम की ध्वनि भी निहित है। जिस प्रकार अर्थ से बिछुड़कर शब्द ख़ाली रह जाता है, उसी प्रकार प्रेम के अभाव में मानव-जीवन नीरस हो जाता है।

डॉ० अग्रवाल की ग़ज़लों में वर्तमान समय की वे सच्चाइयाँ, लोकरंग, लोकव्यवहार और व्यक्ति-चेतना के साथ उभरकर सामने आई हैं, जिन्हें झुठलाया नहीं जा सकता है। ऐसी ग़ज़लों में निश्चित रूप से सत्य उद्घाटित हुए हैं और ऐसे सत्यों को कालभ्रमित पीढ़ी भी नकार नहीं सकती है। उनकी ग़ज़लों में यद्यपि अपने समय की विसंगतियों, विडंबनाओं, शोषण, अनाचार, मूल्यहीनता, पाखंड, कुंठा, संत्रास, भय आदि सभी युग-प्रसंगों का समावेश है, तथापि वे ऐसे ग़ज़लकार हैं, जो इन विषयों को लेकर मात्र क्रंदन करके नहीं रह जाते। वे मानव के अंदर इन सभी दुर्विकारों के खिलाफ़ छिपी शक्ति को जगाने और उनसे संघर्ष करने को प्रेरित करते हैं।

डॉ० अग्रवाल के लिए 'जीवन' एक व्यापक और सार्थक अभिप्राय है और इस जीवन रूपी वस्त्र को धारण करनेवाला 'आदमी' उससे भी अधिक मूल्यवान है, क्योंकि वह सृष्टि की अनुपम रचना है। वस्तुतः लक्ष्यहीन जीवन निरर्थक है। उसे उपयोगी बनाने के लिए उच्च लक्ष्य को लेकर चलना है, वह भी पूर्ण आशा व आस्था के साथ, यही डॉ० अग्रवाल की ग़ज़लों का उच्च ध्येय है। समाज को आदमी के अनुकूल बनाना, उसके वैषम्य को समरसता में बदलना तथा निराशा के अंधकार में आशा को ज्योतित करने के इस प्रयास में डॉ० अग्रवाल पूर्णतः सफल रहे हैं। उनकी ग़ज़लें मानव को नई दिशा प्रदान करनेवाली हैं।

डॉ० अग्रवाल की दृष्टि जीवन के यथार्थ को पकड़ने में सक्षम है। जीवन के उत्थान-पतन, जगत् के विकास एवं विनाश को उन्होंने अपनी खुली आँखों से देखा है। यही

कारण है कि उनकी ग़ज़लों जीवन की यथार्थता से युक्त है।

डॉ० अग्रवाल ने अपनी अधिकांश ग़ज़लों के माध्यम से आशा की निर्मलता, संकल्प की दृढ़ता, उमंग की तरलता तथा अदम्य क्षमता से जीवन को सज्जित करने का संदेश देती है। उनकी ग़ज़लों को पढ़कर प्रतीत होता है कि ग़ज़लकार स्वयं विद्यमान है। वास्तव में ये ग़ज़लें ग़ज़लकार के जीवन का सच्चा लेखा हैं।

डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल के ग़ज़ल-साहित्य में वैयक्तिक जीवन-मूल्य

डॉ० अग्रवाल वैयक्तिक जीवन-मूल्यों को सर्वोपरि मानते हैं। उन्होंने अपनी ग़ज़लों में वैयक्तिक जीवन का गहन व सूक्ष्म वर्णन किया है। मावन-जीवन में व्याप्त धार्मिक संकीर्णता, मानवीय मूल्यों का विघटन, निर्धन वर्ग का शोषण, अत्याचार और संवेदना-रहित मनुष्यों को अत्यधिक समीपता से देखा है। उन्होंने भौतिकवादी दृष्टिकोण के कारण टूटते विश्वासों, बिखरते संबंधों, संवेदनाशून्यता तथा शोषण, अत्याचार व दुराचारण को दूर करने के लिए तथा मानव-मूल्यों को शाश्वत बनाए रखने के लिए ग़ज़ल-साहित्य को माध्यम बनाया। उन्होंने अपनी ग़ज़लों में जहाँ वैयक्तिक संकीर्णता, आर्थिक शोषण तथा सांप्रदायिकता का वर्णन किया, वहीं अंधविश्वासों, रूढ़िवादिता पर भी कटु व्यंग्य किया है। आतंकवाद, अलगाववाद, सामाजिक व्यवस्था के प्रति विद्रोह का स्वर, मानवीय मूल्यों का विघटन, छल-कपट से आहत मित्रता, जीवन के संघर्ष और आशावादी वास्तविकता आदि ने डॉ० अग्रवाल की ग़ज़लों को स्वरूप व आकार प्रदान किया। ग़ज़ल-परंपरा के अनुरूप डॉ० अग्रवाल ने स्वयं को समाज के आदमी से जोड़ा है। उनकी ग़ज़लें वास्तव में समाज व वैयक्तिक मूल्यों का एक दर्पण हैं। आज वैयक्तिक जीवन-मूल्य क्षीण होते जा रहे हैं, भौतिकता के पीछे भाग रहे लोग संवेदनाशून्य होते जा रहे हैं। परस्पर विश्वास के संबंधों को भी शंका की दृष्टि से देखा जा रहा है, आज का मनुष्य पैसे को ही सब कुछ समझता है। उसके लिए सिर्फ़ पैसा ही सब कुछ बन गया है :

ज्ञान तो है दोस्तो, लेकिन यहाँ पैसा कहाँ,
शहर में चालाकियों के, मैं कहाँ, दुनिया कहाँ।¹³
इतनी हलचल है, फिर भी उदासी है क्यों
इतना वीरान क्यों है शहर देखिए।¹⁴

इस समाज में ज्ञान की अपेक्षा केवल पैसे को ही महत्त्व दिया जा रहा है। आज पैसा ही लोगों के जीवन में मुख्य बन चुका है, जिसके कारण मानवीय मूल्य अस्तित्वहीन हो रहे हैं। पैसे के लिए मनुष्य कुछ भी करने के लिए तत्पर है। वह जीवन-मूल्यों का हनन कर रहा है—

ये हमारी झूठ में लिपटी हुई मुस्कान है,
क्या ख़बर है ज़िंदगी में आदमी सच्चा कहाँ।¹⁵

इस समाज में चारों ओर केवल झूठ ही फैला हुआ है। समाज में सच्चाई न जाने कहाँ लुप्त हो गई है? बनावटी चेहरों पर कृत्रिम हँसी व्याप्त है, जिसे पहचानना अत्यधिक कठिन है—

ज़रा हित जो बदला तो बदली नज़र,
तुम्हारी मुहब्बत दिखावे की थी।
जो संबंध टूटे तो इस खेल में,
कहो भूमिका कितने पैसे की थी।¹⁶

वर्तमान समय में धन का महत्त्व बढ़ता ही जा रहा है, ऐसे में वैयक्तिक जीवन-मूल्य महत्त्वहीन होते दिखाई दे रहे हैं। धन और जायदाद को लेकर पिता और पुत्र, भाई-भाई और सगे-संबंधियों में भी जंग छिड़ी हुई है। डॉ० अग्रवाल संबंधों के टूटने का जिम्मेदार इसी पैसे को मानते हैं, जिससे मानवीय मूल्य पतित होते जा रहे हैं।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् हमारे जीवन में एक बिखराव-सा आ गया है, जिसके परिणामस्वरूप संयुक्त परिवार-व्यवस्था टूटने लगी है। जब साहित्यकार अभिव्यक्ति के क्षणों में स्वयं को नितान्त अकेला मानकर अपनी व्यक्तिगत कुंठा, निराशा, घुटन तथा आशा-आकांक्षा आदि का चित्रण करने लगे तो निश्चय ही उसकी यह अभिव्यक्ति वैयक्तिक जीवन-मूल्य की सीमा में आ जाती है। वस्तुतः आधुनिक गृहल-साहित्य आज के मानव की विशिष्टता से उद्भूत उस लघु मानव के लघु-परिवेश की अभिव्यक्ति है, जो एक ओर आज की समस्त तिवक्तता और विषमता को तो भोग ही रहा है, साथ ही उन समस्त तिवक्तताओं के बीच अपने व्यक्तित्व को भी सुरक्षित रखना चाहता है।

गृहलकार ने समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार, शोषण, धोखा, अत्याचार तथा इस बनावटी समाज को बहुत निकटता से देखा है—

मित्रता का ओढ़कर भारी लबादा
मित्रता को नोचकर खाने लगे हैं।

गूँजती है चीख-सी मेरी रगों में,
सामयिक अनुभव मुझे भाने लगे हैं।

आग का दरिया दिलों तक दौड़ता है,
टूटते रिश्ते गृहल ढाने लगे हैं।¹⁷

डॉ० अग्रवाल ने उक्त शेरों में वैयक्तिक जीवन में विद्यमान उस मित्रता पर तथा उन टूटते बिखरते संबंधों पर करारा व्यंग्य किया है, जिसके कारण वैयक्तिक जीवन-मूल्य खंडित हो रहे हैं। यह एक कटु सत्य है कि वर्तमान समय में आज के रिश्ते-नाते चाय के गर्म प्याले से निकलकर अदृश्य होती हुई वाष्प के समान निस्सार, क्षणिक, अस्तित्वहीन एवं व्यावसायिक हो गए हैं। डॉ० अग्रवाल ने वैयक्तिक जीवन-मूल्यों का खंडन करनेवाली मित्रता को व्यापार बताया है। आज अपने ही अपने से अलग होने लगे हैं—

जो मुझको छल रहा है, मेरा यार ही तो है,
यह मित्रता भी शहर में व्यापार ही तो है।

यह क्या हुआ कि फ़ासले इतने बढ़ा लिए
इन दो घरों के बीच में दीवार ही तो है।¹⁸

स्वार्थों से युक्त इस दुनिया में जहाँ अनेक मनुष्य मात्र अपने लिए और अपने हितों के लिए सुरक्षा रूपी छतरियाँ लिए जी रहे हैं, वहीं स्वार्थी छतरीधारी भीड़ में एक व्यक्ति ऐसा भी है, जो अपनी सुरक्षा के लिए छतरी उपलब्ध करने की सामर्थ्य रखते हुए भी उस वर्षा में भीग रहा है और अपना दामन तर कर रहा है। वह आदमी है हमारा गृहलकार, जिसने हास होते

हुए वैयक्तिक जीवन-मूल्यों को रोकने का प्रयास किया—

लोग सारे अपने हाथों में लिए थे छतरियाँ,
बस मेरा कुरता ही इस बारिश में तर होता गया।¹⁹

यह वर्षा सामान्य बादलों की वर्षा नहीं, वरन् मानव के हास की वर्षा है। मानव-जीवन में बहुत क्षण ऐसे होते हैं, जब व्यक्ति को अपने आँसू पीने के लिए विवश होना पड़ता है। पत्थर का टूटकर रेत की तरह बिखरना शायद चिंता का विषय न हो किंतु आदमी का विषय है। यहाँ गज़ल की वे पंक्तियाँ उद्धृत की जा रही हैं, जो इसी तथ्य को स्पष्ट कर रही हैं—

रेत केवल रेत मेरी दृष्टि के विस्तार तक
आदमी शायद यहाँ आँखों का पानी पी चुका।²⁰

बूँद का सारा हुनर सागर को पी जाने में है
पेड़ जो बरगद का है, बारीक से दाने में है।²¹

डॉ० अग्रवाल ने यहाँ मनुष्य की उस विवशता का वर्णन किया, जो व्यक्ति के हृदय को भी आहत कर देता है। वर्तमान समय में मनुष्य, मनुष्य के दुःख को देखकर व्यथित नहीं होता, बल्कि उसकी विवशता को देखकर मुस्कराता है—

मुस्कराहट एक पल की भी मिले तो कम नहीं,
आँसुओं के इस नगर में मैं जिसे खो ही चुका।²²

आज मानवता क्षीण हो चुकी है, मानवीय पतन हो रहा है, यदि हम किसी व्यक्ति को एक पल की हँसी दे दें तो वह बहुत है। लेकिन आँसुओं और पीड़ा को देखकर भी मानव दुःखी नहीं होता, क्योंकि आज मानवता पूर्णतः लुप्त हो चुकी है।

डॉ० अग्रवाल ने वैयक्तिक जीवन-मूल्यों की प्रत्येक वास्तविकता का वर्णन किया है। उन्होंने व्यक्ति के जीवन को बड़ी समीपता से देखा और अत्यधिक सूक्ष्मता व गहनता से उसे परखा तथा अपनी गज़लों में उन्हें अभिव्यक्ति प्रदान की। निर्धन वर्ग से लेकर उच्च वर्ग तक उनकी पारखी दृष्टि से कोई नहीं बच पाया।

ग़रीब मनुष्य के मन में भी स्वाभाविक रूप से इच्छाएँ तो जाग्रत होती हैं, लेकिन धन व संसाधनों के अभाव में वह बेचारा अपना मन मसोसकर रह जाता है। इसका उदाहरण एक बालक से देते हुए डॉ० अग्रवाल ने कहा है—

नित नए सुंदर खिलौने, मन में केवल लालसा,
मैं भी मेले का मचलता, नासमझ बालक हुआ।²³

यहाँ मेले में सुंदर खिलौने को देखकर मचलते हुए बालक से लाचार आदमी की तुलना करते हुए डॉ० अग्रवाल ने निर्धन व्यक्ति की निर्धनता का वर्णन किया है।

एक अन्य शेर में डॉ० अग्रवाल ने 'अन्न' को प्रतीक के रूप में प्रयोग कर ग़रीब की भूख का बहुत ही मार्मिक एवं यथार्थ चित्रण किया है। वास्तव में निर्धन की सबसे बड़ी विवशता उसकी भूख है—

सारी दुनिया जाल लिए थी, मन-पंछी था उलझन में,
अपने आपको गिरवी रखकर, 'अन्न' का मोल चुकाना था।²⁴

मानव के वैयक्तिक मूल्य उसके भावों द्वारा ही अभिव्यक्ति पाते हैं। मूल्यों के निर्माण में भावों की प्रधानता होती है और भावों में रस होते हैं। यही भावात्मक रस विभिन्न वैयक्तिक मूल्यों को स्थापित करते हैं। समाज में व्यक्ति का मूल्य होता है और सामाजिक मूल्यों से वैयक्तिक मूल्य प्रभावित होते हैं। ऐसा नहीं है कि केवल सामाजिक मूल्य ही वैयक्तिक मूल्यों को प्रभावित करते हैं। वैयक्तिक मूल्य भी कुछ सीमा तक सामाजिक मूल्यों को प्रभावित तथा परिवर्तित करते हैं। व्यक्ति के भाव एवं विचार प्रेम, वात्सल्य, संयोग, उत्साह, शोक, आश्चर्य, हास्य, भय, क्रोध एवं भक्ति के रूप में व्यक्त होते हैं। वैयक्तिक मूल्य इन्हीं विचारों के माध्यम से विभिन्न रूपों में स्थापित हो जाते हैं।

डॉ० अग्रवाल की गज़लों में वैयक्तिक जीवन सर्वत्र सामने आया है। उन्होंने प्रत्येक वैयक्तिक जीवन-मूल्य का अति सूक्ष्मता से वर्णन किया है—

आने वाले! गाँव से, मत ढूँढ हमजोली को अब
शहर की इस भीड़ में, अब कौन अपना रह गया।²⁵

किसी में भी परायापन नहीं है
निराशा के सिवा दुश्मन नहीं है।

सुगंधित गर न हो तो फूल क्या है
नहीं आशा तो फिर जीवन नहीं है।²⁶

नगरीय परिवेश में ग्रामीण परिवेश की अपेक्षा वैयक्तिकता पूर्णतः लुप्त हो चुकी है। कोई भी किसी के दुख दर्द में साथ नहीं देता—

भीड़ में गुम हो गया अहसास का सारा जहाँ,
तेरा आलिंगन भी अब पत्थर का बोसा हो गया।²⁷

अँधेरों से बाहर निकलता नहीं है
वो मन क्या जो दुःख में बहलता नहीं है।²⁸

इन दोनों शेरों में शहर से विदा होते हुए 'अपनेपन', मित्रता के पर्दे में धोखाधड़ी और बढ़ती हुई भीड़ में भावनाओं की जिस मौत का दुख डॉ० अग्रवाल ने व्यक्त किया है, वह हमारे इस युग की ऐसी सच्चाई है, जिसे झुठलाना आसान नहीं है। यह अनुभव हमारे युग में सभी व्यक्तियों का साझा अनुभव बनकर सामने आया, लेकिन गज़लकार ने इस साझा अनुभव पर वैयक्तिक जीवन-मूल्य की अमिट छाप अंकित की—

यूँ तो दुनिया है वही, पहचान लेकिन मिट गई,
मन से चाहत, फूल से उसकी महक जाती रही।²⁹

यह एक ऐसी स्थिति है, 'जहाँ भीतर शोर बहुत है' मगर आदमी सतह पर शांत बना हुआ है या बने रहने की चेष्टा कर रहा है।

डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल ने इस आदमी को विभिन्न कोणों से देखने-समझने-तराशने की कोशिश गज़लों के अनेक शेरों में शिद्दत से की है। वे पग-पग पर आदमी को आदमी बनाने तथा उनके वैयक्तिक जीवन-मूल्यों को बनाए रखने की पुरजोर कोशिश करते दिखाई देते हैं। आज का आदमी कितने ही मुखौटे लगाए हुए दिखाई देता है। उसकी कथनी और करनी

के बीच की खाई निरंतर गहरी और गहरी होती जा रही है। कितने ही रूपों में बँटा हुआ यह व्यक्ति मानवता के साथ-साथ अपनी पहचान भी खोता जा रहा है—

भीड़ थी लेकिन कोई परिचित नज़र आता न था,
हर तरफ़ थे आदमी और रास्ते ही रास्ते।³⁰

गज़लकार डॉ॰ अग्रवाल मनुष्यों को समझाने के लिए तथा मानवता जगाए रखने के लिए अपने शेरों को प्रार्थना में ढालते हुए कहते हैं—

खेत ख़ाली पड़े हुए हैं यार
आदमीयत में आदमी बो दो।

यूँ तो जीवन का अर्थ तुमसे है
मेरे अंदर भी ज़िंदगी बो दो।³¹

भूख जीवन का एक यथार्थ है। हमारे देश में लाखों लोग भूखे सो जाते हैं। कवि ने इस यथार्थ को इस प्रकार प्रकट किया है—

बेलन चकला चिमटा लोटा बेफिक्री से सोए हैं,
चावल ने थाली को डाँटा चूल्हा भी हड़ताली है।³²

चूल्हा जलना घर में एक उत्सव के समान है और भूखा रह जाना विवशता में की गई हड़ताल है। निर्जीव वस्तुओं का मानवीकरण करके डॉ॰ अग्रवाल ने मानव विवशता की ओर संकेत किया है।

डॉ॰ अग्रवाल ने अपनी ग़ज़लों में संसार के दुख-दर्द, टूटते-जुड़ते रिश्तों के बीच गुम होते हुए आदमी, जीवन के अनेक संदर्भ, मानवीय पीड़ाएँ तथा संवेदनाओं को अभिव्यक्ति प्रदान की है। ग़ज़लकार ने स्पष्ट किया है कि मनुष्य का जीवन केवल स्वयं के लिए ही नहीं मानव-जीवन सार्थक तब होता है, जब वह स्वयं के साथ-साथ दूसरों की भी सेवा करता है—

ज़िंदगी को किसलिए घाटे का सौदा मान लूँ
सिर्फ़ खोना ही नहीं, जीवन में कुछ पाना भी है।

भरोसा हो तो उड़ती रेत से बौछार निकलेगी,
जो तुम पत्थर को तोड़ोगे तो जल की धार निकलेगी।³³

हमारे आँसुओं की तह में भी चिंगारियाँ होंगी,
हमारी चीख़ के अंदर से भी हुंकार निकलेगी।³⁴

आदमी बनकर जीने के लिए यह आवश्यक है कि हमारी ज़िंदगी स्वयं तक ही सिमटकर न रह जाए। मनुष्य को अपना जीवन तुच्छ स्वार्थों की पूर्ति में नहीं लगाना चाहिए। मानव-जीवन सार्थक तभी है जब वह स्वयं के साथ-साथ दूसरों का भी हित करें, क्योंकि दूसरों की सेवा में ही जीवन का आनंद निहित है—

धूप बनकर फैल जाओ, चाँदनी बनकर जिओ,
घुप अँधेरा छा न जाए, रोशनी बनकर जिओ।

आज तक जीते रहे हो, अपनी-अपनी जिंदगी,
दोस्तो! इक-दूसरे की जिंदगी बनकर जिओ।

आदमी के रूप में पैदा हुए तो क्या हुआ?
बात तो तब है कि सचमुच आदमी बनकर जिओ।³⁵

मत पूछिए ये बात कि क्या-क्या नहीं छोड़ा
जीवन में कभी हमने भरोसा नहीं छोड़ा।³⁶

इस प्रकार ग़ज़लकार डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल वैयक्तिक जीवन-मूल्यों की अभिव्यक्ति अधिक प्रभावी ढंग से करने में इसलिए अधिक सफल हुए हैं, क्योंकि उन्होंने समाज में व्याप्त, धोखा तथा छल आदि को बहुत ही निकट से देखा है।

डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल के ग़ज़ल-साहित्य में सामाजिक जीवन-मूल्य

डॉ॰ अग्रवाल ने सामाजिक जीवन को बड़ी निकटता से देखा है। उन्होंने स्वयं को समाज से जोड़ा तथा सामाजिक जीवन-मूल्यों को सशक्त अभिव्यक्ति प्रदान की। उनकी ग़ज़लों में सामाजिक संकीर्णता, सांप्रदायिकता, अंधविश्वास, अलगाववाद, सामाजिक व्यवस्था के प्रति विद्रोह का स्वर, सामाजिक मूल्यों का विघटन तथा सामाजिक होते हुए भी मनुष्य के एकाकीपन को अभिव्यक्त किया गया है। भौतिकवाद के पीछे दौड़ता आज का समाज संवेदनाहीन होता जा रहा है। उसकी संवेदनाएँ मृत हो चुकी हैं। भौतिकवादी दृष्टिकोण के कारण टूटते-बिखरते रिश्ते और विश्वास आज के समाज का कटु सत्य हैं, जिन्हें नकारा नहीं जा सकता। आज का मनुष्य समाज की चिंता न करते हुए सिर्फ़ अपने लिए जीता है। वह सामाजिक संबंधों को भूल चुका है। वह पत्थर हो गया है। इस संबंध में डॉ॰ अग्रवाल की ग़ज़ल का यह शेर देखिए—

रोगी विश्वासों की दुनिया अनुमानों पर निर्भर है,
भौतिकता के नागपाश में कीमत क्या मुस्कानों की।³⁷

यहाँ साधनों पर सफलता है निर्भर
न हो तेल तो दीप जलता नहीं है।³⁸

इस शेर के माध्यम डॉ॰ अग्रवाल ने उन मुनष्यों पर व्यंग्य किया है, जो भौतिकता रूपी माया-जाल में बँधे सामाजिक सुख-दुःख को नहीं देखते। जो जानने के बाद भी अनजान बने हुए हैं। आज का मानव सत्य को त्यागकर असत्य, धर्म को त्यागकर अधर्म तथा सामाजिकता को त्यागकर असामाजिकता को अपना रहा है। वर्तमान समाज में धार्मिक संकीर्णताओं के फलस्वरूप उत्पन्न हुए भेदभाव के कारण इंसान अब इंसान न रहकर हिंदू, मुसलमान व इसाई के नाम पर आपस में लड़ता है। परिणामतः सामाजिक एकता खंडित हो रही है। समाज में धर्म के नाम पर सांप्रदायिकता की आग लगी हुई है। मजहब के ऐसे विकृत रूप को अस्वीकार करते हुए डॉ॰ अग्रवाल कहते हैं—

छोटी-छोटी बातों पर जब होती है तकरार नई,
तुम्हीं बताओ यारो मजहब कितना अच्छा लगता है।³⁹

समाज में छोटी-छोटी बातें विवाद का करण बनी हुई हैं, जो चाहे जैसा चाहे करता है। सामाजिक तथ्यों की ओर तो कोई ध्यान ही नहीं देता। इस समाज में जो कुछ पहले था,

वह ही ठीक था और जो कुछ नया है वह अच्छा नहीं है, ऐसी सोच प्रगति में बाधा उत्पन्न करती है, जबकि सच तो यह है कि मनुष्य को कभी भी सामाजिक प्रगति से मुँह नहीं मोड़ना चाहिए। जैसे-जैसे औद्योगीकरण बढ़ रहा है, शहरीकरण में वृद्धि हो रही है, समाज अर्थप्रधान होता जा रहा है, भौतिकवादी दृष्टिकोण अपनी पकड़ मजबूत करता जा रहा है, वैसे-ही-वैसे समाज में स्थापित सामाजिक मूल्य एक-एक करके मनुष्य का साथ छोड़ते जा रहे हैं। गज़लकार डॉ० अग्रवाल ने सामाजिक स्तर पर हो रहे इस परिवर्तन को गहराई के साथ महसूस किया और इस परिवर्तन को अपनी गज़लों में अभिव्यक्ति प्रदान की। इस संबंध में कुछ शेर प्रस्तुत हैं—

हम सैलानी घूम रहे थे, अच्छी दुनिया पाने को,
जितने रस्ते हमने देखे, सब ही उलझे-उलझे थे।⁴⁰

शोर है वातावरण में मौन संवेदन में है,
आग धरती पर लगी है, हाथ सम्मोहन में है।

धमनियों में द्वेष का नीला रुधिर पिघला हुआ,
भाव बौने हो गए हैं, चेतना बंधन में है।⁴¹

यहाँ के लोग कभी निष्कपट भी होते थे,
हमें सुना तो सही अब कोई कथा, योगी।⁴²

इन सभी शेरों में डॉ० अग्रवाल ने उन सामाजिक जीवन-मूल्यों का वर्णन किया है, जो आज दिन-प्रतिदिन लुप्त होते जा रहे हैं। सामाजिक मूल्यों के स्तर पर डॉ० अग्रवाल की दृष्टि से कुछ भी नहीं बच पाया है। उनकी दृष्टि गाँव से लेकर नगर, नगर से लेकर महानगर तक व्याप्त है। उन्होंने इस समाज में घटित होते हुए, जो कुछ देखा, उसे गज़ल बनाकर पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया तथा उन्हें सचेत भी किया। डॉ० अग्रवाल ने सामाजिक जीवन-मूल्यों को जीया और अनुभव भी किया। जब-जब डॉ० अग्रवाल इन मूल्यों के हास के विषय में सोचते हैं, तब-तब इनका मन व्यथित हो उठता है। न तो गज़लकार शहर के विरुद्ध है और न ही गाँव के, वह तो इस समाज में व्याप्त अत्याचार, बाज़ारवाद, सामाजिक पतन, मानवीय पतन व टूटते संबंधों से पीड़ित है, जो सामाजिक जीवन-मूल्यों को आगे नहीं बढ़ने दे रहे हैं। गज़लकार ने सामाजिक मूल्यों को बनाये रखने के लिए ऐसे अनेक शेर कहे जो पाठकों व श्रोताओं पर सीधा व प्रत्यक्ष प्रभाव डालते हैं।

डॉ० अग्रवाल ने ग्रामीण व नगरीय दोनों परिवेश को देखकर ही अपनी गज़लों में सामाजिक मूल्यों का वर्णन किया। उनका कहना है कि ग्रामीण परिवेश की अपेक्षा नगरीय परिवेश में सामाजिक मूल्यों का हास अधिक हो रहा है। लेकिन आज गाँव में भी इतने फ़ासले हो गए हैं कि कोई एक-दूसरे से बिना कार्य के बात ही नहीं करता। चारों ओर अराजकता का स्वर सुनाई देता है। गाँव के इस रूप को डॉ० अग्रवाल ने यहाँ इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

हम वसीयत लिखाते रहे प्यार की,
दुश्मनी के बने सिलसिले गाँव में।

शहर हावी हुआ इस तरह से यहाँ,
गाँव से हो गए फासले गाँव में।⁴³

ये देखिए गतिवान है, निर्माण के बाजू,
लौटेगा तो अब गाँव में मलवा न मिलेगा।⁴⁴

गाँव में भी शहर के समान ही आज परस्पर दूरियाँ बढ़ती जा रही हैं। किसी-न-किसी विषय को लेकर विवाद, मार-पिट्टाई आदि ने शहर को विभाजित कर दिया है। इतना ही नहीं डॉ॰ अग्रवाल का यह चिंतन गाँव से निकलकर शहर के बाज़ार तक तथा शहर के बाज़ार से भी आगे निकलकर बाज़ारवाद तक भी पहुँचा है। इस बाज़ारवाद को वैश्वीकरण के युग का नया खुदा माना जा रहा है, जिसके विषय में व्यापक भ्रांति है कि यह विश्व की सारी कठिनाइयाँ दूर कर देगा। डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल ने इस स्थिति पर व्यंग्य करते हुए लिखा है—

रोशनी थी, दुकानें थीं, बाज़ार थे,
जेब कंगाल थी, हम खरीदार थे।⁴⁵

अवतार देवता सब उपभोग के लिए है,
बाज़ार कल था, अब है बाज़ारवाद भाई।⁴⁶

शहरीकरण तो ठीक है, लेकिन यह ध्यान रख
पुरवा हवा हो, बाग हो, घर हो, घटा भी हो।⁴⁷

शहर में रोशनी है, दुकानें हैं बाज़ार है, लेकिन बाज़ार में खड़े ग्राहक की जेबें रुपयों से बिल्कुल खाली है। सामान खरीदने के लिए उसकी जेबों में रुपये तक नहीं हैं। यहाँ डॉ॰ अग्रवाल ने ग्राहक की अति दयनीय स्थिति का वर्णन किया है। सामाजिक एवं नैतिक मूल्यों के प्रति हमारी आस्थाएँ टूटती एवं बिखरती जा रही हैं, परंतु पारम्परिक संस्कार उन आस्थाओं से जुड़े रहने के लिए मानव को प्रेरित कर रहे हैं, जिसके फलस्वरूप सामाजिक जीवन-मूल्यों का अस्तित्व बना रहे। डॉ॰ अग्रवाल के ये शेर इस तथ्य को प्रस्तुत करते हैं—

नास्तिकता में छिपी श्रद्धा से परिचित कौन है,
शक की धरती से उगे विश्वास का ज्ञाता है कौन।⁴⁸

सहयात्री से प्रेम, उधर राह की परख
अच्छा है साथ ज्ञान भी हो, भावना भी हो।⁴⁹

सामाजिक जीवन-मूल्यों को खंडित करनेवाले कुछ लोग ऐसे भी हैं, जिनका विश्वास नहीं किया जा सकता। जो हमारी आस्थाओं को तोड़कर बिखेर रहे हैं, आपस में विवाद करा रहे हैं। उन लोगों में से एक हैं, धर्म के ठेकेदार जो धर्म के नाम पर समाज को भेदभाव एवं छुआछूत की शिक्षा दे रहे हैं। ये लोग यह नहीं सिखाते कि इन बदलती धार्मिक व सामाजिक संकीर्णताओं को किस प्रकार नियंत्रित किया जा सकता है। विद्वान, धर्माचार्य और मौलवी भी सामाजिक जीवन-मूल्यों को बनाए रखने के स्थान पर अपने भाषणों से सांप्रदायिक वैमनस्य को फैलाने का ही काम कर रहे हैं। डॉ॰ अग्रवाल ने इन सब पर कटु व्यंग्य किया। उनका यह शेर इसी भाव को प्रकट कर रहा है—

मज्जहब की धरती में विष का बीज लगाता है,
द्वंद्वों की खेती करता है, पंडित मन अपना।⁵⁰

धर्म को संकीर्ण दायरे में कैद करने वाले ढोंगी लोग धर्म का मतलब ही नहीं समझ पाए। वास्तविक सच्चा धर्म है—मानव-धर्म और इनका वास्तविक कार्य है सामाजिक जीवन-मूल्यों को बनाए रखना। लेकिन ऐसा नहीं है। डॉ० अग्रवाल ने इस व्यंग्य को स्वयं पर किया तथा उन लोगों को सामाजिक मूल्य बनाए रखने की प्रेरणा प्रदान की।

डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल के गृजल-साहित्य में आर्थिक जीवन-मूल्य

डॉ० अग्रवाल की गृजलों में आर्थिक जीवन-मूल्य को अनेक प्रकार से अभिव्यक्ति मिली है। आज समाज की संवेदना लुप्त होती जा रही है। डॉ० अग्रवाल ने आर्थिक त्रासदी का वर्णन अपनी गृजलों में किया है। उन्होंने किसानों के शोषण, निर्धन वर्ग की पीड़ा, उनकी आर्थिक दयनीय स्थिति, पूँजीपतियों द्वारा गृरीबों पर किए गए अत्याचार तथा सर्वहारा वर्ग के दर्द का गहराई से अनुभव किया है। डॉ० अग्रवाल जानते हैं कि आज सभी स्थानों पर निर्धनों का शोषण किया जा रहा है। इतना परिश्रम करने के बाद भी क्यों उन्हें अत्याचार व शोषण की आग में झोंक दिया जाता है।

आज भी ऐसे बहुत से लोग हैं, जो गृरीबी के कारण भूख से तड़पकर अपने प्राणों को त्याग रहे हैं। गृरीबी की हालत में मनुष्य के अपने मित्र, रिश्तेदार और यहाँ तक कि सगे-संबंधी भी उससे बचने लगते हैं, ऐसे समय में कोई भी उसका साथ नहीं देता। गृरीब अकेला, निस्सहाय अपनी निर्धनता पर आँसू बहाता रहता है। उस समय यदि गृरीब के घर कोई आता है तो वह है मात्र साहूकार, जिसके कर्ज से निर्धन व्यक्ति दबा हुआ है। निर्धन की आर्थिक बदहाली का चित्रण करते हुए डॉ० अग्रवाल के यहाँ बेहतरीन शेर द्रष्टव्य है—

ढहने ही वाला है यह दालान अब,
बाँध लूँ इस घर से भी सामान अब।

कर्ज वाले दे रहे हैं दस्तकें,
द्वार पर आता नहीं, मेहमान अब।⁵¹

नहीं हैं चाहतें जिसमें, नहीं अपनायतें जिसमें
वो इंसों लाख घर में हो, मगर बेघर ही रहता है।⁵²

यदि निर्धन पर किसी का थोड़ा सा भी कर्ज होता है, तो साहूकार यही सोचता है कि इसके घर में जो भी सामान रखा हुआ है, उसे ही बाँधकर ले चले ताकि कुछ पैसा तो मिले। ऐसे गृरीब व्यक्ति की मार्मिक स्थिति पाठक को झकझोरकर रख देती है। लोग गृरीबों का साथ क्यों नहीं देते, ऐसे समय में उसके अपने सगे-संबंधी भी क्यों उस बेचारे से रिश्ता तोड़ लेते हैं। इन शेरों में डॉ० अग्रवाल ने गृरीब आदमी के घर में बैठी उस गृरीबी का वर्णन किया है, जो गृरीब व्यक्ति को चिंता की आग में जला देती है और वह मरने के लिए विवश हो जाता है।

दिन-रात बरसती रहती है, सूखे में भी छत घर की,
अब किस-किस को बतलाऊँ मैं, कैसी है हालत घर की।

भूख यहाँ सपने बुनती है, सर्दी लोरी गाती है,
इच्छाएँ होली-सी जलती, हालत यह औसत घर की।⁵³

हम छिपा लें स्वयं को ये संभव नहीं,
छेद ही छेद हैं, घर की दीवार में।⁵⁴

उपर्युक्त शेरों में डॉ० अग्रवाल ने एक ऐसे घर का वर्णन किया है, जहाँ गरीबी न जाने कितने समय से जमकर बैठी है और वहाँ से जाने का नाम ही नहीं लेती। यहाँ एक ऐसे टूटे-फूटे घर का वर्णन किया गया है, जो वर्षा न होने पर भी बरसती रहती है अर्थात् छत टूटी हुई होने के कारण उससे थोड़ी-थोड़ी मिट्टी गिरती रहती है उस घर की दीवारों में भी इतने छेद हैं, जहाँ व्यक्ति घर होने पर भी स्वयं को उससे छिपा नहीं सकते। उस घर की आर्थिक स्थिति ऐसी है कि किसी से कुछ भी बताया नहीं जा सकता। वहाँ के परिवार वाले भूख से तड़पते रहते हैं, उन्हें सर्दियों में बिस्तर तक नहीं मिल पाते। इच्छाएँ तो हर किसी व्यक्ति के मन में होती है लेकिन धन का अभाव होने के कारण वे इच्छाएँ होली के समान जलने लगती हैं अर्थात् पूरी नहीं हो पातीं। उस घर की आर्थिक स्थिति का वर्णन पाठक की संवेदनाओं को झकझोर कर रख देता है—

आँखों की भाषा कहती है, मौन हुआ जिसका गहना,
मन की बातें मन में रखती, बेचारी औरत घर की।⁵⁵

दर्द का सारा गणित मासूमियों की देन है,
मत कहो आँसू बहुत हैं, कहकहे भी कम नहीं।⁵⁶

आर्थिक स्थिति से संतप्त पुरुष ही नहीं, वे स्त्रियाँ भी हैं, जो किसी से कुछ भी नहीं कह पातीं लेकिन उनकी आँखें उनके मन में छिपी उस पीड़ा को स्पष्ट कह देती हैं। वे स्त्रियाँ यदि किसी से कुछ कहें भी तो क्या? उनकी यह स्थिति उन्हें चुप रहने के लिए विवश कर देती है और वे सबकुछ सहन कर लेती हैं।

आर्थिक विषमताजन्य यह निर्धनता आधुनिक समय में आम आदमी के लिए एक अभिशाप बन चुकी है। इस निर्धनता ने गरीबों को तोड़कर रख दिया है। आजादी के 60 वर्षों बाद भी आज इस समाज में ऐसे निर्धनता से पीड़ित बहुत से मनुष्य हैं, जो भूखे, व्याकुल अपनी आत्मा को मसोस रहे हैं। उनके बच्चे गरीबी के कारण दुःख के आँसू बहाते हुए, भूख से तड़प रहे हैं। इसी जीवन की तड़प को डॉ० अग्रवाल ने इस शेर के माध्यम से अभिव्यक्त करते हुए कहा है—

एक पल संबंध तेरा, एक पल रोटी का सुख,
बस ये चक्कर मेरे जीवन का सफ़र होता गया।⁵⁷

डॉ० अग्रवाल ने इस शेर में 'रोटी' के माध्यम से उस गरीबी का वर्णन किया, जो जीवन का आधार है, जिसके अभाव में मनुष्य मृत हो जाता है। किसान से लेकर मजदूर तक का आर्थिक रूप से शोषण किया जा रहा है। धरती पर स्वर्ग कहे जाने वाले भारत के गाँव भी तो आज धरती का स्वर्ग नहीं रह गए हैं, वहाँ भी लुटेरे पहुँचकर किसानों का लगातार शोषण कर रहे हैं। इस विषय में डॉ० अग्रवाल ने यह शेर प्रस्तुत किया—

लुटेरे बन के खरीदार आ गए हैं यहाँ,
किसान मुफ्त में तेरी फ़सल न जाए कहीं।⁵⁸

पूँजीपतियों द्वारा किसानों का शोषण किया जा रहा है। शहर और गाँव दोनों में आम आदमी के शोषण का नंगा नाच इन गज़लों में दृष्टिगत होता है, जिसमें किसानों की आर्थिक स्थिति का वर्णन किया गया है।

संतोषी और स्वाभिमानी व्यक्ति आर्थिक संकट के समय भी किसी से कुछ माँगना नहीं चाहता। इस परिस्थिति में भी वह सबकुछ अकेले सहन करने को तत्पर हो जाता है, क्योंकि उसे अपनी मेहनत पर पूर्ण विश्वास है। इस भाव को डॉ॰ अग्रवाल ने अपने निम्न शेर के माध्यम से व्यक्त किया है—

किसके आगे हाथ पसारूँ, है यह लम्हा नाजूक एक,
मेरी बाहें रोक रहा है, मुझमें बैठा भिक्षुक एक।⁵⁹

संसाधनों तथा अवसरों का पक्षपातपूर्ण वितरण देश के आर्थिक पिछड़ेपन का एक बड़ा कारण है, लेकिन ऐसे आलसी और अकर्मण्य लोगों की भी इस देश में कमी नहीं है, जो बहुत कुछ कर सकते हैं लेकिन कुछ भी नहीं करते। ख़ाली बैठे-बैठे अपना समय गँवाते हैं। ऐसे अकर्मण्य लोग केवल अपनी बदहाली पर आँसू बहाते रहते हैं। ऐसे व्यक्ति देश पर बोझ हैं, जो दूसरों के लिए संकट की स्थिति उत्पन्न करते हैं। डॉ॰ अग्रवाल ने ऐसे व्यक्तियों पर कटु प्रहार करते हुए उन्हें समझाने का भी प्रयास किया है। 'गीता' के संदेश 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्' के अनुरूप शिक्षा देते हुए डॉ॰ अग्रवाल के ये शेर द्रष्टव्य हैं—

बोओगे तो काटोगे, करोगे तो मिलेगा,
मेहनत जिसे कहते हैं, अकारत नहीं जाती।⁶⁰

देख ले मेहनत का फल, भीगा हुआ माथा न देख,
खेत को किसका पसीना है, जो धानी कर गया।⁶¹

डॉ॰ अग्रवाल ने इन दोनों शेरों के माध्यम से बताया है कि यदि मनुष्य परिश्रम करे तो वह इस देश के आर्थिक संकट को दूर करने में समर्थ हो सकता है। मनुष्य के द्वारा किया गया परिश्रम कभी भी व्यर्थ नहीं जाता, इसलिए मनुष्य को सदैव परिश्रम करना चाहिए ताकि देश की आर्थिक स्थिति सुधर सके।

आर्थिक विषमताओं और विसंगतियों के विभिन्न पहलुओं के चित्रण के साथ-साथ डॉ॰ अग्रवाल 'सर्वजन सुखाय' एवं 'सर्वजन हिताय' की नीति के अनुरूप प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि मनुष्य को जीवन में जीने के लिए पैसे को ही सबकुछ नहीं समझना चाहिए क्योंकि जीवन में पैसा ही सबकुछ नहीं है, प्रेम, अपनापन, सहयोग और सेवा के बिना जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती—

प्रेम हो, अपनत्व हो, सहयोग हो सेवा भी हो,
सिर्फ पैसा ही नहीं, हर बार जीने के लिए।⁶²

धूल बनकर उड़ गई निष्ठाएँ, वादे, चाहतें
बीच में संबंध के जिस वक्त पैसा आ गया।⁶³

डॉ० अग्रवाल ने उस मानव-जीवन की कल्पना की, जो इन सब स्वार्थों, अत्याचारों, शोषण, दुराचारों से दूर हो। इस जीवन में पैसा ही सबकुछ नहीं होता। जिनके पास धन अधिक मात्रा में है लेकिन किसी का प्रेम, अपनापन, सहयोग और सेवा नहीं, वह जीवन, जीवन नहीं होता, क्योंकि इन सबके अभाव में मानव-जीवन एक बोझ है, जिसे चाहकर भी मनुष्य ढो नहीं सकता।

सच तो यह है जिंदगी इसके सिवा कुछ भी नहीं,
इक समंदर तैर आए, इक समंदर आ गया।⁶⁴

जिंदगी कहते हैं जिसको मौज है संघर्ष है
एक दरिया पार हो तो दूसरा पैदा करो।⁶⁵

इस प्रकार डॉ० अग्रवाल ने आर्थिक जीवन-मूल्यों को अपने ग़ज़ल-साहित्य में अनेक प्रकार से व्यक्त किया है। उन्होंने न केवल आर्थिक विषमताओं को देखा अपितु उनका अनुभव भी किया। इन्होंने निर्धन वर्ग का शोषण करने वाले उन लोगों पर कटु व्यंग्य किए हैं, जो आर्थिक जीवन-मूल्यों का हनन कर रहे हैं तथा समाज में आर्थिक परेशानियों को बढ़ा रहे हैं।

डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल के ग़ज़ल-साहित्य में राजनीतिक जीवन-मूल्य

डॉ० अग्रवाल ने अपनी ग़ज़लों में जहाँ वैयक्तिक सामाजिक व आर्थिक जीवन-मूल्यों का वर्णन किया है, वहीं राजनीतिक जीवन-मूल्यों को भी अभिव्यक्ति प्रदान की है। उन्होंने राजनीतिक मूल्यों को भली-भाँति जाना और समझा तथा यह भी अनुभव किया कि राजनीतिक मूल्यों के बिना मानव का क्या अस्तित्व बौना हो जाता है। डॉ० अग्रवाल के ग़ज़ल-साहित्य में राजनीतिक जीवन-मूल्य अनेक स्थानों पर मुखरित हुए हैं—

हर कथा इतिहास की थी पीठ पर लिक्खी हुई,
आदमी चट्टान से टकरा के भी उल्टा गिरा।⁶⁶

अगले युगों की खोज में काम आएगा तेरे।
गुम हो गए अतीत का इतिहास साथ रख।⁶⁷

डॉ० अग्रवाल ने प्राचीन समय से लेकर वर्तमान समय तक जिस राजनीतिक पृष्ठभूमि को उकेरा है, उस सबको उन्होंने राजनीतिक जीवन-मूल्य के आधार पर चित्रित किया है। उक्त शेर में उन्होंने स्पष्ट किया कि यदि मनुष्य किसी कठोर चट्टान से टकराएगा तो वह स्वयं ही गिरेगा। इस शेर के माध्यम से डॉ० अग्रवाल ने उस ऐतिहासिक राजनीति का वर्णन किया है, जो समाज में व्याप्त है, जिसे मनुष्य पहचान नहीं पा रहा है। राजनीतिक विषमता से युक्त मनुष्य इस समाज में ऐसी हीन दशा को भोग रहा है, जिसका वर्णन करते हुए डॉ० अग्रवाल कहते हैं कि—

जिस तरफ़ से हम देखें, अर्द्धअंग नंगा है,
तीन गज़ का जीवन है, डेढ़ गज़ की चादर है।

आदमी के हाथों में, उसका सिर खिलौना है,
खेल अब मदारी का, झोलियों के बाहर है।⁶⁸

राजनीतिक सत्ता मदारी के समान है। जिस प्रकार मदारी वानर को अनेक प्रकार के नाच नचाता रहता है, उसी प्रकार ये राजनीतिज्ञ साधारण मनुष्य को अनेक प्रकार के नाच नचाते

रहते हैं। मनुष्य तो उनके लिए एक खिलौना-मात्र है। इन सत्ताधारियों को मनुष्य की व्यथा, पीड़ा या दुःख से क्या मतलब? वे तो मात्र अपने स्वार्थों की पूर्ति में लगे रहते हैं। इन लोगों पर कटु व्यंग्य करते हुए डॉ० अग्रवाल कहते हैं कि—

किसको कितनी चोट लगी है, उनको इससे मतलब क्या
नोंच रहें हैं मांस शिकारी कुत्ते खुलकर बस्ती में।⁶⁹

यहाँ सबके चेहरे हैं परदे के पीछे
तुम अपने-पराए की पहचान करना।⁷⁰

नज़र के सामने, जो रूप जिसका था वही देखा
जो चेहरों पर पड़े रहते हैं वो परदे नहीं देखे।⁷¹

इस शेरों के माध्यम से डॉ० अग्रवाल बताते हैं कि राजनीति से जुड़े ये लोग बड़े ही कठोर होते हैं। ये किसी के दर्द व दुःख को नहीं समझते। इन्हें केवल अपनी सत्ता से मतलब होता है। ये लोग शिकारी कुत्तों की भाँति किसी की चिंता किए बिना इस समाज में खुलकर निर्धन वर्ग का शोषण करते हैं। उन पर अत्याचार करते हैं। दूसरों को पीड़ित करते रहते हैं। दूसरों को दुःख देने में इन्हें ज़रा भी लज्जा नहीं आती। पहले राजनीतिक जीवन को अच्छा जाता था, उनका अनुकरण किया जाता था लेकिन आज यह भाव लुप्त हो चुका है। आज मनुष्य राजनीतिक सत्ता रूपी तेज़ तलवार की धार पर चल रहा है, जिसमें चारों ओर संकट (ख़तरा) है। इस तथ्य को समझते हुए डॉ० अग्रवाल कहते हैं कि—

ख़ज़र की तेज़ धार पे चलते रहे हैं हम
यह यात्रा जवान है, बूढ़ा हुआ खगोला।⁷²

राजनीतिक जीवन-मूल्यों के हास का चित्रण करते हुए डॉ० अग्रवाल ने कहा—

ओढ़ ली आकाश ने चादर नई,
वासना के पंख चंगे हो गए।

कौन-सा भीषण ज़हर घुलता रहा,
शहर में हर ओर दंगे हो गए।⁷³

राजनीतिक विडंबनाओं के कारण आज मानव-जीवन में कटु विष घुल चुका है। यह वह विष है, जिसे किसी भी प्रकार दूर नहीं किया जा सकता। राजनीति के कारण ही आज गाँव से लेकर शहर तक चारों ओर विवाद फैला हुआ है। यह विवाद एक-दूसरे की हत्या करने को भी तैयार है, क्योंकि इस राजनीति ने मानव-मूल्यों का हनन कर दिया है। शहर में व्याप्त इसी राजनीतिक विद्रूप पर प्रहार करते हुए डॉ० अग्रवाल ने कहा—

शहर में साँप हैं पर सपेरा नहीं
घूमता था सपेरा मेरे गाँव में।⁷⁴

समझना निरंकुश न आज्ञादियों को
बँधा है समुंदर भी तो साहिलों से।

छिपा है अजब खौफ़ वातावरण में
निकलते नहीं लोग अपने घरों से।⁷⁵

गाँव की अपेक्षा शहर में राजनीति अधिक दिखाई देती है। आज भी गाँव में लोग एक-दूसरे की पीड़ा व दुःख को समझते हैं। लेकिन शहरों में राजनीतिज्ञ रूपी विषैले सर्प चारों ओर फैले हुए हैं, जो जनता को डसते रहते हैं लेकिन जनता चाहकर भी कुछ नहीं कर पाती। इस समय समाज को ऐसे सपेरों की ज़रूरत है, जो राजनीति के विषैले सर्पों को पकड़कर इस देश से दूर ले जाएँ तथा देश को सर्परहित बना दें। लेकिन कोई भी ऐसा सपेरा नहीं, जो इन सर्पों का विरोध कर सके और इन्हें पकड़ सके। डॉ० अग्रवाल का यह शेर बड़ा ही मार्मिक है, जिसमें इन्होंने प्राचीनता से नवीनता की और संकेत किया है—

कब तक जंग लगे गौरव को इतिहासों में पालोगे,
संदर्भों की दीवारों पर, बहुत ध्वजा फहरा ली है।⁷⁶

मौका मिले तो बेच के आ जाइए ज़मीर
माला गले की, पाप छिपाने को है बहुत।⁷⁷

डॉ० अग्रवाल ने प्राचीन राजनीति को अधिक गौरवशाली बताया है, क्योंकि प्राचीन राजनीति आज की राजनीति से अत्यधिक भिन्न थी, जो सबको उन्नति की ओर ले जाती थी।

डॉ० अग्रवाल राजनीतिक जीवन-मूल्यों को समझाने का प्रयास करते हैं और चाहते हैं कि यह देश इन मूल्यों को समझे। वे वर्तमान समाज में व्याप्त विवादों को देखकर अत्यधिक दुःखी हैं। वे समाज में भाईचारा, प्रेम, एकता, समानता देखना चाहते हैं। उन्होंने स्पष्ट किया कि चारों ओर युद्ध छिड़ा हुआ है। भाई-भाई से, पुत्र-पिता से लड़ रहा है। यह राजनीति एक दूसरे को प्रत्येक पल लड़ाती रहती है। सभी एक-दूसरे का रक्त बहाने के लिए तैयार हैं। यह राजनीति रक्त माँगती है। चारों ओर यही शोर व्याप्त है। तभी तो डॉ० अग्रवाल की वाणी से यह शेर निकल पड़ा—

जंग लड़ती जिंदगी हर पल लड़ाती है मुझे
रक्त मेरा माँगता है, रण के हर रस्ते में शोर।⁷⁸

डॉ० अग्रवाल राजनीतिक मूल्यों से जुड़े प्रत्येक पहलू को भली-भाँति देखा और उसका अनुभव किया। गज़लों के माध्यम से डॉ० अग्रवाल ने उन सत्ताधारियों पर सीधा प्रहार किया, जो सफ़ेद कुर्ता पहनकर निर्धनों का शोषण कर रहे हैं तथा विवाद को फैला रहे हैं। उनका यह शेर किस यथार्थ पर प्रकाश डाल रहा है, स्वयं देखें—

पुलिस खोजती फिर रही थी जिसे
इलैक्शन वह जीता, विधायक हुआ।⁷⁹

वास्तविकता यही है आज चारों ओर भ्रष्टाचार व्याप्त है, जब रक्षक ही देश के भक्षक बनने लगेंगे तब इस देश का क्या होगा। जिसे कानून वाले ढूँढते घूम रहे थे, ऐसे ही लोग राजनीति में आगे आकर सत्ता अपने हाथ में ले लेते हैं, फिर मनमानी करते हैं।

डॉ० अग्रवाल ने इस राजनीति के सहारे चलने वाले तथा इसकी आड़ में छिपे ऐसे सभी लोगों पर कटु व्यंग्य किया जो आतंकवाद को बढ़ावा दे रहे हैं। वे ऐसी सत्ता को समाप्त कर देना चाहते हैं, जो निर्धनों का शोषण कर रही है। डॉ० अग्रवाल आगे कहते हैं—

झोली डाल मदारी आया, कोई अजूबा पास न था,
उन्मन देखें दर्शक सारे, हम ही नहीं थे उत्सुक एक।⁸⁰

डॉ० अग्रवाल ने ग़ज़लों के माध्यम से अपने मन में छिपे उन सभी भावों को अभिव्यक्त किया, जो इन्हें अंदर ही अंदर पीड़ित कर रहे हैं। उन्होंने ऐसे समाज व सत्ताधारियों का वर्णन किया, जो उस मदारी के समान है तथा समाज उस दर्शक के समान है, जो मदारी को देखने पर अत्यधिक प्रसन्न होते हैं। जो यह भी नहीं जानते कि यह सत्ताधारी रूपी मदारी हमारा ही शोषण कर रहा है। सारे दर्शक आश्चर्यचकित होकर उसको देखते हैं केवल डॉ० अग्रवाल ही ऐसे हैं, जो इन्हें देखकर आश्चर्यचकित नहीं होते, क्योंकि डॉ० अग्रवाल इन लोगों को भली-भाँति जानते हैं, इसलिए तो कहते हैं—

देख मदारी, स्वर से जुगनू झरते हैं,
गलियारों में छाए अँधेरे, बीन बजा।⁸²

डॉ० अग्रवाल इन शेरों के माध्यम से जनता को जाग्रत कर देना चाहते हैं, जिससे इनका शोषण न किया जा सके। कोई इन पर आघात न कर सके।

डॉ० अग्रवाल ऐसे ग़ज़लकार हैं, जिन्होंने ग़ज़ल-संग्रहों में अनेक रूपों में यथार्थता का वर्णन किया और ऐसा सूक्ष्म वर्णन किया जो अन्य ग़ज़ल-संग्रहों में दृष्टिगत नहीं है। उन्होंने समाज में राजनीति सत्ता के कारण व्याप्त शोषण, अत्याचारों, निर्धनों की पीड़ा, दुःख, आंतक, आदि को अत्यधिक समीपता से देखा है इसलिए इनके ग़ज़ल-संग्रह में इन सबका वर्णन देखने को मिलता है। इनकी सूक्ष्म तथा पैनी दृष्टि से कुछ भी नहीं बच पाया। यही कारण है कि इनकी ग़ज़लों में इनकी आत्मा भिव्यक्त मुखरित हुई है। डॉ० अग्रवाल का यह शेर प्रस्तुत है—

चुप का पत्थर अब सहन होता नहीं,
शहर में कोहराम होना चाहिए।⁸³

डॉ० अग्रवाल उन राजनीतिक विद्रूपताओं को बदल देना चाहते हैं, जिससे जनता का अत्यधिक शोषण किया जा रहा है। जो हित के नाम पर जनता को धोखा दे रहे हैं तथा इन्हें छल रहे हैं। जो यह भी नहीं जानते कि जिन ग़रीबों को पेट भर खाना और शरीर ढकने के लिए वस्त्र तक नहीं हैं, उन्हें भूख की आग में जलाने के लिए विवश कर रहे हैं।

इस प्रकार डॉ० अग्रवाल की ग़ज़लें वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक जीवन-मूल्यों को प्रेरित करनेवाली तथा प्रत्येक पहलुओं को अभिव्यक्त करनेवाली हैं।

संदर्भ

1. सन्नाटे में गूँज : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 33
2. शिकायत न करो तुम : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 84
3. भीतर शोर बहुत है : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 24
4. सन्नाटे में गूँज : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 15
5. वही, पृ० 35
6. मौसम बदल गया कितना : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 28
7. वही, पृ० 85
8. सन्नाटे में गूँज : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 96

9. शिकायत न करो तुम : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 92
10. मौसम बदल गया कितना : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 71
11. भीतर शोर बहुत है : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 25
12. शिकायत न करो तुम : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 25
13. भीतर शोर बहुत है : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 53
14. शिकायत न करो तुम : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 71
15. भीतर शोर बहुत है : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 53
16. रोशनी बनकर जिओ : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 28
17. सन्नाटे में गूँज : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 37
18. वही, पृ० 32
19. वही, पृ० 50
20. वही, पृ० 56
21. शिकायत न करो तुम : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 28
22. सन्नाटे में गूँज : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 56
23. मौसम बदल गया कितना : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 44
24. सन्नाटे में गूँज : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 95
25. वही, पृ० 22
26. शिकायत न करो तुम : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 30
27. सन्नाटे में गूँज : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 23
28. शिकायत न करो तुम : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 47
29. भीतर शोर बहुत है : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 58
30. वही, पृ० 31
31. वही, पृ० 34
32. मौसम बदल गया कितना : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 33
33. वही, पृ० 40
34. वही, पृ० 66
35. रोशनी बनकर जिओ : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 113
36. रोशनी बनकर जिओ : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 64
37. शिकायत न करो तुम : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 29
38. सन्नाटे में गूँज : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 43
39. शिकायत न करो तुम : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 47
40. मौसम बदल गया कितना : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 82
41. भीतर शोर बहुत है : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 24
42. सन्नाटे में गूँज : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 63
43. मौसम बदल गया कितना : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 45
44. सन्नाटे में गूँज : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 39
45. शिकायत न करो तुम : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 95
46. मौसम बदल गया कितना : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 38

47. वही, पृ० 52
48. शिकायत न करो तुम : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 55
49. सन्नाटे में गूँज : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 45
50. शिकायत न करो तुम : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 55
51. वही, पृ० 95
52. मौसम बदल गया कितना : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 81
53. शिकायत न करो तुम : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 68
54. सन्नाटे में गूँज : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 34
55. वही, पृ० 35
56. वही, पृ० 34
57. शिकायत न करो तुम : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 79
58. सन्नाटे में गूँज : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 50
59. मौसम बदल गया कितना : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 35
60. वही, पृ० 58
61. रोशनी बनकर जिओ : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 109
62. वही, पृ० 55
63. वही, पृ० 66
64. शिकायत न करो तुम : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 92
65. मौसम बदल गया कितना : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 83
66. शिकायत न करो तुम : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 80
67. सन्नाटे में गूँज : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 50
68. शिकायत न करो तुम : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 50
69. सन्नाटे में गूँज : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 53
70. वही, पृ० 71
71. शिकायत न करो तुम : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 73
72. वही, पृ० 41
73. सन्नाटे में गूँज : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 78
74. वही, पृ० 91
75. भीतर शोर बहुत है : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 61
76. शिकायत न करो तुम : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 44
77. भीतर शोर बहुत है : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 68
78. शिकायत न करो तुम : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 11
79. भीतर शोर बहुत है : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 92
80. मौसम बदल गया कितना : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल पृ० 51
81. वही, पृ० 58
82. वही, पृ० 63
83. वही, पृ० 90

□ पुत्री स्व० रामसिंह, गोहावर (बिजनौर) उ०प्र०

कश्मीर में हिंदी कथा-साहित्य

डॉ० ज़ाहिदा जबीन

कश्मीर सुदूर उत्तर भारत में स्थित एक अहिंदी क्षेत्र है। यह प्रांत देश-विदेश के तीर्थ-यात्रियों एवं पर्यटकों के लिए आकर्षण का केंद्र है। इस कारण यहाँ विभिन्न भाषा-भाषियों का आगमन होता रहा है, जिसका प्रभाव यहाँ की हिंदी पर स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

कश्मीर में हिंदी को सरकारी संरक्षण डोगरा शासक महाराजा रणवीरसिंह जी के शासनकाल में मिला था, जिन्होंने हिंदी को एक सरकारी भाषा के रूप में मान्यता प्रदान की। 'रणवीर समाचार' नामक पाक्षिक हिंदी समाचार-पत्र प्रकाशित करने का श्रेय उन्हीं को है।

सन् 1978 में राजकीय घोषणा के अनुसार जम्मू-कश्मीर प्रदेश के स्कूलों में हिंदी शिक्षण अनिवार्य हो गया। जम्मू-कश्मीर एकमात्र अहिंदी भाषी प्रदेश है, जहाँ हिंदी का अनिवार्य शिक्षण किया गया है, जबकि वहाँ की राजभाषा उर्दू है। विद्यालयों में अनिवार्य तृतीय भाषा होने के कारण और हिंदी मीडिया में लोगों की बढ़ती रुचि के कारण कश्मीर में हिंदी बोलनेवालों की संख्या पर्याप्त हो गई है।

किसी भी प्रवृत्ति का आरंभ कब होता है, यह निश्चित रूप से कहना असंभव है। फिर भी यह तय है कि हिंदी कश्मीर में कई शताब्दियों से है।

कालिदास एवं कल्हण जैसे संस्कृत विद्वानों के अतिरिक्त कई कश्मीरी अर्थात् कश्मीर की उपज संस्कृतज्ञों ने काव्यशास्त्र के क्षेत्र में धूम मचाई है, जैसे भामह, वामन, आनंदवर्द्धन, अभिनव गुप्त, कुंतक, क्षेमेंद्र, विल्हण आदि।

मध्यकालीन भक्ति-आंदोलन ने जब पूरे भारत को प्रभावित किया तो उसके प्रेरणास्वरूप कई कश्मीरी कवियों ने भी भक्तिपूर्ण कविताएँ कीं।

श्रीमती रूपभवानी (1625-1716 ई०) की रहस्यवादी कविताएँ आश्चर्यजनक हैं। परमानंद (कृष्णभक्त कवि), लक्ष्मण जू बुलबुल (1859-1946), श्रीकृष्ण राजदान (1850-1925), ठाकुर जी मनवटी, हलधर जू ककरू, पं० नीलकंड शर्मा— जो वास्तव में कश्मीरी भाषा के कवि थे— हिंदी कविता करने में भी पीछे न थे। इनकी कविताएँ भक्ति, धर्म और नीति की भावनाओं से युक्त हैं।

सन् 1935 में कश्मीर में हिंदी-प्रेस की स्थापना से हिंदी-पत्रकारिता में आसानी हुई। कश्मीर में हिंदी की प्रथम पत्रिकाओं— साप्ताहिक 'महावीर' और 'चंद्रोदय' ने कश्मीर में हिंदी के प्रचार में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी और इनके माध्यम से ही दुर्गाप्रसाद काचरू, वीर विश्वेश्वर, जानकीनाथ कौल, 'कमल', जैसे कवियों को सामने आने का अवसर मिला।

सन् 1914 में पंडित ज़िंदा कौल (1880-1966) 'मास्टर जी' ने 'पत्रपुष्प' नामक पुस्तक में कई हिंदी-कविताएँ लिखीं, जो मानव-मूल्यों पर आधारित हैं।

सन् 1950 के बाद कश्मीर में हिंदी-लेखकों की मानो बाढ़-सी आ गई। लेखकों में

गद्य की अपेक्षा पद्य में अधिक रुचि थी। जैसे पृथ्वीराज मधूप (1962 में 'वे मुखर क्षण' कविता-संग्रह), डॉ० रतनलाल शांत, मोहन निराश, डॉ० सोमनाथ कौल, अग्निशेखर, महाराज कृष्ण संतोषी, क्षमा कौल, जमीला मीर, निदा नवाज़, सतीश विमल आदि कई कवियों ने पद्य-क्षेत्र में अपने करतब दिखाए और आज भी पद्य-सेवा में संघर्षरत है।

कविता में तो कश्मीरियों की रुचि तो है ही अपितु गद्य में भी वे कुछ कम नहीं। सन् 1935 में श्रीमती सत्यवती मल्लिक की 'दो फूल' नामक कहानी का प्रकाशन हुआ। अतः कश्मीर में प्रथम प्रामाणिक एवं साहित्यिक हिंदी-कहानी लिखने का श्रेय उन्हीं को जाता है। लेखिका ने कहानी में सुंदर, कोमल शब्दों में गुलाब के फूल की क्षणिक जीवन-यात्रा को प्रस्तुत किया है। इसके उपरांत मानव जीवन के सत्यों पर आधारित आपकी कई कहानियाँ छपीं। जैसे 'जीवन संध्या', 'बसंत है या पतझड़' आदि। आपके चार कहानी-संग्रह हैं— 'दो फूल', एवं 'नारी-हृदय की साध', 'बैसाख की रात', 'अमिट रेखाएँ'।

हरिकृष्ण कौल (1938) वह कहानीकार हैं, जो कश्मीर में हिंदी-साहित्य और उसके प्रचार-प्रसार करनेवालों की परंपरा में अग्रिम पंक्ति में आते हैं। 'इस हमाम में', 'टोकरी भर धूप' और 'अरथी' इनके कहानी-संग्रह हैं। 'टोकरी भर धूप' कहानी-संग्रह का अँग्रेजी में अनुवाद 'दि सनशाइन' शीर्षक से हुआ है।

'इस हमाम में' कहानी में लेखक ने व्यंग्य का सहारा लेकर समाज में पल रहे यथार्थ को प्रस्तुत किया है। यह कहानी दफ्तरों में चल रहीं रिश्वतखोरी और धोखाधड़ी का प्रमाण है। 'दाँव' कहानी में मनुष्य की आत्मकेंद्रिता, एक-दूसरे के दर्द को न समझना, आर्थिक रिक्तता और उसके कारण बढ़ रहा मनुष्य का स्वार्थ, झूठ तथा लाचारी एवं मजबूरी देखी जा सकती है। 'विश्वास' कहानी में डॉक्टर अपनी पसंद की लड़की डॉ० वीणा से विवाह करने के लिए जी-तोड़ प्रयत्न करता है। 'यक्ष और टोपी' का नायक अपने चाचा की गुलामी इसलिए करने के लिए विवश है कि कहीं वह उसकी पत्नी पर यह राज जाहिर न कर दे कि उसी ने विवाह के समय आभूषण खरीदने के लिए नायक को 600 रुपए उधार दिए थे। 'बादलों की दीवार' की नायिका एक बार प्यार में धोखा खाने के उपरांत मानो आजीवन एकांत में रहने का प्रण करती है। 'ये चटोरे' का प्रोफेसर एक गरीब युवक चमन को तन ढकने के लिए वस्त्र खरीदते के लिए रुपए देता है। किंतु हैरान होता है, जब देखता है कि उन रुपयों से चमन के पिता ने घर का राशन खरीदा। अतः तन ढकने से अधिक आवश्यक था राशन खरीदना। 'बंधन' कहानी में मनोहर कभी बाहरी संसार की ओर आकर्षित होता है तो कभी सब कुछ त्यागकर प्रेमिका 'विजी' का साथ देना चाहता है। 'हितचिंतक' की विवश 'जया' अपने ही फुफेरे भाई की वासना का शिकार होती है और उसे इस भँवर से निकालनेवाला व्यक्ति भी अपनी कामवासना को वश में नहीं रख पाता। 'नायक' कहानी में एक प्रोफेसर को रास नहीं आता कि वह अपने चपरासी की बगलवाली सीट पर बैठकर नाटक देखे।

'टोकरी भर धूप' कहानी-संग्रह में हरिकृष्ण कौल की अधिक गंभीर और सुलझी हुई कहानियाँ देखने को मिलती हैं। इसी शीर्षक वाली कहानी में एक बूढ़ी माँ 'पोशकुज' अपने दो बेटों की गृहस्थियों में स्वयं को कटा-कटा सा पाती है। 'कपर्जू' कहानी में दो पीढ़ियों का अंतर और अलगाव देखने को मिलता है। 'भ्रातृघाती' में भी दो भाइयों के आपसी तनाव का चित्रण है।

‘भय’ कहानी का नायक कश्मीर-प्रेम के कारण घर से दूर जाना नहीं चाहता, किंतु आतंकवाद के कारण कश्मीर में खुलकर नहीं जी पाता है। ‘अंधे’ का नायक अपनी पुरानी विवाहित प्रेमिका को देखकर उससे मिलने, बात करने का असफल प्रयत्न करता है। ‘अगले दिन’ कहानी में हीन-भावना से ग्रस्त गरीब छात्रों की दयनीय स्थिति एवं शोषण को देखा जा सकता है। ‘देवता’ में एक नपुंसक पति का चित्रण हुआ है, जो नपुंसकता छिपाने के लिए धर्म का सहारा लेता है। ‘मंदी बहार’ में मशीन की तरह काम करनेवाली एक ग्रामीण घरेलू महिला की टूटन के अतिरिक्त पति-पत्नी की तटस्थता को दिखाया गया है।

कौल साहब अपने साहित्य में पाठकों को स्वतंत्रता, नैतिकता और आत्मनिर्भरता का पाठ पढ़ाना चाहते हैं। उनके पात्र यथार्थ से चुने गए हैं, जो संघर्ष करते हैं, जूझते हैं, इनका मूल स्वर समाज में व्याप्त राजनीतिक खोखलेपन और पीढ़ियों के अंतर से उत्पन्न अलगाव है। इनके साहित्य में आंचलिकता के स्पष्ट दर्शन होते हैं, जो कश्मीर के रहन-सहन वार्ता ढंग आदि जाननेवालों को बाँधे रखता है।

हिंदी-जगत् की जानी-मानी कथा-लेखिका चंद्रकांता जी (1938) की जन्मभूमि कश्मीर ही है। उन्होंने कश्मीर की सुंदर घाटी के अतिरिक्त भारत देश के विभिन्न राज्यों को भी अपनी लेखनी का क्षेत्र बनाया है। ‘सलाखों के पीछे’ (1974) कहानी-संग्रह में आज के तनावपूर्ण जीवन पर आधारित 21 कहानियाँ हैं। ‘ग़लत लोगों के बीच’ (1982) कहानी-संग्रह में भी पीड़ित व्यक्ति का मुक्ति के लिए संघर्ष, मूल्यों के टकराव, स्त्री-पुरुष के संबंधों में विघटन पर आधारित 16 कहानियाँ हैं। ‘पोशनूल की वापसी’ (1988) में सामाजिक, पारिवारिक, आर्थिक विषमताओं का चित्रण करनेवाली 10 कहानियाँ हैं। ‘दहलीज पर न्याय’ (1989) की 15 कहानियाँ समाज में पल रहे अन्याय, भ्रष्टाचार और पाखंड जैसी क्रूर समस्याओं का पर्दाफाश कर रही हैं। ‘ओ सोनकिसरी’ (1982) में स्त्री-पुरुष के संबंधों में आत्मीयता का अभाव, अंधविश्वासों, सांप्रदायिक कलह, नारी-वेदना को प्रकट कर रही 15 कहानियाँ संगृहीत हैं। ‘कोठे का कागा’ (1993) संग्रह में विविध विषयों पर आधारित 11 कहानियाँ हैं, किंतु एक नया विषय देखने को मिलता है, वह है— ‘कश्मीर में अलगाववाद से त्रस्त एवं विस्थापित कश्मीरी पंडितों का उत्पीड़न और मानसिक अंतर्द्वंद’। ‘सूरज उगने तक’ (1994) कहानी-संग्रह में भी आतंकवाद, अलगाववाद से त्रस्त पंजाब और कश्मीर, दांपत्य जीवन में तनाव, विदेश के प्रति बढ़ते आकर्षण आदि विषयों पर आधारित 23 कहानियाँ संगृहीत हैं।

‘काली बर्फ’ (1994) कहानी-संग्रह में भी कश्मीर में अलगाववाद से उत्पन्न सामाजिक, राजनीतिक समस्याओं को उकेरनेवाली 14 कहानियाँ हैं।

उपन्यास-साहित्य के क्षेत्र में भी चंद्रकांता जी ने ‘अर्थांतर’ (1981) में विवाह के खोखलेपन, मध्यवर्ग की समस्याओं पर लेखनी चलाई है। ‘अंतिम साक्ष्य’ (1981) उपन्यास जम्मू नगर की पृष्ठभूमि पर आधारित है। ‘बाकी सब खैरियत है’ उपन्यास मध्यवर्ग के आर्थिक, सामाजिक, पारिवारिक समस्याओं का चित्रण करता है। ‘ऐलान गली जिंदा है’ (1984) उपन्यास कश्मीर की पृष्ठभूमि पर आधारित है। ‘यहाँ वितस्ता बहती है’ (1992) में कश्मीर में वितस्ता (झेहलम) नदी पर खड़े एक पाँच मंजिला मकान में रह रहे संयुक्त परिवार के विकास और पतन को व्यक्त किया गया है। ‘अपने-अपने कोणार्क’ (1995) उड़ीसा की सांस्कृतिक

पृष्ठभूमि पर आधारित उपन्यास है, जिसे हरियाणा साहित्य अकादमी ने 1927 में पुरस्कृत किया है। 'कथा सतीसत' (2000) भी कश्मीर घाटी पर आधार विशालकाय उपन्यास है।

जन्म-कश्मीर कल्चरल अकादमी द्वारा उपन्यास 'अर्थांतर', 'ऐलान गली जिंदा हैं' तथा कहानी-संग्रह- 'ओ सोनकिसरी' को बैस्ट बुक एवार्ड क्रमशः 1982, 1986, 1994 में पुरस्कृत किया गया है। मानव संसाधन मंत्रालय भारत सरकार द्वारा उपन्यास 'बाकी सब खैरियत है' एवं 'पोशनूल की वापसी' कहानी-संग्रह पर 1983, 1989 में पुरस्कृत किया गया है।

श्री ओमकार कौल जी का 54 कहानियों का कहानी-संग्रह 'मुलाकात' सन् 2001 में प्रकाशित हुआ है। कश्मीरी पंडित होने के कारण उन्हें भी विस्थापन का सहारा लेना पड़ा। किंतु कश्मीर-प्रेम इनके साहित्य में स्पष्ट छलकता है। सन् 1992 में 'कश्मीरी कहानियाँ' शीर्षक से आपने कश्मीरी कहानियों का हिंदी में अनुवाद प्रस्तुत किया। आपकी साहित्य यात्रा सन् 1964 में आरंभ हुई, जब आपकी पहली कहानी 'ट्यूशन' का प्रकाशन हुआ।

वर्तमान में आप भारतीय भाषा संस्थान मैसूर के निदेशक हैं। डॉ. कौल ने भाषा-विज्ञान, भाषा-शिक्षण, भाषा संचार और साहित्य से संबंधित लगभग (40) चालीस पुस्तकें और 150 शोध-पत्र देश-विदेश में प्रकाशित किए हैं आप कश्मीरी भाषा और हिंदीभाषा दोनों में कहानियाँ लिखते हैं, आपकी कहानियाँ संबंध, पहचान, खालीपन, टूटते रिश्ते, शहरी जीवन के अकेलेपन, रिश्तों में अब का चित्रण करती हैं। 'ख़बर', 'साक्षात्कार', 'संबंध', 'मुलाकात', 'उल्लू', 'पुस्तक समीक्षा', 'साहस' आदि आपकी कहानियों के शीर्षक हैं, जो संक्षिप्त एवं सटीक हैं।

मोहन कृष्ण दर के भी दो कहानी-संग्रह 'केसर के फूल' तथा 'सूखे पत्ते' प्रकाशित हुए हैं। 'चिनार के पत्ते' नामक पुस्तक कश्मीरी लोककथाओं पर आधारित है। एक निबंध-संग्रह, महान आत्मा भी प्रकाशित है। इनकी पुस्तक 'मनोरम कश्मीर' में कश्मीरी लोगों के रहन-सहन, इतिहास, प्रकृति, संगीत, तीर्थस्थल का सुंदर वर्णन है। यह पुस्तक पर्यटकों के लिए बहुत उपयोगी है।

कश्मीर के हिंदी-कहानीकारों के और भी अनेक नाम गिनाए जा सकते हैं, जो आधुनिक स्वर और नवीन शिल्प को लेकर चल रहे हैं। जैसे- मोहनलाल बाबू अपनी कहानी, 'कबिरा खड़ा बाजार में' के द्वारा इस सत्य को प्रस्तुत करना चाहते हैं कि इस संसार में सच्चे और ईमानदार व्यक्ति को पागल की संज्ञा दी जाती है।

डॉ. भूषणलाल कौल कृत 'वायिल पुल' कश्मीर में आतंकवाद पर आधारित कहानी है। डॉ. विमला कुमारी की 'रूपसि' एक प्रेमकथा है।

श्रीमती शामा सौंधी की, 'झेलम के मोड़' कहानी में एक युवती के मोहभंग की आत्माभिव्यक्ति की गई है। डॉ. सजना कौल ने अपने कहानी-संग्रह 'विभाजन रेखाएँ' में जीवन की भाग-दौड़ में लोगों के बनावटी और औपचारिक रिश्तों का चित्रण किया है। वीण डुल्लू की 'कफ़र्यू' कहानी में कश्मीर घाटी में कफ़र्यू लगने पर शहर की स्थिति और लोगों की घुटन देखने को मिलती है।

क्षमा कौल की 'सृष्टि' कहानी में लेखिका इस बनती-बिखरती सृष्टि पर चकित है। डॉ. सोमनाथ कौल की 'एक घंटे की लंबी सड़क की नियति' में दफ़्तरी उलझनों में उलझी जिंदगी के कारण पारिवारिक जीवन से कट रहे व्यक्ति का चित्रण है।

शीला रैणा की 'वर्षा थम चुकी थी' में असफल प्रेमकथा है। आर्थिक तंगी में भी सपने सजाने की कला तो कोई अशोक कुमार पंडित की कहानी 'छोटा सफ़र लंबा सफ़र' के नायक से सीखे।

श्रीमती चंद्रकांता जी के अतिरिक्त और भी कई कश्मीरी लेखक हैं, जिन्होंने हिंदी-उपन्यास लेखन की परंपरा को आगे बढ़ाया, जैसे अवतार कृष्ण कौल ने एक लघु उपन्यास 'सरहद और प्यार' की रचना की है। निर्मला दर के सामाजिक उपन्यास 'निर्झरिणी और पत्थर' को केंद्रीय सरकार द्वारा अहिंदी भाषी प्रांत के हिंदी-लेखक योजना के अंतर्गत पुरस्कृत किया गया है।

श्रीमती खेमलता वखलू ने 'कश्मीर की धरती', तथा 'झील और कमल' नामक दो उपन्यासों की रचना की है, जो कश्मीर लोकजीवन एवं रीतियों पर आधारित हैं।

कश्मीर के हिंदी-कथाकारों ने जीवन के सत्यों, स्त्री-पुरुष के बदलते रिश्तों, नैतिकता के विघटन, मानव-मन की व्यथा, निराशा, विसंगतियों को बड़े कलात्मक ढंग से प्रकट किया है। इनका परिवेश कश्मीर घाटी है, जिसके कारण कश्मीरी शब्दावली का आना स्वाभाविक है। नवीन विकास की ओर जा रहे, इस कश्मीरी हिंदी-साहित्य का भविष्य उज्ज्वल है।

□ प्रवक्ता हिंदी विभाग,
कश्मीर विश्वविद्यालय, श्रीनगर

भक्तिकाव्य : निर्गुण व सगुण भक्ति का संबंध (श्रीमद्भागवत एवं श्रीमद्भगवद्गीता के विशेष संदर्भ में)

डॉ० (श्रीमती) ज्योति सिंह

भक्ति का अर्थ है भगवान के प्रति अनुरक्ति। भक्ति में श्रद्धा और प्रेम का योग होता है। जबसे मनुष्य ने संसार की नियामक शक्तियों से भय करने के स्थान पर प्रेम करना सीखा, उस दिन से उसमें भक्ति के भाव का बीजारोपण हुआ, जो निरंतर फलता-फूलता गया। धीरे-धीरे उसने अनुभव किया कि वास्तव में एक ही महाशक्ति अपने भिन्न रूपों में प्राकृतिक शक्तियों के रूप में उपस्थित रहती है। वेदों में कहा गया है— एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति' अर्थात् सत्ता तो एक ही है, किंतु उसे भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं। वैदिक ऋषियों ने उस सत्ता को ईश, कवि, स्वयंभू, परिभू आदि कहकर उसके महत्त्व के प्रति श्रद्धा व्यक्त की तो दूसरी ओर माता, पिता, सखा कहकर उससे अपना प्रेममय संबंध जोड़ा। आगे चलकर भक्ति-साधकों ने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार पूजन-पद्धति और इष्टदेव को चुना। वैसे तो भक्ति अपने-आपमें अविभाज्य है, किंतु पूजन-पद्धति अथवा उपासना-भेद का आश्रय लेकर दो धाराओं की कल्पना कर ली गई, निर्गुण और सगुण। निर्गुण अर्थात् गुणरहित, निराकार, इंद्रियों से परे और सगुण यानी गुणसहित, साकार, जिसमें लीलावतार को आराध्य माना गया है। निर्गुण भक्ति-आंदोलन के प्रमुख भक्त कबीर माने जाते हैं और सगुण धारा के सूर एवं तुलसी। सगुण धारा के समर्थक ईश्वर के अवतारी-स्वरूप, लीला और प्रेम में विश्वास रखते हैं।

'निर्गुण' शब्द यद्यपि यह भ्रम उत्पन्न करता है कि यह मार्ग सर्वथा शुष्क और पद्धति सर्वथा उबाऊ और अरुचिकर होगी, किंतु निर्गुण-भक्ति शब्द अपने-आपमें ही एक विरोध की सृष्टि करता है। निर्गुण तत्त्व की उपासना संभव कैसे है? इस प्रश्न का उत्तर कबीर की भक्ति-पद्धति में मिल जाता है। वह नाथों व हठयोगियों की भाँति शुष्क साधना नहीं है, अपितु उसमें प्रेम का भी योग है। यही कारण है कि उसे निर्गुण-भक्ति कहना अधिक समीचीन लगता है, बजाय निर्गुण-साधना कहने के। भक्ति केवल सगुण साकार ही की हो सकती है, यह मानने वाले अकसर यह भूल जाते हैं कि स्वयं उपनिषदों में निर्गुण तत्त्व का विचार करके ज्ञान से उसके अभिन्न हो जाने के निरूपण के साथ अनेक स्थानों पर निर्गुण उपासना का भी निर्देश किया गया है। कण-कण में व्याप्त ब्रह्म के निर्गुण-निराकार रूप को जान लेने पर मनुष्य मृत्यु के मुँह से हमेशा के लिए छूट जाता है। यह सब ब्रह्म ही है, ब्रह्म से ही इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय है, इस प्रकार समझकर शांत भाव से उसकी उपासना करनी चाहिए। यह भाव ईशावास्य, छांदोग्य, मुंडक, मांडूक्य, कठ आदि कई उपनिषदों में व्यक्त किया गया है। 'सर्व खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शांतं उपासीत् (छांदोग्य 3/14/1) में तो उपासना का स्पष्ट उल्लेख है ही, मुंडक में यही बात निरंतर ध्यान के माध्यम से कही गई है—

न चक्षुषा गृह्यते नावि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु सं पश्यते निष्फलं ध्यायमानः॥

शंकराचार्य के अनुसार जो साधक बोध के स्तर पर ब्रह्म का असंदिग्ध विज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते हैं। वे भावना के बल से उपासना के द्वारा उसका अनुभव कर सकते हैं। इस प्रकार निर्गुण साधना अत्यंत प्राचीनकाल से चली आ रही है।

‘श्रीमद्भगवद्गीता’ तक आते-आते उपासना का पर्यवसान भक्ति में हो गया। दूसरे, निर्गुणोपासना की कठिनता के कारण सगुणोपासना या सगुण-भक्ति की ही प्रमुखता हो गई। गीता अवतारवाद की प्रतिष्ठा करनेवाला पहला ग्रंथ है। सगुणोपासना में लीलावतार को आराध्य स्वीकार किया गया है। जबकि निर्गुण भक्ति में ब्रह्मानुभूति को स्थान दिया गया है। अवतारवाद वह प्रमुख तत्त्व है, जो निर्गुण और सगुण भक्ति में भेद उत्पन्न करता है। अवतारवाद को स्वीकार कर लेने के फलस्वरूप सगुण-भक्ति को एक साकार आलंबन मिल जाता है।

यह कहना कि निर्गुण और सगुण भक्ति मूलतः दो भिन्न अवधारणाएँ हैं, पूरी तरह सही नहीं होगा। निर्गुण और सगुण की लोकदृष्टियों के मध्य कहीं-कहीं भेद अवश्य है, किंतु वह हर जगह शास्त्र और लोक का द्वंद्व नहीं है। उत्तर मध्यकाल पर नज़र डालें तो सूरदास के ‘भ्रमरगीत’ में योग के साथ-साथ निर्गुण का जो खंडन है। उसका आधार कोई शास्त्र नहीं बल्कि विशुद्ध लोक-अनुभव है। असल में लोक-मानस निर्गुण और सगुण के मध्य विरोध की तुलना में समानता को अधिक महत्त्व देता है। उसका एक कारण भी है; भक्ति के स्रोत-ग्रंथ ‘भागवत’ और ‘गीता’ में निर्गुण और सगुण के प्रति समन्वयकारी दृष्टिकोण अपनाया गया है। दोनों ही भक्तिधाराओं में प्रेम को ईश्वर-प्राप्ति का मंत्र बताया गया है। इस सबके बावजूद दोनों में भेद हैं। निर्गुण भक्ति का आलंबन निराकार है, फलस्वरूप वह जनसाधारण के लिए ग्राह्य नहीं हो सकती, वह तो योगियों और साधकों के लिए ही उपयुक्त है। कुछ गौण अंतर भी हैं उन दोनों के बीच— निर्गुण भक्ति आत्मविश्वास पर बल देती है तो सगुण भक्ति में भगवदनुग्रह का भरोसा होता है। सगुण भक्ति बाह्य लालित्य की महिमा से मंडित है तो निर्गुण भक्ति अंतर्सौंदर्य की गरिमा से दीप्त। सगुण भक्ति साकार तथा सविशेष के प्रति होती है, उसमें स्वकीया तथा परकीया दोनों भावों का समावेश है। सगुण भक्ति में किसी देवलोक की कल्पना की गई है और भगवान का उपयुक्त धाम हृदय को माना गया है। सगुण भक्त भगवान विष्णु के लीलावतारों की भक्ति करता है। ‘श्रीमद्भागवत’ में भगवान के अवतारों का वर्णन है, जिसे भक्ति का श्रेष्ठ ग्रंथ माना जाता है। यह ग्रंथ लीला का महत्त्व बताते हुए प्रेम को महत्त्व देता है। इसके ठीक विपरीत निर्गुण भक्ति में शक्तिरूपा नारी के प्रति निष्ठा रहते हुए भी उसके रमणी अथवा परकीया भाव के प्रति आकर्षण का अभाव है। निर्गुण भक्त मोक्षकामी है और जगत् को ही सत्कर्मों द्वारा स्वर्ग बनाना चाहता है, किसी काल्पनिक लोक की अभिलाषा नहीं करता।

श्रीमद्भागवत् का प्रथम श्लोक—

सच्चिदानंदरूपाय विश्वोत्पत्त्यादिहेतवे।

तापत्रयविनाशाय श्रीकृष्णाय वयं नमः॥

निर्गुण भक्ति का समर्थक सिद्ध होता है, जिसके विशेषणों द्वारा वासुदेव कृष्ण के वपुधारी कृत्यों का परिचय नहीं मिलता। वहाँ कहा गया है कि ‘सच्चिदानंदस्वरूप भगवान

श्रीकृष्ण को हम नमस्कार करते हैं, जो जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश के हेतु तथा आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीनों प्रकार के तापों का नाश करनेवाले हैं। इसी ग्रंथ के अष्टम स्कंध के तीसरे अध्याय 'गर्जेन्द्रस्तुति' में ईश्वर को समस्त दृष्टि का मूल कारण बताया गया है—

ॐ नामे भगवते तस्मै यत् एतच्चिदात्मकम्।
 पुरुषायादिबीजाय परेशायाभिधीमहि।
 यस्मिन्निदं यतक्षेदं येनेदं य इदं स्वयम्।
 योऽस्मात् परस्माच्च परस्तं प्रपद्ये स्वयम्भुवम्।

'भागवत्' विष्णुपुराण में वर्णित अधिकांश कथाओं को विस्तार देता है। वैष्णव धर्म का मूलाधार नारायण विष्णु एवं उनके अवतारों की उपासना है। महाकाव्य तथा पुराणों में विष्णु एवं नारायण में कोई अंतर नहीं माना गया है। दोनों एक ही देवता के पर्याय माने गए हैं। नारायण एक अवैदिक देवता है, जिसका सर्वप्रथम उल्लेख 'शतपथ ब्राह्मण' के दो परिच्छेदों में मिलता है। 'भागवत्' में भगवान के पुरुष रूप को नारायण कहा गया है और सृष्टि-रचना का कारण लोक-निर्माण की इच्छा को बताया गया है। इस ग्रंथ में बाईस अवतारों की गणना की गई है और अवतारवाद निर्गुण और सगुण भक्ति में भेद उत्पन्न करनेवाला प्रधान तत्त्व है। कृष्ण सृष्टि के आदिकरण हैं, ब्रह्म सर्वशक्तिमान और सबसे महत्त्वपूर्ण है। जिज्ञासुओं की जिज्ञासा का केंद्र वह अज्ञेय है। भागवत् के द्वितीय स्कंध के नवम अध्याय के बत्तीसवें श्लोक से लेकर चौतीसवें श्लोक में स्वयं भगवान् ने अपने स्वरूप को व्यक्त किया है— 'सृष्टि के पूर्व में केवल मैं ही मैं था। मेरे अतिरिक्त न स्थूल था न सूक्ष्म और न तो दोनों का कारण अज्ञान। जहाँ यह सृष्टि नहीं है, वहाँ मैं ही मैं हूँ और इस सृष्टि के रूप में जो कुछ प्रतीत हो रहा है, वह भी मैं ही हूँ और जो कुछ बचा रहेगा वह भी मैं ही हूँ।' इस प्रकार एक नहीं वरन् अनेक स्थानों पर ब्रह्म को अजन्मा, अनादि, अनंत, निराकार, अव्यक्त आदि निर्गुण रूपों में व्यक्त करने के प्रयत्न किए गए हैं तथा उसके निर्गुण स्वरूप को स्वीकार किया गया है। ब्रह्म के निर्गुण से सगुण रूप में आने की कथा को भी यह धर्मग्रंथ बड़े अनोखे ढंग से प्रकट करता है। भागवत् के प्रथम स्कंध के तृतीय अध्याय में कहा गया है कि सृष्टि के आरंभ में जब भगवान ने लोकों के निर्माण की इच्छा की तो महत्त्व आदि से निष्पन्न पुरुष रूप ग्रहण किया। उस पुरुष रूप में दस इंद्रियाँ, एक मन और पाँच भूत— ये सोलह कलाएँ थीं। उन्होंने कारण— जल में शयन करते हुए जब योगनिद्रा का विस्तार किया तब उनके नाभि-सरोवर में से एक कमल प्रकट हुआ और उस कमल में प्रजापतियों के अधिपति ब्रह्माजी उत्पन्न हुए। भगवान के उस विराट् रूप के अंग-प्रत्यंग में ही सभी लोकों की कल्पना की गई है। भागवत् में इस विराट् रूप को विशुद्ध सत्त्वमय श्रेष्ठ रूप माना गया है। इसी नारायणरूप से अवतार उत्पन्न होते हैं और यह अवतारवाद की अवधारणा, जो कि सगुण भक्ति की प्रमुख विशेषता है, यहीं से जन्म लेती है।

भागवत् के अनुसार इस प्रकार निर्गुण रूप सगुण रूप में परिणत हो जाता है और इस सगुण रूप के लिए लीला प्रमुख हो जाती है। भागवत् में लीला को प्रमुख बताया गया है, जो इस सृष्टि की रचना और संहार करने का प्रमुख कारण है। भागवत् ही नहीं अपितु भागवत् से बहुत पहले रची जा चुकी गीता भी इसी बात की पुष्टि करती है। भगवान की विशिष्टता बताते हुए

‘श्रीमद्भागवत्’ में कहा गया है कि ‘सहार, पालन और सृजन करते हुए भी वे इसमें लिपायमान नहीं होते। इस प्रकार भगवान् निर्गुण ब्रह्म को प्रमुख बताते हुए उसका उल्लेख तो करती है, किंतु अवतारवाद, लीला, वर्णाश्रम आदि को मान्य ठहराती हुए उसे उत्तरमध्यकाल के संत कवियों के निर्गुण निरूपण से पर्याप्त भिन्न ठहरा देती है। इतना ही नहीं, ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि भागवत् के दशम स्कंध के 47-वें अध्याय में उद्धव गोपियों को परम सुख देने के लिए प्रिय कृष्ण का संदेश लाते हैं। इस संदेश से यही प्रतीत होता है कि ‘सृष्टि का आदि वही है, जो इसे लीला के लिए रचता है तथा प्रेम और भक्ति से प्राप्त होता है। उद्धव के शब्दों में गोपियों का जन्म श्रेष्ठ है, जिसने प्रेम से उन्हें अपने अंतर से बसा लिया है। यानी सगुण भक्ति में प्रेम अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण है। गीता में भी कृष्ण अनन्यभक्ति तथा प्रेम से स्वयं को प्राप्य मानते हैं। उनके अनुसार योग-साधना अत्यंत दुष्कर है। मध्यकाल के निर्गुण भक्त भी ईश्वर से प्रेम का संबंध जोड़ते हैं। उनका ज्ञान कोरा तथा शुष्क नहीं है।

श्रीमद्भागवत् में निर्गुण और सगुण का कोई झगड़ा नहीं दीखता, किंतु इसी भ्रमरगीत को मध्यकाल के कवियों ने निर्गुण और सगुण की छींटाकशी और आरोप-प्रत्यारोप का रूप दे दिया। सूर और नंददास के भ्रमरगीत इसका प्रमाण हैं। किंतु भागवत् के 29 वें श्लोक में कृष्ण अपने निराकार रूप में ही मन रमाने को कहते हैं।

भवतीनां वियोगो मे न हि सर्वात्मना क्वचित्।

यथाभूतानि भूतेषु खं वाय्वग्निर्जलं मही।

तथाहं च मनः प्राणभूर्तेन्द्रियगुणाश्रयः।

ऐसा जान पड़ता है कि ‘श्रीमद्भागवत् पुराण’ का सबसे प्रिय मत ऐकांतिक भक्ति है। यही भागवत् का प्रधान प्रतिपाद्य है। ग्यारहवें स्कंध के 20 वें अध्याय के चौतीसवें श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण उद्धव को बताते हैं कि मेरे ऐकांतिक भक्त केवल भक्ति को ही चाहते हैं। कैवल्य या अपुर्णभव (मोक्ष) भी वे नहीं चाहते— यदि मैं भी उन्हें इन वस्तुओं को दूँ तो भी इसकी इच्छा वे नहीं करते—

न किंचित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम।

वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यं मपुनर्भवम्॥

इस प्रकार भागवत् में सगुण भक्ति भगवान् की भक्ति में ही सर्वस्व देखती है, जबकि ‘गीता’ जीवन का चरम उद्देश्य मोक्ष को मानती है। यह प्रमुख अंतर भागवत् और गीता में भेद उत्पन्न करता है। भक्ति का उद्देश्य प्रमुख होने के कारण ही भागवत् में भगवान् को सबके लिए सुगम बताया गया है, चाहे वह किसी भी जाति का क्यों न हो।

‘श्रीमद्भागवद्गीता’ एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है, जिसने भारतीय मानस के साथ-साथ पाश्चात्य जगत् को भी गंभीर रूप से अभिभूत किया है। अतः विद्वान् उसमें प्रतिपादित विचारों एवं सिद्धांतों के मूलस्रोत को खोज निकालने के लिए बार-बार प्रेरित होते रहे हैं। लेख के आरंभ में वेद और उपनिषदों की उपासना-पद्धति पर विचार किया जा चुका है। गीता तक आते-आते उपासना का पर्यवसान भक्ति में हो गया। निर्गुणोपासना की कठिनता के कारण सगुण भक्ति प्रमुख हो गई। गीता में कृष्ण स्वयं कहते हैं— जो मेरे लिए कर्म करता है, मात्र मुझे से प्रेम करता है, मुझे ही सर्वश्रेष्ठ तत्त्व समझता है तथा समस्त पदार्थों में अनासक्त होता है, केवल वही मुझे

प्राप्त कर सकता है—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।

निर्वैर सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव। (11/55)

अपने सगुण रूप का दर्शन कराने के बाद यह कहना भगवान के सगुण रूप की उपासना का द्योतक है। चूँकि अवतार का उद्देश्य लीला होती है और आलोचकों के अनुसार 'लीला सिर्फ लीला के लिए होती है, उसका कोई तर्क नहीं होता, किंतु गीता अवतारवाद का कारण धर्म की ग्लानि और अधर्म के उत्थान को मानती है, जिसे भगवान स्वयं आविर्भूत होकर दूर करते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।

अवतार का कार्य धर्म की पुनर्स्थापना है। यहाँ धर्म का अर्थ वर्णाश्रम धर्म है। राम भी धर्म की रक्षा के लिए शंबूक का वध कर देते हैं और कृष्ण भी तथाकथित धर्म की रक्षा के लिए आविर्भूत होते हैं—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।

धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।

किंतु गीता तो मोक्ष अर्थात् शरीर को त्यागकर फिर जन्म न लेने को प्रमुखता देता है। यही जीवन का प्रमुख उद्देश्य है। भक्ति, योग तथा साधना तो इस उद्देश्य के विविध मार्ग हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन।

यही नहीं, गीता के 12 वें अध्याय में अर्जुन कृष्ण से प्रश्न करता है कि सगुण तथा अव्यक्त को पूजनेवाले योगवेत्ता में कौन उत्तम है, तो कृष्ण कहते हैं कि निराकार ब्रह्म की साधना कठिन है, जबकि पूर्णसमर्पण भाव से सगुण को भजना अपेक्षाकृत सुगम है। सिद्धों और नाथों द्वारा अपनाई गई शुष्क साधना को स्वयं कृष्ण कठिन बता रहे हैं—

क्लेशोऽधिक तरस्तेषामव्यक्तासक्त चेतसाम्।

अव्यक्ता हि गतिर्दुर्खं देहवद्भिरवाप्यते।

जहाँ तक कबीर का प्रश्न है, वह निराकार, अरूप, निर्गुण से भी प्रेम का संबंध साध लेते हैं। 'कबीर कृता राम का' कहकर कभी वे दास की भूमिका में आ जाते हैं तो कभी मंगलाचार गाकर स्वयं को अपने निर्गुण पिता की दुल्हन स्वीकार कर लेते हैं। विरह में तड़पती प्रियतमा की भाँति जिस-तिस से अपने 'पीव' का पता पूछते-फिरते हैं तो कभी थक-हारकर हरि रूपी जननी की गोद में चिंतामुक्त बालक की भाँति मुँह ढाँपकर झपकी ले लेते हैं। उनका प्रेम उस निर्गुण को अपने प्रेम पाश में बाँध सकने में सक्षम है।

निर्गुण और सगुण उपासना की तुलना करनेवाला गीता का 12 वाँ अध्याय 'भक्तियोग' के नाम से विख्यात है। उसमें अर्जुन की जिज्ञासा युक्त शब्दावली अत्यंत तात्पर्यपूर्ण हैं, जिसमें सततयुक्ताः भक्ता और पर्युपासते शब्द अक्षर, अव्यक्त के उपासकों के लिए भी प्रयुक्त है। इसका अर्थ यह है कि उपासना सब कालों में होनी चाहिए। अतः वह क्षणिक नहीं अपितु स्थाई भाव है, जो जागृति और स्वप्न, समृति और विस्मृति में भी बना रहता है— ऐसी उपासना

करनेवाले को भक्त कहते हैं। स्पष्ट है कि गीताकार की मान्यता है कि उपासना का चरमोत्कर्ष ही भक्ति है। गीता के पश्चात् निर्गुण उपासना सगुण उपासना का प्रयोग अपेक्षाकृत कम होता गया और निर्गुण भक्ति सगुण भक्ति शब्द का प्रयोग बढ़ता गया।

गीता के अनुसार निर्गुण तत्त्व की भक्ति का स्वरूप है—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
 सर्वत्र गमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
 सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
 ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥

अर्थात्, 'जो भक्त अपनी समस्त इंद्रियों को सम्यक् रूप से नियंत्रित कर सर्वत्र समत्वबुद्धि होकर, समस्त प्राणियों के हित में लीन रहकर अक्षर, अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वव्यापी, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल एवं ध्रुव तत्त्व की उपासना करते हैं, वे मुझे ही प्राप्त करते हैं। इसमें जो निर्गुण उपास्य तत्त्व वर्णित है, उसके लक्षण पाँच निषेधक (अक्षर, अनिर्देश्य, अव्यक्त, अचिन्त्य और अचल) तथा तीन विधेयक (सर्वव्यापी, कूटस्थ और ध्रुव विशेषण) हैं। यह उपनिषदों की परंपरा के अनुकूल ही है। 'मांडूक्य उपनिषद्' के सातवें मंत्र में परब्रह्म के निर्गुण निर्विशेष स्वरूप को समझाते समय उसे अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण आदि बताने के साथ ही एकात्म, प्रत्ययसार, शांत, शिव आदि भी कहा गया है। गीता में कृष्ण निर्गुण तत्त्व की उपासना करनेवालों को भी अपनी ही प्राप्ति बताकर निर्गुण और सगुण को अभिन्न कह देते हैं। अन्यथा निर्गुण की उपासना से सगुण साधक में अपेक्षित विशेषताओं तथा साधन-प्रक्रिया का निर्देश दिया है कि निर्गुण के उपासक को अनिर्वायतः इंद्रियजयी, समत्वबुद्धि और सर्वभूतहितकारी होकर अनिर्देश्य अव्यक्त तत्त्व का, सब कालों तथा सब देशों में तन्मयतापूर्वक अनुशीलन करके उसके निकट तत्पश्चात् उससे अभिन्न हो जाना होता है। निर्गुण साधक को तो अपना ही बल रहता है, लेकिन सगुण साधना में प्रभु करुणावत्सल होकर अपने साधक की रक्षा स्वयं करते हैं। यही कारण है कि भगवान् ने सगुण साधना को अपेक्षाकृत सुगम बताया है साथ ही रूपाकार में ध्यान लगाने के कारण यह सुरक्षित भी है।

मध्यकाल के निर्गुण भक्त वेदों को अप्रामाणिक मानते हैं। उनका कहना है कि जो चीज हमारी पहुँच से परे है उसकी वैधता पर भी संदेह है। गीता में वेदों की महिमा का बखान करके उसे ब्रह्म से उत्पन्न हुआ माना गया है—

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
 तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठतम्।

जहाँ कबीर कहते हैं कि उन्होंने शास्त्र, षट्दर्शन वेद, लोक, आदि की मर्यादा नहीं रखी वहीं गीता शास्त्रविहित कर्म न करनेवालों को पापी कहकर उनकी भर्त्सना करती हैं—

एव प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
 अधायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।

संपूर्ण गीता में भगवान् कृष्ण स्वयं को समस्त सृष्टि का मूल कारण, सृष्टि विनाश का कारण आदि मानते हैं। गीता के नवम् अध्याय के अध्ययन से यही तथ्य सामने आता है कि सृष्टि में जो कुछ भी शुभ-अशुभ, अमृत-मृत्यु है वह सभी कुछ वासुदेव ही है। लेकिन इसके

साथ ही कृष्ण अर्जुन को कहते हैं कि तू मेरे को ही भज तभी मुझे प्राप्त होगा। इस तरह वे बहुदेववाद की अपेक्षा एक ईश्वर में ही मन रमाने को कहते हैं—

यान्ति देवव्रता देवान्पितृन्यान्ति पितृव्रताः।

भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्।

कुछ मिलाकर भागवत् और गीता ब्रह्म के वैदिक निरूपण के ढंग पर ही चलते हैं।

यहाँ एक बात पर गौर करना बेहद जरूरी है कि निर्गुण भक्ति अपना प्रस्थान बिंदु गीता को नहीं मानती। निर्गुण भक्ति का मिजाज़ गीता की फिलॉसफी से नितान्त भिन्न है। गीता वर्णव्यवस्था को काम्य मानता है लेकिन निर्गुण भक्ति में उसके लिए कोई स्थान नहीं है। कबीर, नानक, तुकाराम, दादू, सुंदरदास आदि का नजरिया वर्णाश्रम के प्रति तुलसी और सूर के नजरिए से एकदम भिन्न है। सगुण भक्त वर्णाश्रम को पुष्ट करते हुए चलते हैं, जबकि निर्गुण भक्ति की पहली शर्त ही है कि वह वर्णाश्रम धर्म को रिजेक्ट करे। उनकी नज़र में पापयोनि जैसी कोई चीज़ ही नहीं है, पाप और पुण्य कर्म से होता है न कि जन्म से। वैष्णव भक्ति अपने सामाजिक और ऐतिहासिक कारणों से समन्वय को लेकर चली तो इसके ठीक विपरीत निर्गुण संतों ने थोथे ज्ञान को स्वीकार करने से साफ़ इनकार कर दिया। उनका आक्रोश और खंडन बेवज़ह नहीं था, बल्कि उसमें उनकी सामाजिक स्थिति का बहुत बड़ा हाथ था। निर्गुण और सगुण भक्तिधारा को केवल ब्रह्म के स्वरूप से समझना एकांगी दृष्टिकोण को ही लक्षित करता है।

ध्यातव्य है कि उत्तरमध्यकाल के सगुण भक्त कवियों में उग्रता, विद्रोह और तिलमिला देने का स्वर कम है। यद्यपि शोषण और दमन तथा सामंतवादी विचारधारा का विरोध उनके यहाँ भी लक्षित होता है फिर भी लोकहित की चिंता वहाँ ज्यादा है, खासतौर से रामभक्त कवियों तथा तुलसी में इसका प्रभाव अधिक है। कृष्णभक्त कवियों में से फिर भी कुछ कवि दमित, शोषित वर्णों में उत्पन्न हुए थे, किंतु रामभक्त कवि उच्च वर्णों से संबंध रखते थे। तुलसी यद्यपि 'हिय निर्गुन नैननि सगुन रसना राम सुनाम' कहकर निर्गुण और सगुण को अभिन्न बता देते हैं, किंतु साथ ही अवतारवाद और वर्णाश्रम धर्म का समर्थन करते हैं।

निर्गुण भक्त कवियों में जाति-पाँति, ऊँच-नीच, आडंबर, सामाजिक विषमताओं और पुरोहितवाद के खिलाफ़ विद्रोह और खंडन का स्वर वास्तव में सामंतवादी समाज के विरुद्ध खंडन का स्वर है। मार्क्सवादी आलोचकों ने निर्गुण संतों के काव्य में इसे उस युग के सामाजिक परिवर्तन का प्रतिबिंब माना है, जिसमें सामाजिक परिवर्तन को प्रेरित करने की शक्ति भी है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह बहुत ही क्रांतिकारी कदम है।

अवतारवादी भावना ने हमारे समग्र दार्शनिक चिंतन को प्रभावित किया है। विष्णु के विविध अवतारों में राम और कृष्ण की चर्चा विशेष महत्त्व रखती है। रामानुज, मध्वाचार्य, निम्बार्क और वल्लभाचार्य आलावरी अवतारवाद के सैद्धांतिक सम्पोषक हैं। हरिवंशपुराण से लेकर भागवत् पुराण तक सभी पुराणों में भगवान और उनके अवतारों का वर्णन है। 'श्रीमद्भागवद्गीता' में प्रयुक्त धर्म शब्द एक विशेष अर्थ रखता है। वहाँ धर्म की हानि से तात्पर्य उस समय में प्रचलित वर्णाश्रम धर्म की हानि से है। कलियुग का अर्थ हरिवंशपुराण में कुछ इस तरह से दिया गया है कि जब शूद्र सिर उठाकर चलने लगे और स्त्रियाँ बोलने लगेगी तब कलियुग आ जाएगा। इस तथाकथित कलियुग की निशानी है शास्त्रविहित कर्मों के विरुद्ध आचरण करना। इस

कलियुग को मिटाने के लिए ही भगवान का अवतार होता है। सगुण भक्तों ने इसी अवतार के अवतरित होने के लिए प्रार्थना की है। निर्गुण भक्तों का दृष्टिकोण इससे सर्वथा भिन्न है। उनका मानना है कि शूद्रों और स्त्रियों के लिए तो यह तथाकथित कलियुग ही सतयुग है, जिसे मिटाने के लिए जो अवतार होता है, वह उन्हें स्वीकार्य नहीं है। जिस सामाजिक व्यवस्था में मनुष्य को मनुष्य न समझा जाए, संसार की आधी जनसंख्या (शूद्रों) को बोलने का अधिकार न दिया जाए ऐसी स्थिति और समाज व्यवस्था उन्हें स्वीकार नहीं। यद्यपि कबीर ने अपने ईश्वर के लिए 'राम' शब्द का प्रयोग किया है, किंतु वे दशरथी राम नहीं हैं। राम तो नाम है— रूप नहीं। निर्गुण संतों के लिए भक्ति ही सबसे महत्वपूर्ण थी। वे अवतारवाद का विरोध इसलिए नहीं करते थे कि ब्रह्म निर्गुण और निराकार है, बल्कि अपनी सामाजिक स्थिति के प्रति आक्रोश को वे समाज में प्रचलित हर ऐसी व्यवस्था का तिरस्कार करके अभिव्यक्त कर सकते थे। सर्वविदित है कि संतकाव्यधारा के अधिकांश कवि नीची जातियों में उत्पन्न हुए थे। कबीर जुलाहे थे तो रैदास चमार। इन्हें अन्यान्य वस्तुओं के साथ-साथ वैदिक निरूपित भक्ति के लिए भी पुराहितों पर निर्भर रहना पड़ता है। इन निर्गुनिया संतों ने इसकी तीव्र आलोचना की। कबीर पर सिद्धों, नाथों की साधना का गहरा प्रभाव था। वे सद्यःधर्मान्तरित मुस्लिम जुलाहा कुल में पैदा हुए थे। परिणामस्वरूप विरासत में उन्हें ईश्वर के साकार रूप, मूर्तिपूजा आदि का उग्र विरोध प्राप्त हुआ था। अपने निर्भीक, अक्खड़ स्वभाव के कारण और जाति-पाँत, छूआछूत की हृदयहीन, अन्यायमूलक सामाजिक व्यवस्था के प्रति क्षोभ और आक्रोश के कारण उन्होंने इन पर तीखे प्रहार किए।

यद्यपि निर्गुण भक्तिधारा से पूर्व भी कई प्राचीन ग्रंथों में जातिभेद का अनौचित्य बताया गया था, किंतु इन कवियों से पहले जाति या वर्णाश्रम धर्म के संबंध में जो भी कुछ कहा गया था। वह ऊँची जातियों द्वारा लिखा गया था। कारण यह कि ये ग्रंथ (संस्कृत) सदा ब्राह्मणों द्वारा रचे गए जाते थे, दलित वर्ग को इन्हें पढ़ने और बोलने की छूट नहीं थी। भागवत् में भक्ति को सबके लिए सुलभ बताया गया है, किंतु वहाँ पर भी इन वर्गों के प्रति दीनता का भाव दृष्टिगत होता है। वेदना और पीड़ा के भुक्तभोगी इन वर्गों की वाणी का स्वर कुछ और अधिक कटु तथा पीड़ादायक है। सहजयान, नाथपंथ तथा मध्यकालीन निर्गुणधारा के अधिकतर साधक नीची जातियों में उत्पन्न हुए थे। अतः उन्होंने इस बेतुकी प्रथा को अस्वीकार कर दिया। यही इन निर्गुनिया संतों के अक्खड़पन-फक्कड़पन और खंडनात्मकता का कारण है, उनकी वाणी में तिलमिला देने की शक्ति है। कबीर द्वारा ब्राह्मणों और पंडों की खबर लेने का प्रमुख कारण सत्ताधारी वर्गों के प्रति विद्रोह की भावना है। कबीर का आक्रोश तो इस बात को लेकर है कि जन्म तो सबका एक जैसा होता है फिर क्यों कोई बामन और कोई शूद्र कहलाता है—

तू जो बामन बामनी जाया आन बाट ते क्यों नहीं आया।

यही अक्खड़पन इन निर्गुण संतों को सगुण भक्तों से अलग करता है (भक्ति और प्रेम के स्तर पर समानता होने के बावजूद)। प्रेमाभिव्यक्ति के क्षण में कबीर जैसे मस्तमौला फक्कड़ की वाणी भी मधुर हो जाती है। उनका सारा दर्शन और उग्रता लोप हो जाती है और वे प्रेमिका तथा दुल्हन का स्वांग रचाने लगते हैं। उनका सारा क्रोध, समस्त घृणा, सारा अस्वीकार और दुख प्रेम के समक्ष फीका पड़ जाता है। ऐसी विषमता भरे जीवन से छुटकारा पाने के लिए ही

ये कवि परमात्मा से एकाकार होने की बात हैं जिसे अपुनर्भव या मोक्ष कहा जाता है।

निर्गुण संप्रदाय में लोक-चेतना की अभिव्यक्ति हुई है। कबीर इसके सच्चे प्रतिनिधि थे, जिन्होंने तत्कालीन विलासी, सुखभोगी जड़ता व अज्ञानता की जिंदगी बितानेवाले समाज को चुनौती दी। कबीर एक तरह से निर्गुण काव्यधारा के सच्चे प्रवर्तक हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाए तो वैष्णव धर्म का विकास दिन-प्रतिदिन कमजोर होती जा रही वर्णाश्रमधर्मी ब्राह्मणव्यवस्था में पुनः प्राण फूँकने के उद्देश्य से हुआ था और इस विकास-क्रम में उसने अनेक जनजातीय व रूढ़िवादी तथा परंपराविरोधी तत्त्वों को अपने भीतर समाहित कर लिया। (वैष्णव धर्म का उद्भव और विकास-सुवीरा जायसवाल) भागवत् और गीता में हम जिस समन्वयकारी धर्म का स्वरूप देखते हैं, वह युग की आवश्यकता थी। भागवत् में स्वीकृति और विरोध की प्रवृत्तियों का विचित्र सम्मिश्रण है। दसवीं शताब्दी में रचित इस ग्रंथ ने सामाजिक तनावों को कम करने और विरोधों को रोकने में ऐतिहासिक भूमिका का निर्वाह किया। वैष्णव धर्म बड़े ही ख़ास तरीके से उच्च वर्गों का समर्थन करके उनकी सामाजिक स्थिति को बनाए रखने में अहम भूमिका निभाता है। समन्वयकारी इस धर्म को जनसामान्य से भारी समर्थन मिला हो तो आश्चर्य की बात नहीं। सगुण भक्तिधारा इसी वैष्णव संप्रदाय से प्रभावित है। यही वे मूलभूत कारण हैं, जो उनके विपर्यय के आधार हैं अन्यथा सगुण और निर्गुण दोनों ही संतों ने प्रेम और भक्ति तत्त्व पर अपना पूरा विश्वास प्रकट किया है। समर्पण दोनों ही धाराओं में विद्यमान है। ढूँढनेवाले तो कबीर में भी नवधा भक्ति को ढूँढकर उन्हें वैष्णव सिद्ध करने में लगे रहते हैं।

यह कहना है कि निर्गुण काव्य अस्वीकार का साहित्य है और सगुण काव्य स्वीकार का—अधूरे ज्ञान को ही अभिव्यक्त करता है। यद्यपि वाणी के स्तर पर तथा कलात्मक दृष्टि से संतकाव्य को हेय ठहरा दिया जाता है, लेकिन वह उनकी अभिव्यक्ति शैली है, कमजोरी नहीं।

निर्गुण और सगुण के संबंध पर आलोचकों में काफ़ी मतभेद रहा है। हिंदी आलोचकों में सर्वप्रथम आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने निर्गुण संतों के विरुद्ध सगुण भक्तों को खड़ा किया। उनके अनुसार सगुण भक्त लोकसंग्रही तथा निर्गुण भक्त लोकविरोधी थे। शुक्ल जी तुलसी के प्रबल समर्थक प्रतीत होते हैं, लगता है कि कबीर के प्रहारों से वे भी आहत हुए होंगे। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और डॉ॰ रामकुमार वर्मा सरीखे आलोचकों ने सर्वप्रथम कबीर को कवि रूप में मान्यता प्रदान की और उनकी रचनाओं को सार्थक सिद्ध किया। द्विवेदी जी को निर्गुण संतों के सामाजिक विचार सगुण भक्तों से अधिक प्रगतिशील लगे। आगे चलकर मार्क्सवादी आलोचकों में एक ओर मुक्तिबोध हैं, जिनके अनुसार निर्गुणमत के विरुद्ध सगुण मत का संघर्ष निम्न वर्गों के विरुद्ध उच्चवंशीय संस्कारशील अभिरुचि वालों का संघर्ष था तो दूसरी ओर डॉ॰ रामविलास शर्मा की दृष्टि में निर्गुण और सगुण के बीच कहीं द्वंद्व ही नहीं है। वे भक्ति-आंदोलन और उसके काव्य में किसी विसंगवादी स्वर का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते। आलोचकों के इन विभिन्न स्वरों में नामवरसिंह जी सगुण और निर्गुण के मतभेद में लोक और शास्त्र का द्वंद्व देखते हैं। वे सगुण मत और काव्य को लोकविमुख तथा लोकविरोधी मानते हैं, जबकि शुक्ल जी का मत इसके ठीक विपरीत है।

मेरे अपने मत से निर्गुण और सगुण सर्वथा भिन्न नहीं हैं, उसमें अधिकांश समानताएँ

ही हैं। गीता से भागवत् तक निर्गुण-सगुण के तात्त्विक भेद में समन्वयात्मकता है। भागवत् में ब्रह्म के सगुण रूप को श्रेष्ठ बताया गया है, जबकि गीता में बौद्ध धर्म के प्रभावस्वरूप तथा अन्य सामाजिक कारणों में एकेश्वरवाद और अनन्यभक्ति पर जोर दिया गया है, वहाँ भगवान का निर्गुण रूप प्रमुख है। वस्तुतः ये दोनों अलग-अलग साधना (उपासना) पद्धतियाँ हैं। उत्तरमध्यकाल के निर्गुण साहित्य पर सिद्धों तथा नाथों का प्रभाव है। दूसरे शब्दों में, सिद्ध तथा नाथ संप्रदाय का विकसित रूप संत साहित्य में दृष्टिगोचर होता है। ब्रह्म का निरूपण भी उसी के अनुरूप ही है, जबकि सगुण भक्ति-साहित्य पर दक्षिण भारत से अद्भूत रामानुजाचार्य के वैष्णव भक्ति-आंदोलन का प्रभाव है। 'जाके मुख माथा नहीं नाहीं रूप अरूप' तथा दूसरी ओर साँवली सूरत, मोहिनी मूरत वाले दोनों धाराओं के ईश्वर के लिए भक्ति अत्यावश्यक है। दीनता दोनों प्रकार के भक्तों में है। सामाजिक कारणों से दोनों में भेद उत्पन्न होता है, अन्यथा अधिकांशतः समानता ही लक्षित होती है।

□ वरिष्ठ प्रवक्ता, हिंदी-विभाग
सनातन धर्म स्नातकोत्तर महाविद्यालय
मुज़फ़्फ़रनगर (उ०प्र०)

महाकवि बिहारी के शृंगारिक उपमान

ओमप्रकाश त्रिपाठी

बिहारी मूलतः शृंगारिक कवि थे। उनकी रचना 'बिहारी सतसई' हिंदी-साहित्य की सर्वश्रेष्ठ रचना है। वस्तुतः शृंगार ही बिहारी के काव्य की मूल आत्मा है। शृंगार का इतना पूर्ण, विशद एवं सर्वांगीण चित्रण बिहारी ने किया है कि प्रेम का कोई पक्ष भी अछूता नहीं रह गया है। 'यदि सूर ने वात्सल्य का कोना-कोना झाँका है, तो बिहारी ने समूचे शृंगार के संयोग-वियोग का सर्वांगीण चित्र खींचा है। प्रेम शृंगार में उमड़ी हुई प्रत्येक भाव-तरंग को लक्ष्य किया है।'¹

इस प्रकार हम देखते हैं कि, 'बिहारी के हाथों में पड़कर शृंगार का प्रत्येक पक्ष पूर्णिमा के चंद्रमा की भाँति उज्ज्वल हो उठा। शृंगाररस का बिहारी ने चाहे अश्लील वर्णन भी किया है, फिर भी उसमें ऐसी नवीनता और मधुरता होती है कि सैकड़ों सालों से उसे पढ़ा जा रहा है।'²

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने कहा है कि, 'शृंगाररस के ग्रंथों में जितनी ख्याति एवं जितना मान 'बिहारी-सतसई' का हुआ है, उतना और किसी का नहीं। इनका एक-एक दोहा हिंदी-साहित्य का रत्न माना जाता है। मुक्तक काव्य में जो गुण होने चाहिए, वह बिहारी के दोहों में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचे हैं। इसमें कोई संदेह नहीं, इनके दोहे क्या हैं, रस की छोटी-छोटी पिचकारियाँ हैं। मुँह से छूटते ही श्रोता को सिक्त कर देते हैं।'³

नख-शिख वर्णन शृंगार का मूल पक्ष है, इसी में सारे उपमानों को देखा जा सकता है। इस वर्णन में बिहारी ने रूढ़ और नवीन दोनों प्रकार के उपमानों का प्रयोग किया है। उपमानों की परंपरा प्राचीन काल से चली आ रही है, उपमानों का प्रयोग कवियों ने अपने विषय को और अधिक ग्राह्य बनाने के लिए किया है। बिहारी ने अपने युग की समस्त पद्धतियों को अपनाया है। नख-शिख वर्णन में बिहारी ने इस क्षेत्र में रूढ़ एवं नवीन दोनों प्रकार के उपमानों का प्रयोग किया है। नायिका अपने शरीर का किस तरह का शृंगार करती है, उसके अंग कैसे परिलक्षित होते हैं, इसका वर्णन बिहारी ने अपनी 'सतसई' में उपमानों के माध्यम से किया है। नख-शिख वर्णन के दोहे 'बिहारी-सतसई' में क्रमबद्ध रूप से नहीं मिलते। अपितु यत्र-तत्र बिखरे दिखाई देते हैं; परंतु यदि उन्हें एकत्र कर लिया जाए तो नख-शिख के समस्त अवयवों का वर्णन मिल जाता है।

केश : शृंगार के सौंदर्य-वर्णन में सर्वप्रथम केशों का वर्णन मिलता है। केशों में दीर्घता, कुटिलता, मृदुलता, निबिड़ता, नीलिमा, स्निग्धता, प्रभृति गुणों का वर्णन कवियों को प्रिय रहा, इन गुणों के लिए अंधकार, मेघ, शैवाल, मयूरपुच्छ, भ्रमर श्रेणी, चामर, यमुना तरंग, नीलमणि, नीलकमल, गगन इत्यादि उपमान रूढ़ हो गए। बिहारी कहते हैं कि प्रसाधित बालों वाली वेणी ही नहीं, खुले हुए बालों की सुंदरता को देखकर भी मन गम्या गम्य का विचार नहीं कर पाता—

सहज सुचिक्कन, स्याम रुचि, सुचि, सुगंध, सुकुमार।

गनतु न मनु पथु अपथु लखि, बिथुरे सुथरे बार।⁴

कहीं-कहीं पर बिहारी ने केशों का उपमान राहु से देकर रूढ़ उपमानों के प्रति रुचि

दिखलाई है—

भाल-लाल बेंदी-छए, छुटे बार छबि देत।
गह्यौ राहु, अति आहुकरि, मनु ससि-सूर-समेत।⁵

मुख : मुख को कमल, चंद्रमा, दर्पण से उपमित करना कवियों में रूढ़-सा हो गया है।
मुख की निर्मल आभा से जरी की किनारी वाली साड़ी की शोभा भी अधिक बढ़ गई है—

जरी-कोर गोरै बदन, बढ़ी खरी छबि, देखा।
लसति मनौ बिजुरी किए, सारद ससि परिवेष।⁶

जरी की किनारी वाली साड़ी से युक्त मुख इतना सुंदर लगता है, मानो बिजली शरद ऋतु से चंद्रमा का मंडल किए हुए बिराजती है। नायिका का मुख चंद्र के समान सुंदर है, उसके चंद्रमुख की शोभा को देखकर चकोर भ्रमवश उसे ही चाँद समझकर देखता रह जाता है—

सूर उदित हूँ मुदित-मन, मुख सुषमा की ओर।
चितै रहत चहुँ ओर तै, निहचल चखनु चकोर।⁷

ललाट : मुख-मंडल का सर्वाधिक प्रभावशाली भाग ललाट है। एक ग्रामीण गोरी के मस्तक पर लगे आड़ा तिलक का चंद्र से, ललाट का सूर्य से, खुले केशों का राहु से उपमान बिहारी ने दिया है—

भाल-लाल बेंदी-छए, छुटे बार छबि देत।
गह्यौ राहु, अति आहु करि, मनु ससि सूर-समेत।⁸

हीरे-जड़ी बेंदी से युक्त ललाट की शोभा और उपमान का वर्णन कवि ने कुशलतापूर्वक किया है।

नाक : वैसे तो नायिका का प्रत्येक अंग सहृदय व्यक्ति के लिए आकर्षण का केंद्र होता है। यदि ललाट पर लगी बेंदी हृदय को बेधती है, तो नासिका का छिद्र जो स्वयं विधा है, देखने वाले के मर्म को भींध देता है—

बेधक अनियारे नयन, बेधत करि न निषेधु।
बरवट बेधतु योग हियौ, तो नासा कौ बेधु।⁹

बिहारी कहते हैं कि नाक में पहना आभूषण, नीलमणि, जड़ित सींक, लवंग, फूल, मोतियों से संयुक्त नथ एवं उसके ऊपर लगा भाले के समान नुकीला तिलक, विवेक को भुला देनेवाला होता है—

खौरि-पनिच भ्रकुटी-धनुष, बधिक समरू, तजि कानि।
हनतु-तरुन-मृग तिलक-सर, सुरक-भाल, भरि-तानि।¹⁰

ओंठ : अधर की लालिमा को उपमना कवि ने 'इंद्रधनुष रंग' जैसे तथा पके हुए कुनरू की लालिमा से उपमित किया है—

अधर धरत हरि कै परत, ओठ डीठि पटु जोति।
हरित बाँस की बाँसुरी, इंद्रधनुष-रंग होति।¹¹

दाँत : बिहारी ने दंत-सौंदर्य में उसकी सफेदी, धवलता, क्रमबद्धता एवं समर्पित का होना उपमित किया है—

नैक हँसो हीं बानि तजि, लख्यौ परतु मुहुँ नीठि।
चौका-चमकनि-चौँध मै, परति चौँध-सी दीठि।¹²

चिबुक : नख-शिख वर्णन में प्रायः चिबुक-वर्णन की परंपरा नहीं है। परंतु बिहारी ने इनके संबंध में दो-तीन दोहे लिखे हैं। बिहारी चिबुक के गड्ढे पर अत्यधिक रीझे हैं। नेत्र रूपी ठगों के द्वारा राहगीरों को लूटकर एवं मारकर चिबुक के गड्ढे में डालने की सुंदर कल्पना बिहारी ने किया है—

डारे ठोड़ी-गाड़, गहि नैन-बटोही, मारि।
चिलक-चौँध मै रूप-ठग, हाँसी-फाँसी डारि।¹³

कान : आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि कवि लोग कान को एकदम भूल गए, लेकिन बिहारी ने कान के आभूषणों की चर्चा दो-तीन दोहों में की है—

अजौं तरयौना हीं रह्यौ, श्रुति सेवत इक-रंग।
नाकु-बास बेसरि लह्यौ, बसि मुकुतनु कै संग।¹⁴

कपोल : नायिका के गुलाबी चेहरे पर कपोलों की स्थिरता, सुकुमारता सर्वाधिक मनोहारी एवं आकर्षक होती है। इसका चित्रण करते हुए बिहारी लिखते हैं कि नायिका के गोरे गालों की स्वच्छता और निर्मलता में तरयौना का सोना मिलकर एकाकार हो गया है—

तरिवन-कनकु कपोल-दुति, बिच बीच हीं बिकान।
लाल-लाल चमकति चुनीं, चौँका-चीन्ह-समान।¹⁵

कहीं पर नायिका के द्वारा भेजे गए पान के गुलाबी रंग को देखकर नायक प्रियतमा के गुलाबी रंगवाले गालों में इतना ध्यानावस्थित हो जाता है कि पान को ही गाल मानकर उन्हें स्पर्श करता है, पोंछता है।

नेत्र : नेत्र सर्वाधिक आकर्षक अंग हैं। संसार के समस्त कवियों के लिए नेत्र-वर्णन बड़ा प्रिय विषय रहा एवं उसके द्वारा प्रेमानुभव और सौंदर्य-वर्णन को महत्त्व दिया गया है। नेत्रों की स्निग्धता, कोमलता, विशालता, चंचलता, कटाक्षों की दीर्घता, नीलिमा, प्रांत भाग में लालिमा, श्वेतता, बरौनियों की निबिड़ता आदि आँखों के गुण माने जाते हैं। इन गुणों का सादृश्य दिखाने के लिए कवियों ने निम्नलिखित उपमानों का प्रयोग किया है। मृग, मृगनेत्र, कमल, कमल-पत्र, मत्स्य, खंजन, चकोर, इन तीनों की आँखें, केतकी, कामबाण आदि। नेत्रों के लिए बिहारी ने कुछ नवीन उपमानों का प्रयोग किया है। कविलनवी तथा कुही पक्षी से आँखों को उपमित करते हुए बिहारी लिखते हैं—

सब ही त्यों समुहाति छिनु, चलति सबन दै पीठि।
वाही त्यों ठहराति यह, कविलनवी-सी दीठि।⁶

इसी प्रकार अन्य उपमानों का प्रयोग बिहारी ने किया है। अतः निष्कर्ष स्वरूप कह सकते हैं कि बिहारी ने नेत्रों के लिए रूढ़ एवं नवीन दोनों प्रकार के उपमानों का प्रयोग किया है।

भृकुटी : भृकुटी को बिना डोरी वाली कमान से उपमित किया गया है। बिहारी ने भौहों को कटीली माना है। भौहों की मरोड़ बड़ी सुंदर होती है। एक दोहे में बिहारी ने बरौनियों के टेढ़ेपन के बारे में भी लिखा है, जो निम्नलिखित दोहों में देखा जा सकता है—

नासा मोरि, नचाइ दृग, करी कका की सौंह।
 काँटे-सी कसकैति हिय, गड़ी कटीली भौंह।¹⁷
 गढ़-रचना, बरुनी, अलक, चितवनि, भौंह, कमान।
 आघु कँकाई ही चढै, तरनि, तुरंगम, तान।¹⁸

ग्रीवा : बिहारी ग्रीवा के विषय में बिल्कुल मौन रहे हैं। उन्होंने त्वचा की निर्मलता एवं पतलेपन का वर्णन अवश्य किया है, नायिका के गले की त्वचा, इतनी स्वच्छ एवं पारदर्शी है कि पान की पीक निगले तो भी स्पष्टतया दिखाई देती है—

खरी लसति गौरें गरैं, धँसति पान की पीक।
 मनौं गुलीबँद लाल की, लाल, लाल दुति-लीक।¹⁹

उरोज : सौंदर्य यौवनाकर्षण एवं नख-शिख वर्णन में स्तन सबसे अधिक आकर्षक, बहुचर्चित महत्त्वपूर्ण एवं अनुभूतिशील केंद्र रहे हैं। 'संस्कृत में स्तनों के लिए अनेक उपमान प्रयुक्त किए गए हैं। स्तनों के आकार के लिए पूँगीफल, कमल, कमलकोरक, बिल्व तालगुच्छ, हाथी का कुंभ, पहाड़, घड़ा, शिव, चक्रवाक, सौबीर, जंबीर, बीजपुर, समुद्र, छोलंग आदि उपमान जुटाए गए हैं, लेकिन बिहारी ने 'गिरिवर' को उपमान के रूप में स्थान दिया है—

चलन न पावतु निगम-मनु, जगु उपज्यौ अति त्रासु।
 कुच उतुंग गिरिवर गह्यौ, मैना मैनु मवासु।²⁰

हाथ : बिहारी ने हाथ का वर्णन बहुत कम किया है। हाथ के सौंदर्य की ठग से उपमा देते हुए बिहारी कहते हैं—

नख-रुचि चूरनु डारि कै, ठगि लगाइ निज साथ।
 रह्यौ राखि हठि लै गए, हथा हथी मनु हाथा।²¹

जब नाखूनों पर मेहँदी लगी हो, तो उनकी सुंदरता तो अद्वितीय हो जाती है, मेहँदी लगे रक्तिम नाखूनों को देखकर नायक का हृदय उसी के रंग में मानो लाल हो रहा है। बिहारी द्वारा मेहँदी लगे नाखूनों की शोभा का वर्णन एक ही दोहे में किया गया है—

गड़े,, बड़े, छबि-छाक, छकि छिगुनी-छोर छुटैं न।
 रहे सुरँग रँग रँगि उही, नह-दी महदी नैन।²²

त्रिबली एवं कटि : नाभि के निचले भाग की तीन रेखाओं को त्रिबली कहा जाता है। बिहारी ने त्रिबली, नाभि एवं भुजमूलों के सौंदर्य का वर्णन किया है—

त्रिबली, नाभि दिखाइ, कर सिर ढकि, सकुचि समाहि।
 गली अली की ओट कै, चली भली बिधि चाहि।²³

जंघा : बिहारी की 'बिहारी सतसई' में जंघा-वर्णन का एक ही दोहा उपलब्ध होता है—

जंघ जुगल लोइन निरे, करे मनौ विधि मैना।
 केलि-तरनु दुखदैन ए, केलि तरुन-सुखदेन।²⁴

उपर्युक्त दोहे में कवि ने **जंघा** का उपमान कदली स्तंभ से किया है।

पैर एवं ऐड़ी : चरणों की लाली एवं कोमलता की उपमा अधिकतर पल्लव, कमल, प्रवाल आदि से दी जाती है। बिहारी में नायिका के पाँव की कोमलता गुलाब के फूल का झाँवा लेकर आई है। परंतु उससे कहीं छाले न पड़ जाए, इस भय से छुआ तक नहीं जाता—

छाले परिबे कै डरनु, सकै न हाथु छुवाइ।
 झझकत हिउँ, गुलाब कै, झाँवा झँवैयति पाइ।²⁵
 इस प्रकार बिहारी ने नायिका की ऐड़ी की लालिमा की उपमान को इंद्रासन फल से दिया है—

कौं हर सी एड़ीनु की, लाली देखि सुभाइ।
 पाइ महावरु देइ को, आप भई बे-पाइ।²⁶
 महाकवि बिहारी ने जिन उपमानों को श्रृंगारिक उपमान के रूप में नियोजित किया है, उसे हम एक तालिका के रूप में देख सकते हैं।

रूप-सौंदर्य-नख-शिख
 नारी-सौंदर्य
 शरीर-नागिन, कल्पवृक्ष की पल्लवयुक्त डार।
 रूपकांति-कुसुम, कौमुदी, आरसी, चाँदनी, कनक, सोनजुही, केशर, दीपशिखा,
 जलचादर का दीप, फानूस का दीपक, बिजली, ताफता।
 मुख-चंद्रमा, पूर्णिमा, जल में पड़ा चंद्रबिंब
 ललाट-सूर्य
 केश-राहु
 नाक-चंपे की कली
 कुच-उत्तुंग, गिरिवर
 कटि-परब्रह्म, बहेलिये की लग्गी
 जंघा-कदली वृक्ष
 चरण-बंधूक फूल
 एड़ी-इंद्रायन फल, महावर का रंग
 नेत्र-मीन, भ्रमर, कमल, संध्या, मृग और खंजन के नेत्र, मलिंग मंत्र की कटोरी,
 डाकू, अहेरी, चील, कुही, रणसुभट, पैदल सिपाही, जलघड़ी।
 दृष्टि-बाण, तलवार, टोना, किरकिरी, रस्सी, लासा, बिच्छू का डंक
 यौवन-हाकिम
 प्रेमिका की मिठास-ऊख की गाँठ
 उपर्युक्त तालिका से जान पड़ता है कि बिहारी ने अधिकांश उपमान परंपरा अथवा अन्य पूर्ववर्ती कवियों से लिए हैं; किंतु ऐसे उपमानों की संख्या कम नहीं, जिन्हें स्वतंत्र निरीक्षण या अनुभव से प्राप्त किया है।

अतः निष्कर्ष स्वरूप कह सकते हैं कि बिहारी की श्रृंगारिक उपमान-योजना अद्वितीय है।

संदर्भ

1. डॉ० रवींद्रकुमार सिंह, बिहारी-सतसई सांस्कृतिक सामाजिक संदर्भ, पृ० 61
2. वही, पृ० 62
3. वही, पृ० 62
4. बिहारी-रत्नाकर, संपादक श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' दोहा-95

5. वही, दोहा 355
6. वही, दोहा 304
7. वही, दोहा 258
8. वही, दोहा 355
9. वही, दोहा 127
10. वही, दोहा 104
11. वही, दोहा 420
12. वही, दोहा 100
13. वही, दोहा 17
14. वही, दोहा 20
15. वही, दोहा 82
16. वही, दोहा 30
17. वही, दोहा 106
18. वही, दोहा 316
19. वही, दोहा 440
20. वही, दोहा 187
21. वही, दोहा 550
22. वही, दोहा 448
23. वही, दोहा 88
24. वही, दोहा 210
25. वही, दोहा 483
26. वही, दोहा 44

□ ग्राम बटरूपुर, पो० शाहीपुर
हंडिया, इलाहाबाद (प्रयाग) 221503

संत दादूदयाल की भक्तिभावना शशिकांत पांडेय

भक्ति शब्द 'भज्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है— भाग लेना, अथवा भाग लेकर अथवा सेवा करना। भक्तिशास्त्र के आचार्यों ने भक्ति शब्द की अनेक प्रकार से व्याख्या की है। पतंजलि में ईश्वर प्राणीधानाद्वा सूत्र की व्याख्या करते हुए भोज ने कहा है कि समस्त फलाकांक्षाओं का त्याग करना एवं समस्त कर्म परमात्मा को समर्पित कर देना ही भक्ति है।¹ शंकराचार्य एवं रामानुज ने उत्कंठायुक्त निरंतर स्मृति को भक्ति माना है।² श्रीमद्भागवत के अनुसार भक्ति निष्काम और निरंतर होनी चाहिए।³

दादू आध्यात्मिक साधना से संपन्न संत कवि थे। उन्होंने भक्ति को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। संत दादूदयाल ने भक्ति के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए राम के नाम को जल एवं स्वयं को मछली कहा है। जिस प्रकार जल से अलग होने पर मछली मर जाती है उसी प्रकार दादू भी राम से अलग हो जाने पर एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकते।⁴ उन्होंने ईश्वर के नाम-स्मरण को तीनों लोकों का सारतत्त्व माना है, तथा अहर्निश राम-नाम का रट लगाने को कहा है।⁵ दादू मुक्ति, ऋद्धि-सिद्धि, योग, भोग, घर-वन आदि न माँगकर केवल ईश्वर-भक्ति की ही कामना करते हैं।⁶ भक्ति के क्षेत्र में अनेक रूपों में भक्त भगवान के साथ संबंध स्थापित करता है। संत दादूदयाल ने अपनी निर्गुणभक्ति को ही भाव-भगति के नाम से अभिहित किया है उनके मतानुसार भाव-भगति के द्वारा ही सत्गुरु के प्रति, प्रेमभाव प्रकट हो जाता है।⁷

संत दादूदयाल के अनुसार भक्ति निष्काम होनी चाहिए। जो व्यक्ति निष्काम भावना से प्रेरित होकर निरंजन की सेवा करता है, वह राम-रस का पान अवश्य कर लेता है।⁸ निर्गुणभक्ति के अंतर्गत दादू ने उस निरंजन ब्रह्म को ही सबकुछ स्वीकार किया है। उन्होंने ब्रह्मा को गुरु, पूजा, सेवा, देवता, तीर्थ, व्रत, स्नान, ज्ञान, ध्यान, वेद, भेद, पाठ, पुराण, पिंड और प्राण आदि सबकुछ स्वीकार किया है।⁹

संत दादू ने भक्ति के भेद के अंतर्गत गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कांतासक्ति, वात्सलासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयासक्ति और परमविरहासक्ति पर प्रकाश डालने के साथ ही नवधाभक्ति के अंतर्गत श्रवण, कीर्तन, स्मरण, चरण-सेवा, वंदन, अर्चन, दास्य-सख्य एवं आत्मनिवेदन को स्वीकार किया है। जिसमें प्रथम तीन दशाओं में भक्त को अपने इष्टदेव के निकट माना गया है। चरण-सेवा, अर्चन-वंदन के समय साधक को इष्टदेव के सान्निध्य में रहना माना गया है और अंतिम तीन में भक्त के प्रति उसके आराध्यदेव की ओर से भी न्यूनाधिक प्रतिक्रिया अपेक्षित है।

प्रभु की प्राप्ति के लिए साधन रूप में गुरु, सत्संग, इंद्रिय-निग्रह और निहंकार को स्वीकार किया है। संत दादूदयाल ने गुरु के महत्त्व को स्वीकार करते हुए कहा है कि यदि लाखों चंद्रमा और अगणित सूर्य अपनी प्रभा विकीर्ण करें तो भी गुरु के सदुपदेश बिना अज्ञान व

अंधकार का तिरोभाव संभव नहीं है।¹⁰ उन्होंने कहा है कि सत्संगति से ही प्रेम भक्ति दृढ़ होती है और इसी से भक्त में प्रेमा भक्ति की रुचि पैदा होती है।¹¹ भक्ति के लिए इंद्रियनिग्रह की महती आवश्यकता है। सभी इंद्रियाँ मन द्वारा परिचालित होती हैं। अतः मन को वश में करना आवश्यक है। उन्होंने मन रूपी मृग को ज्ञान रूपी खड्ग से मारने का उपदेश दिया है।¹² अहंकार का जब मन में अभ्युदय होता है तब हरि का वहाँ से पलायन हो जाता है। उन्होंने लिखा है कि 'मैं' की उपस्थिति से हृदय में राम का निवास नहीं होता और राम की प्राप्ति हो जाने पर 'मैं' का विनाश हो जाता है।¹³

विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न पात्रों के साहचर्य के अनुसार प्रेम सुंदर और असुंदर रूप धारण कर सकता है। एक ओर यदि मानव सुंदर प्रेम के वशीभूत होकर परमार्थ के कारण अपना सबकुछ त्याग देता है, तो दूसरी ओर वह असुंदर प्रेम के कारण आत्मीयजनों की निर्मम हत्या करते समय भी हिचक का अनुभव नहीं करता। शुद्ध और सात्त्विक प्रेम ही श्रद्धा का योग पाकर भक्ति का रूप ग्रहण कर लेता है। भक्ति-क्षेत्र में समस्त आसक्तियाँ आराध्यदेव के प्रति ही केंद्रित हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में साधक की अधोमुखी प्रवृत्तियाँ ऊर्ध्वगामिनी हो जाती हैं और सृष्टि के कण-कण में अपने आराध्य का दर्शन होने लगता है। प्रेम में संयोग एवं वियोग दोनों में विरह-पक्ष को ही अत्यधिक महत्त्व दिया जाता है और इसलिए विरह को प्रेम की जाग्रत अवस्था भी कहा गया है। प्रेमास्पद के अभाव में प्रेमी के लिए संसार के समस्त उपादान निस्सार हैं। तदीयता की अवस्था में प्रेमी व भक्त अपना अस्तित्व ही भूल जाता है और संसार का प्रत्येक पदार्थ उनके लिए सुंदर और पवित्र हो जाता है। क्योंकि यह संसार वस्तुतः उनके आराध्यदेव का स्वरूप है।

संत दादूदयाल ने प्रेम के महत्त्व को स्वीकार किया है और उन्होंने प्रेम के सामने मुक्ति को भी मूल्यहीन बताया है।¹⁴ उन्होंने कहा है कि जो साधक मन, वचन और कर्म से अपने साध्य में लीन हो जाता है, वही अपने स्वामी का सान्निध्य प्राप्त कर सकता है।¹⁵ प्रेम में एकनिष्ठता एवं अनन्यता होनी चाहिए, दादू ने ईश्वर से प्रार्थना की है कि हे ईश्वर! जब तुम मेरे ऊपर द्रवित हों तो मुझे साधु पुरुष का दर्शन कराना और प्रेमा भक्ति में दृढ़ता उपस्थित कर देना।¹⁶

दांपत्य-प्रेम के अंतर्गत भक्त अपने को स्त्री एवं भगवान को अपना पुरुष मान लेता है। भक्त की दृष्टि में सारी सृष्टि ही नारी रूप में दिखाई देने लगता है और एक ही पुरुष रह जाता है, जिसे ब्रह्म कहते हैं। दादू ने दांपत्य-प्रेम को विरह के अंतर्गत स्वीकार किया है। प्रेमिका को प्रेमी की मादक पीर ही प्यारी है। वह मरती इसलिए नहीं कि उस स्थिति में उसका विरह समाप्त हो जाएगा। दादू ने विरह को प्रेम की लहर, पारसमणि आदि कहकर प्रेम-साधना के क्षेत्र में उसके महत्त्व को बतलाया है।¹⁷ दांपत्य-जीवन के सुखपूर्ण क्षणों की कल्पना विरहणी की वेदना को तीव्रतर कर देती है। प्रिया देह की सार्थकता प्रियतम के सान्निध्य में मानती है। भक्ति की तुलना पतिव्रता के प्रेम से करते हुए संत दादूदयाल कहते हैं—
पतिव्रता के एक है, दूजा नाहि।¹⁸

दादू ने अपने साहित्य में विरह-तत्त्व के अंतर्गत अभिलाषा, चिंता, गुणकथन, स्मृति, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मरण इत्यादि को स्वीकार करने के साथ-ही संयोग-पथ पर भी प्रकाश डाला है।

द्वंद्वत्मक भौतिक संघर्ष से छुटकारा पाने के बाद परमानंद की प्राप्ति ही मुक्ति है। वेदों

में इसे परमपद या तृतीयधाम कहा गया है।¹⁹ गीता इसे परमधाम या परांगतिम् के रूप में स्वीकार करती है।²⁰ बौद्धधर्म या 'निर्वाण' शब्द जीवन्मुक्ति का ही बौद्ध संकेत है। अधिकतर बौद्ध निकाय निर्वाण को अभावात्मक मानते हैं। नागसेन की सम्मति में निर्वाण के बाद व्यक्तित्व का सर्वथा लोप हो जाता है।²¹

हिंदी के संत कवियों ने वेदांत की जीवन्मुक्ति-संबंधी मान्यता को ही अधिकांशतः स्वीकार किया है।²² दादू-साहित्य का अध्ययन करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि जीवन्मुक्ति ही परमसाध्य है। दादू ने यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि जीवित अवस्था में ही मृतक के समान हो जाने पर वास्तविक आनंद प्राप्त किया जा सकता है।²³ किंतु यह जीवन्मुक्ति की अवस्था कैसे प्राप्त हो, दादू ने इसका उत्तर देते हुए कहा है कि जीवित अवस्था में ही जब मनुष्य देहाध्यास का परित्याग कर समस्त शारीरिक गुणों से ऊपर उठ जाता है, तो वही जीवन्मुक्ति का आनंद प्राप्त कर सकता है।²⁴ कबीर ने एक दृष्टांत के सहारे जीवन्मुक्ति को स्पष्ट करते हुए कहा है—

जल में कुंभ, कुंभ में जल है, भीतर बाहर पानी।

फूटा कुंभ जल जलहिं समाना, यह तत कहहु ग्यानी।²⁵

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अंशी में अंश का मिलन है। जो वैष्णव दर्शन के आयामों में ही संभव है। वैष्णवों का यह अद्वैत बड़े महत्त्व का है, जिसने संतों में अभिव्यक्ति पाई है। दादू के शब्दों में—

काचा उहलै ऊफड़े, काया हाँडी माँही।

दादू पाका मिलि रहै, जीव ब्रह्म द्वै नाहीं।²⁶

दादू ने अपने साहित्य में निष्काम कर्मयोग और मुक्ति के महत्त्व को स्वीकार किया है। दादू की दृष्टि में समस्त दुखों का मूल कारण आसक्ति है। क्योंकि आसक्ति के कारण ही वह शुभाशुभ कर्म करने के लिए प्रवृत्त होता है। इन शुभाशुभ कर्मों से मुक्त हो जाना ही कर्मयोग है। दादू सच्चे अर्थों में कर्मयोगी के संसार में रहते हुए भी कर्मों के प्रति अनासक्त थे। संत दादू ने अपनी समस्त दुर्बलताओं तथा चेष्टाओं को अपने साध्य के पावन चरणों में अर्पित कर दिया है—

तन भी तेरा मन भी तेरा, तेरा प्यंड परान।

सब कुछ तेरा तू है मेरा, यहु दादू का ग्यांन।²⁷

संदर्भ

1. पातंजल दर्शन, प्रथम, अध्याय, समाधिपाद 23 वें सूत्र की व्याख्या।
2. ब्रह्मसूत्र शंकर भाष्य, 4/1/1, रामानुज भाष्य, प्रथम सूत्र
3. श्रीमद्भागवत, 3/29/12
4. दादू हरि का नाव जल, मैं मीन ता माँही।
संगि सदा आनंद करे, विछुत्व ही मरि जाहिं। दादूदयाल ग्रंथावली, पृ० 25
5. दादू का नीका नाव है, तीन लोक ततसार।
सति दिव रटिवो करि, रे मन इहै विचार। वही, पृ० 16
6. दादूदयाल गंथावली, पृ० 445
7. दादू निपजै भाव सौ सतगुरु के धरि होई। वही, पृ० 14

8. निकटि निरंजन लागि रहु, जब लग अलष अभेव।
दादू पीवै रामरस, निहकामी निह सेव।। वही, पृ० 78
9. वही, पृ० 350
10. इकलष चंदा आणि धर, सूरज कोटि मिलाइ।
दादू गुरु गोव्यंद बिन, तो भी तिमिर न जाए। वही, पृ०7
11. दिन प्रति दर्शन साधप का, प्रेम भगति दृढ़ देउ। –दादूदयाल की वाणी भाग-1, पृ० 160
12. ज्ञान खडग गुरुदेव का, ता संग सदा सुजान।
मन मिरगा मारै सदा ताका मीठा मांसा।-वही, पृ० 170
13. जहाँ राम तहाँ मैं नहीं, मैं तहाँ नाही राम।
दादू महल बारीक है, द्वै कू नाहि ठाम-दादूदयाल ग्रंथावली पृ० 236
14. दादू राता राम का, पीवै प्रेम अघाइ।
मतिवाला दीदार का, मागै मुकति बलाइ। वही, पृ० 79
15. दादू मनसा वाचा क्रमनां, हरि सू हित होइ।
साहिब सनमुष सांगि है, आदि निरंजन सोई। वही, पृ० 101
16. दादू कहै जब दखो, तब दीजियौ, तुम पै माँगौ येह।
नितप्रति दरसन साधका, प्रेम भगति दृढ़ देह। वही, पृ० 178
17. ज्ञान ध्यान सब छाड़ि दे, जब तप साधक जोग।
दादू विरहा ले रहै, छाड़ि सकल रस भोग।- दादूदयाल की वाणी, भाग-1, पृ० 56
19. ऋग्वेद, 1/2/7/20
20. गीता, 15/16 तथा 16/22
21. बौद्ध दर्शन मीमांसा, पं० बलदेव उपाध्याय पृ० 144
22. शंकर भाष्य, 1/2/7/20
23. दादू सरीषे द्वै रहै, जीवण की क्या आस।
दादू राम विसारि करि, बाढ़ै भोग विलास। दादूदयाल ग्रंथावली, पृ० 142
24. वही, पृ० 260
25. कबीर ग्रंथावली, पृ० 106
26. दादूदयाल की वाणी, भाग-1, पृ० 19
27. वही, पृ० 280

□ 25 एच०आई०जी० चंद्रशेखर नगर
बलिया-277001

कुमार विकल के काव्य में आए मूल प्रतिपाद्य शब्द सोनिया शर्मा

प्रतिपाद्य शब्द वे हैं, जो किसी भी रचना में एकाधिक बार आवृत होकर रचनाकार के प्रतिपाद्य को द्योतित करते हों। ये शब्द किसी कृति अथवा पाठ में अनेकशः आवृत होते हैं। अनेकशः आवर्तन उन शब्दों को इस प्रकार करता है, कि वे कृति के प्रतिपाद्य के संदर्भ में अत्यंत साभिप्राय और सार्थक बन जाते हैं। इन शब्दों की आवृत्ति के कारण किसी रचना में शब्दस्तरीय समांतरता भी पैदा होती है।

कुमार विकल के काव्य-विश्लेषण की प्रक्रिया के दौरान पाए गए प्रतिपाद्य शब्द महत्वपूर्ण भाषिक अभिलक्षण अथवा शैली अभिलक्षण के रूप में प्रस्तुत होते हैं। कुमार विकल के तीनों काव्य-संग्रहों 'एक छोटी-सी लड़ाई', 'रंग खतरे में है', 'निरुपमादत्त मैं बहुत उदास हूँ' में कविता, आदमी, अँधेरा, नदी, घर मूल प्रतिपाद्य शब्द हैं।

'कविता' शब्द का कुमार विकल के काव्य-संग्रहों में 113 बार प्रयोग है। यह शब्द 60 बार 'रंग खतरे में है', 35 बार 'एक छोटी-सी लड़ाई' तथा 18 बार 'निरुपमादत्त मैं बहुत उदास हूँ' काव्य-संग्रह में आवर्तित होकर कवि के मूलप्रतिपाद्य शब्द के रूप में प्रस्तुत हुआ है। इस शब्द की 14 बार आद्यावृत्ति, 74 बार मध्यावृत्ति, 25 बारी अंतावृत्ति हुई है। संपूर्ण काव्य-संग्रह में कहीं भी कविता शब्द का अन्य पर्याय प्रयुक्त नहीं हुआ, जबकि यह शब्द संज्ञा, समुच्चयबोधक, योजक चिहनों, विशेषणों तथा क्रिया शब्दों के साथ काव्य में प्रयुक्त हुआ है। 'कविता' शब्द 'कविता से बड़ी नदी', 'कविता से रण-कौशल', 'कविता की सजग आँख', 'कविता की रात', 'कविता के आँगन', 'कविता के चोर', 'कविता से कोई बड़ा हथियार', 'कविताओं के बिंब', 'कविताओं में खतरनाक खबरें', 'कवियों की कविताएँ', 'मुक्ति की कविता', 'कविताओं के अँधेरे' तथा 'कविताओं की जगह', जैसे अन्य संज्ञा-पदों के साथ संयोजित होकर संपूर्ण काव्य-संग्रह में आवर्तित हुआ है, जो कवि की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति के लिए साधक के रूप में बन पड़ा है। 'कविता से बड़ी नदी' मानव की सामाजिक, राजनीतिक, व्यक्तिगत तथा मनोवैज्ञानिक जीवन अवस्थाओं के लिए कहा गया है। 'कविता से रण-कौशल रचना' साभिप्राय बन पड़ा है। कवि के पास समाज में व्यापा बुराईयों के विरुद्ध युद्ध करने का एकमात्र साधन अथवा हथियार कविता ही होती है और इसका प्रयोग वह समाज के लिए समाज के विरुद्ध इतनी कुशलता से करता है कि समाज अपने घिनौने स्वरूप से अनभिज्ञ नहीं रह पाता और काफी हद तक मानवीय आत्मा को झिंझोड़कर सुधारने के लिए प्रयत्नशील रहता है। 'कविता की सजग आँखें', 'कविता का बड़ा हथियार', 'कविता में चोर', 'कविता में खतरनाक खबरें', 'कविताओं के अँधेरे', 'कविता की रात', 'मुक्ति की कविता', उपर्युक्त भावों को अभिव्यक्ति करते हैं।

'कविता' शब्द पुरानी कविता, 'शराबी बिंबों वाली कविता', 'अनगढ़ कविता', 'पहली

कविता', 'नवजात कविता', 'अच्छी कविता', 'क्रांतिकारी कविता', 'अनलिखी कविता', 'नई कविता', 'श्रमजीवी कविता', 'आस्तिक कविता', 'वह कविता', 'स्वस्थ कविता', 'कविता छलनी' जैसी पूर्ववर्ती तथा एक परवर्ती विशेषण के साथ संयोजित हुआ है। 'कविता' शब्द के साथ विशेषण कवि की सोच तथा अपनी काव्यधर्मिता के स्वच्छंदत तथा उदात्त तत्त्वों को लेकर समाज का दर्पण बनने के साथ-साथ मानव को आशावान भी रखने के लिए उपयुक्त हैं।

'कविता पढ़कर रो रहा है', 'कविता में कहना', 'दुख को कविता में रो देना', 'कविता लिखना', 'नागिन को कविता में रच रहा है', 'कविताओं को खिलती है', 'कविता गुनगुना रहा', 'कविता सिसक रहा है', 'कविताएँ सुनाएँगे', 'कविता उग रही है', 'कविता पढ़कर रोना', 'कविता लिखना', रचना गुनगुनाना आदि कविता को खिलाना, कविता में सजाना, कविताओं से चुनकर, कविता का उगना, क्रियाएँ मानवीय रूप में या एक बाग़ या पौधे के रूप में प्रस्तुत करना कवि के लिए साभिप्राय बन पड़ा है। कविता विचारों को पुष्ट करके सजाती है। जिस प्रकार मानव बाग़ से सुंदर फूल चुन लेता है उसी प्रकार कवि कविता से सुकून या सुखानुभव करनेवाले भावों को स्वयं के लिए चुन लेता है। 'कविता का उगना' से अभिप्रासयन ए विचारों का समाज के समक्ष प्रकट होने से है।

'बर्फ़ और मेरी कविता', 'कविता और कुत्ते', 'कविता और लतीफ़े', 'कविता और ईश्वर', 'क्लर्क और कविता' में समुच्चयबोधक का प्रयोग करके अन्य संज्ञा शब्दों के साथ आकर मानवीय जीवन के परिवेश में अपने अस्तित्व की मौजूदगी को बताना कवि का साभिप्राय था।

'आदमी' कुमार विकल के काव्य का अन्य मूल प्रतिपाद्य शब्द है, जो तीनों काव्य-संग्रहों में 96 बार प्रयोग हुआ है। 'एक छोटी-सी लड़ाई' में 63 बार, 'निरुपमादत्त में बहुत उदास हूँ' में 25 बार, 'रंग ख़तरे में है' में 8 बार आया है। इस शब्द की 16 बार आद्यावृत्ति, 68 बार मध्यावृत्ति, 12 बार अंतावृत्ति हुई है। संपूर्ण काव्य-संग्रह में 'आदमी' शब्द पुरुष, बुद्धिजीवी, सिद्धपुरुष जैसे पर्यायों के रूप में प्रयोग हुआ है। 'विपथगामी' कविता में आदमी के स्थान पर प्रयुक्त पुरुष 'एक प्रेत पुरुष की तरह मँडराओगे। 'प्रेत आदमी', प्रेत पुरुष की तरह लय उत्पन्न करने में असमर्थ होने पर प्रयुक्त करना कवि का मन्तव्य था। इसी प्रकार 'वह तो बुद्धिजीवी है, सर्वहारा है' पंक्ति में बुद्धिजीवी होना व्यंग्य रूप में प्रयुक्त है। बुद्धिजीवी होते हुए भी सब कुछ अपना हरण करके बैठना यह मानव-प्रवृत्ति ही है। इसी प्रकार 'जिसके सेवन से वह सिद्धपुरुष हो जाता है' आदमी के लिए प्रयुक्त अन्य पर्याय सिद्धपुरुष है। तरक्की तथा विकास करके सर्वश्रेष्ठ बनना मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। इन शब्दों के प्रयोग के बावजूद कवि अपनी भावनाओं को 'आदमी' शब्द द्वारा ही व्यक्त कर पाया है। क्योंकि साधारण मानव के द्वारा भोगे क्षणों, उसके भावों को व्यक्त करने की सामर्थ्य आदमी शब्द में बन पड़ी है। जहाँ कवि ने अनेक पर्यायों में एक सटीक पर्याय चुनकर अपन शब्द-चयन-क्षमता का प्रमाण दिया है, वहीं यह भी आवश्यक है कि वह उस उचित शब्द का अन्य शब्दों के साथ क्रम अन्वय भी सुचारु रूप से दिखाए। इस तरह 'आदमी' शब्द अन्य संज्ञा विशेषण, क्रिया शब्दों से संयोजित हुआ है। 'आदमी के बस मुखौटे हो', 'आदमी की अरक्षा', 'आदमी के होठ', 'जो आदमी अपनी लपेट में', 'आदमी फाइलों के', 'आदमी उस इमारत से', 'आदमी का कोई मसीहा', 'आदमी अस्पतालों में', 'आदमी की हत्या के बारे में', 'आदमी के इशारे पर', 'हर

आदमी का वर्ग', 'आदमी का बायाँ हाथ', 'आदमी के शरीर पर अत्याचार', 'कविता का आदमी', 'आदमी की हिफाजत', 'दुखी दिनों में आदमी', 'आदमी को जीवन का सुख', 'आदमी के विवेक', 'आदमी की आँखें', 'आदमी के इतिहास', 'आदमी का आकाश', 'आदमी की मुक्ति', 'आदमी का मन जंगल' आदि संज्ञा शब्दों से जुड़कर आवर्तित हुआ है। यह शब्द मानवीय परिवेश के आस-पास की जीवन-शैली के नज़दीक नज़र आता है।

'सुखी आदमी', 'पतली त्वचा वाला आदमी', 'अकेला आदमी', 'अरक्षित आदमी', 'हिंसक आदमी', 'जानवरनुमा आदमी', 'छोटे क़द वाला आदमी', 'गैंडानुमा आदमी', 'नंगा आदमी', 'कमज़ोर आदमी', 'अदना आदमी', 'साधारण आदमी', 'स्वस्थ आदमी', 'ग़रीब आदमी', 'अश्लील आदमी', 'चालाक आदमी', 'आम आदमी', 'आदमी सचमुच महान', 'आदमी लैप-पोस्ट', 'आदमी अकेला' जैसे पूर्ववर्ती तथा परवर्ती विशेषण शोषक वर्ग की मनोवृत्ति के लिए प्रयुक्त हैं।

इसी प्रकार जनजीवन से जुड़ा शब्द तथा कवि की कविताएँ आम आदमी की साधारण क्रियाओं को बताता है। 'आदमी का रास्ता रोकने के लिए पुल बनाएगा', 'उस आदमी का क्या बना?' आदि क्रिया शब्द जनसाधारण से जुड़े हैं। उपर्युक्त सभी शब्दों से संयोजित आदमी जनसाधारण से निकटता का आभास देते हैं।

'घर' शब्द 90 बार प्रयुक्त होकर कवि का मूल प्रतिपाद्य शब्द बन गया है। इस शब्द की 'निरुपमादत्त' में बहुत उदास हूँ', 'रंग ख़तरे में है' तथा 'एक छोटी-सी लड़ाई' काव्य-संग्रहों में क्रमशः 31, 30, 29 बार आवृत्ति हुई है। 18 बार आद्यावृत्ति, 69 बार मध्यावृत्ति और 3 बार अंतावृत्ति हुई है। 'घर' के पर्याय के रूप में 'गृहयुद्ध' शब्द 'ख़तरा' कविता में दो-बार तथा 'मकान' शब्द 'लेकिन इस बार' तथा 'मुक्ति' कविता में आया है। घर के अन्य पर्यायों में से कवि केवल इस शब्द का सटीक प्रयोग कर पाया है इस प्रकार इसका अन्य संज्ञा विशेषण तथा क्रिया रूपों से संयोजन कवि इस शब्द की चयनता को साभिप्रायता प्रदान करता है।

'घर में परिवार', 'घर का चूल्हा', 'घर के बंद कमरे', 'घर की दीवारें', 'घर की गली', 'घर की खिड़कियाँ', 'घर के छोटे-छोटे ख़र्चे', 'घर का आँगन', 'घर का दरवाज़ा', 'घर से यात्रा', 'घर में सफ़ेद आंतक', 'घर के अंधेरे' जैसे संज्ञा शब्द घर से संबंधित भौतिक ज़रूरतों तथा इमारती ढाँचा तैयार करने के लिए जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती है, के साथ न केवल जुड़े हुए बल्कि मानवीय संवेदनाओं के साथ भी अपना नाता जोड़े हुए हैं अन्यथा वह घर न रहकर मकान जो केवल इमारती ढाँचा है, का रूप रह जाता है। घर की तनावपूर्ण स्थिति उस घर में अंधकार भर देती है यह सभी भौतिक तथा अभौतिक वस्तुएँ मानव रूप से संबंधित हैं। अतः घर मानव के लिए के आवास-स्थान ही नहीं, बल्कि गहन भावनाओं से संचित शब्द है। इन्हीं भावनाओं को कवि ने 'ठंडे घरों', 'हज़ारों-लाखों घरों का एक घर जैसे विशेषणों तथा 'घर को हर्षाएंगी', 'घर लौटूँगा', 'घर वापस आता है', 'घर के अंधेरे को दूर करने का यत्न', 'प्रतीक्षारत घर में रहते' जैसे क्रिया शब्दों के साथ संयोजित करके प्रकट किया है। जीवन की दिनभर की थकावट तथा तनावपूर्ण स्थिति के बाद घर लौटना और घर ही ऐसा स्थान है, जो उसे सुकून प्रदान करता। यह मानव की स्वाभाविक मनोवृत्ति है। अतः यह शब्द मानव की गहन भावनाओं का प्रतीक है।

'अंधेरा' शब्द की 55 बार आवृत्ति हुई है। 35 बार 'एक छोटी-सी लड़ाई' में, 11 बार

‘रंग ख़तरे में है’ तथा 9 बार ‘निरुपमादत्त मैं बहुत उदास हूँ’ में आया यह शब्द 8 बार आद्यावृत्त, 42 बार मध्यावृत्त, 5 बार अंतावृत्त हुआ है। ‘अंधेरा’ शब्द के लिए ‘अंधकार’ का प्रयोग तो किया है, परंतु तम या किसी अन्य पर्याय का प्रयोग संपूर्ण काव्य में कहीं नज़र नहीं आता। कवि द्वारा इस शब्द का चयन गहन अंधकार से नहीं, बल्कि मानव-मन में छिपे इस समाज के प्रति समाए अंधकार से है। जिसे कवि ने ‘अँधेरे में बिंब’, ‘अँधेरे का बोझ’, ‘अँधेरे में टापों’, ‘घर के अँधेरे’, ‘आँखों का अँधेरा’, ‘बचपन का अँधेरा’, ‘शराब के अँधेरे’, ‘दुश्मन अँधेरा के ख़िलाफ़’, ‘दुखों का अँधेरा’, ‘पशुलोक का अँधेरा’, ‘दलदली अँधेरे’, ‘आदमि अँधेरा’, ‘चिर परिचित अँधेरा’, ‘देख रहा हूँ अँधेरा’, ‘छा रहे अँधेरे’, ‘अँधेरे से छूट जाऊँगा’, ‘अँधेरे में रहते’, ‘अँधेरा ढूँढता’, ‘अँधेरे में लौट आया’ जैसे संज्ञा, विशेषण तथा क्रिया शब्दों के साथ संयोजित हुआ है। ‘अँधेरा’ स्वयं ही निराशासूचक, भयावह स्थिति उत्पन्न करनेवाला, जीवन के प्रति अलगावपूर्ण दृष्टिकोण, मानसिक उहापोह तथा भटकावपूर्ण स्थितियों का प्रतीक है। मानव को अनचाहे ही इस अँधेरे का सामना करना पड़ता है और जीवन की तनावपूर्ण परिस्थितियों से थककर उसी अंधकार में अपने को खो देना चाहता है, जहाँ उसका शेष दुनिया से टूटकर मानसिक सुकून मिल सके। यह शब्द अमानवीय व्यवस्था तथा खूँखार सत्ता तथा उत्पीड़न का प्रतीक है।

‘नदी’ कवि का अन्य मूल प्रतिपाद्य शब्द है, जो संपूर्ण काव्य में 55 बार आया है। ‘नदी’ जातिवाचक संज्ञासूचक शब्द की 4 बार आद्यावृत्ति, 48 बार मध्यावृत्ति तथा 3 बार अंतावृत्ति करके प्राकृतिक उपादान के रूप में प्रस्तुत करना ही कवि का प्रतिपाद्य न था चूँकि कवि जनसाधारण का कवि है। इसलिए साधारण जनजीवन से इसे जोड़कर मानवीय सहृदय बनाना ही साभिप्राय है। नदी के अन्य पर्यायवाची शब्द सरिता, तरंगिनी जैसे शब्दों का चयन न कर ‘नदी’ जनसामान्य में प्रचलित शब्द का सटीक प्रयोग है। इसका संबंध आम लोगों/जनता से है, जिसे इस शब्द का संयोजन अन्य व्याकरणिक शब्दों के साथ द्वारा देखा जा सकता है—

‘नदी के पार संगतरों’, ‘नदियों के रास्ते’, ‘नदी के नरभक्षी जलचरों’, ‘स्वप्नशील नदी’, ‘उथली नदी’, ‘अनोखी नदी’, ‘रोशनी की एक नदी’, ‘उद्दाम नदी’, ‘कालिया नदी’, ‘शांत नदी’, ‘बरसाती नदी’, ‘खूनी नदी’, ‘साँवली या गोरी नदी’, ‘जेहलम तथा नर्मदा नदी’, ‘शरारती नदी’, ‘जनमत की नदी’, ‘नदी सो रही है’, ‘नदियों के तट’, ‘नदियों में मछुआरे’, ‘नदी में तैरा नहीं’, ‘नदी के गुनगुनाने की आवाज़’, ‘खूँखार नदी का अंध वेग’, ‘नदी की यात्रा’, ‘नदी भी नास्तिक है’, ‘नदी के लतीफे’, ‘नदी तो नहीं हँसती’, ‘अनाम नदी’ इन शब्दों से जुड़कर नदी के प्राकृतिक स्वभाव का तो पता चलता है; परंतु मानवीय क्रियाओं के आरोप से यह आज के जनजीवन से इस प्रकार जुड़ी है कि कवि ने असामाजिक तंत्र-व्यवस्था की बोधसूचक के रूप में इसे दुश्चक्र में व्यक्ति की सामाजिकता तथा मानवीयता के ख़तरों की तरह अभिव्यक्त किया है।

संपूर्ण काव्य-संग्रह में आए मूल प्रतिपाद्य शब्दों से पता चलता है कि कुमार विकल सार्थक शब्दों का प्रयोग करते हैं। ये शब्द नए अनुभव, नए अर्थ और नए भाषिक रचाव के लिए प्रयुक्त हुए हैं। समकालीन समस्याओं और तत्कालीन अनुभवों को इन शब्दों के माध्यम से व्यक्त किया गया है और यही करना कवि का प्रतिपाद्य था।

□ मकान नं० 553, डब्बिया मौहल्ला
अग्रवाल चौक के पास, फगवाड़ा (पंजाब)

‘कृष्णायन’ का शिल्प एवं महत्त्व

डॉ० शारदा शर्मा

मातृभूमि भारतभूमि अवतार भूमि के नाम से जानी जाती है। इसी को आर्यभूमि की संज्ञा दी गई है। इस भारतभूमि पर धार्मिक दृष्टि से अनेक अवतार हुए। उनमें से राम और कृष्ण को धार्मिक एवं साहित्यिक दृष्टि से जितना महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ उतना किसी अन्य को नहीं। आर्य साहित्य में भगवान राम को पुरुषोत्तम रूप में उद्धृत किया जाता है। मानव-जीवन के लिए जीवन का जो आदर्श है, वह राम के रूप में ही जाना जाता है। सहस्रों वर्ष बीत जाने के उपरांत भी आज मनुष्य एक ओर अपने जीवन को राम के अनुरूप ढालने के प्रयास में संलग्न है तो दूसरी ओर कृष्ण को सोलह कलाओं के अवतार के रूप में स्वीकार करता है। यदि कृष्ण की बाललीलाएँ गोपियों के प्रति अलौकिक और असाधारण प्रेम की परिचायक हैं; तो असुरों का वध अलौकिक शौर्य और शक्ति का परिचायक है। गीता का ज्ञान ‘कर्मयोग’ का संदेश है तो शास्त्र और शस्त्र विद्या का प्रमाण भी।

भारतीय वाङ्मय में राम-कृष्ण के जीवन को आधार मानकर विभिन्न कवियों ने रचनाएँ कीं। राम को लेकर आदिकवि वाल्मीकि से जो परंपरा चली, उसी का निर्वाह हिंदी के तुलसी आदि कवियों ने किया। जिस प्रकार विभिन्न रामकाव्यों में राम की जीवन-गाथा एक कथात्मक रूप में मिलती है। उसी प्रकार कृष्ण की संपूर्ण जीवन-गाथा एक स्थान पर प्रायः अप्राप्य है। महाभारत, श्रीमद्भगवत, गीता, शिशुपालवध, सूरसागर आदि ग्रंथों में कृष्ण के जीवन की विभिन्न क्रियाओं का वर्णन तो है किंतु उसमें एक कथात्मक रूप का अभाव है। वे जीवन-गाथा की श्रेणी में नहीं है। कृष्ण से संबंधित विभिन्न ग्रंथों के आधार पर महाकाव्य ‘कृष्णायन’ में श्री द्वारकाप्रसाद मिश्र जी ने कृष्ण के जन्म से स्वर्गारोहण तक की सभी घटनाओं को क्रमबद्ध करके उनके संपूर्ण जीवनचरित को अवधी भाषा में चित्रित किया है।

अवधी भाषा के महाकाव्य ‘कृष्णायन’ की रचना का सूत्रपात सन् 1942 के स्वतंत्रता-संग्राम की कालावधि में मध्यप्रदेश के विख्यात पत्रकार भूतपूर्व गृहमंत्री श्री द्वारकाप्रसाद मिश्र द्वारा कारागृह में हुआ था। पुस्तकाकार रूप में यह रचना 1947 में साहित्य-जगत् में आई। रीतिकाल के प्रतिनिधि कवि बिहारी ने जिस प्रकार ‘बिहारी-सतसई’ के द्वारा हिंदी-साहित्य में एक विशिष्ट स्थान प्राप्त किया, उसी प्रकार श्री द्वारकाप्रसाद मिश्र ने एकमात्र काव्य-कृति ‘कृष्णायन’ के द्वारा हिंदी महाकाव्य की परंपरा में अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया। तुलसी ने रामचरितमानस की सामग्री ‘नानापुराण निगमागम’ से ली, तो मिश्र जी ने ‘कृष्णायन’ की सामग्री का चयन महाभारत, श्रीमद्भगवद्गीता, शिशुपाल वध, सूरसागर आदि काव्यों से किया। आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने इस ओर संकेत भी किया है— ‘भारतीय जीवन और उसकी सर्वश्रेष्ठ सांस्कृतिक परंपरा को विशुद्ध भारतीय स्वरूप में उपस्थित करने के लिए ‘कृष्णायन’ का निर्माण किया गया है।¹ ‘कृष्णायन’ की कथा मूलतः महाभारत के कथानक पर आधारित है।

इसके साथ ही अन्य कृष्ण काव्य-ग्रंथों की सहायता भी ली गई है।

‘कृष्णायन’ सात कांडों में रचित एक आधुनिक महाकाव्य है। इसके प्रथम ‘अवतरण-कांड’ में कृष्ण के जन्म, उनकी बाल-लीलाओं तथा अलौकिक वीरतापूर्ण कर्मों का वर्णन है। द्वितीय ‘मथुरा-कांड’ में कंस-वध, वसुदेव-देवकी तथा अन्य यदुर्वसियों का कंस आदि असुरों से उद्धार विषय को आधुनिकता के अनुरूप निर्दिष्ट किया है। प्राचीन गुरु-शिष्य-परंपरा, ब्रह्मचर्य के आदर्शों का उल्लेख तथा राजनीतिक सिद्धांतों की चर्चा इसमें मुख्य रूप से है। तृतीय ‘द्वारका कांड’ है। इसमें कृष्ण के मथुरा से द्वारका-गमन का कारण एवं स्वरूप का वर्णन है। द्वारका-गमन आर्य धर्म, संस्कृति एवं साम्राज्य की स्थापना के दृष्टिकोण से किया गया है। द्वारका को कवि ने भारत का प्रवेशद्वार माना है तथा उसकी रक्षा पर बल दिया है। चतुर्थ कांड का नाम ‘पूजाकांड’ है। राजसूय यज्ञ, युधिष्ठिर का द्यूत-क्रीड़ा के लिए आमंत्रण, द्रौपदी चीरहरण, पांडवों का वन-प्रस्थान आदि इसी कांड की घटनाएँ हैं। पंचम ‘गीता-कांड’ का अधिकांश भाग श्रीमद्भगवद्गीता के अनुवाद स्वरूप है। इसका प्रारंभ दुर्योधन और अर्जुन के द्वारा कृष्ण से युद्ध में मदद प्राप्त करने के कथानक से होता है। षष्ठ कांड ‘जयकांड’ है, जिसमें युद्ध का वर्णन है। महाभारत में सदाचार के विरुद्ध जो अनैतिकता है, पात्रों के चरित्र में जो कालुष्य है, उसका मिश्र जी ने यथासंभव निराकरण करने का प्रयत्न किया है। सप्तम ‘आरोहण कांड’ का प्रारंभ युधिष्ठिर की विजय श्री एवं उनके द्वारकापुरी प्रवेश के प्रसंग से होता है। यहीं भीष्म युधिष्ठिर को राजनीति की शिक्षा देते हैं। इसमें युधिष्ठिर के द्वारा किए गए अश्वमेध यज्ञ का वर्णन भी है। अंत में कृष्ण का वन में जाकर विश्राम करना, वहीं एक व्याध के तीर से पाँव में चोट लगना, मैत्रेय ऋषि का उपस्थित होकर कृष्ण से उपदेश सुनना तथा उपदेश देते-देते कृष्ण का योग द्वारा सदा के लिए नेत्र बंद कर लेना आदि कथानकों द्वारा इस कांड की इतिश्री होती है—

भये मौन प्रभु कहि वचन, निखिल भुवन-परित्राण।

खोले उत मैत्रेय दृग, मूँदे इत भगवान।²

आध्यात्मिकता भारतीय संस्कृति का प्राण है। भारत की गौरवगाथा से प्रभावित होकर ही इस मातृभूमि पर देवों, ऋषि-मुनियों आदि ने यहाँ जन्म लिया। जैसे तुलसी के राम पृथ्वी का भार हल्का करने के लिए दशरथ पुत्र के रूप में अवतरित हुए वैसे ही मिश्र जी ने भारत के जन-जन के भगवान कृष्ण को ब्रह्म के अवतार रूप में कृष्णायन में प्रस्तुत किया है। वे भारतमाता की पुकार पर सोलह कलाओं के साथ अवतरित होते हैं—

हरि हि पुकारति भारतमाता, तब-तब जन्म लेत जन-त्राता।³

भयेउ कला षोडश सहित, कृष्णचंद्र अवतार

पूर्ण ब्रह्म हरि यश विमल, बरनहुँ मति अनुसार।⁴

इस महाकाव्य का मुख्य उद्देश्य कृष्ण के चरित्र का युगानुरूप समग्र चित्र प्रस्तुत करना है। सात कांडों में रचित नायक कृष्ण-प्रधान ‘कृष्णायन’ एक ऐसा आधुनिक महाकाव्य है, जिसमें कवि की मुख्य दृष्टि कृष्ण पर केंद्रित है। काव्य की समस्त घटनाएँ एवं कथासूत्र कृष्ण के व्यक्तित्व के व्यापक रूप की अभिव्यक्ति करते हैं। ‘कृष्णायन’ के कृष्ण द्वारा एक ऐसे पूर्ण राष्ट्रीय, सांस्कृतिक आदर्श व्यक्तित्व की प्रस्तुति की गई है, जो अतीत के झरोखों से झाँकता वर्तमान के अनुरूप संदेश देता है तथा भविष्य-द्रष्टा बनकर मार्ग अवगत कराता है। वह राष्ट्र को

एकता के सूत्र में बाँधकर रखने का प्रयत्न करता है। 'वसुधैवकुटुम्बकम्' का पक्षपाती है। जो ब्रज का माखनचोर, गोपिकाओं का चीरहरण करनेवाला, यमुना तट पर मुरली बजानेवाला सूर का कान्हा है वही मिश्र जी का कृष्ण है और वह व्यक्तिगत, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, राष्ट्रीय आदि समस्याओं का समाधान करने में निपुण है तथा सभी दिशाओं को अपने कर्मयुक्त विवेक से आलोकित कर रहा है। 'कृष्णायन' की यह विशेषता है कि उसमें वर्तमान का स्वर अपने देश की संस्कृति से संबद्ध हो गया है।

'कृष्णायन' में कृष्ण के चरित्र के तीन बिंदु अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं—

1. कृष्ण का बालरूप
2. कृष्ण का प्रणयीरूप
3. कृष्ण का कर्मयोगीरूप

इन तीनों रूपों का समाहार क्रमशः 'कृष्णायन' के अवतरण कांड, मथुराकांड एवं मथुराकांड से आरोहणकांड तक के कृष्ण में करके कवि ने उसे महापुरुषत्व प्रदान किया है। मोती के समान कृष्ण का जो व्यक्तित्व विभिन्न स्थानों पर अब तक विकीर्ण था, उसे मिश्र जी ने एक सूत्र में बाँधकर एक महान् कार्य किया। जैसे मध्ययुग में तुलसी ने आदर्श पुरुष राम की महान् गाथा लिखकर तत्कालीन एवं सर्वकालीन भारतीयों को एक शाश्वत चरित्र का उपहार दिया, वैसे ही मिश्र जी ने 'कृष्णायन' द्वारा कृष्ण के रूप में एक पूर्ण आदर्श एवं अनुकरणीय कर्मठ कर्मशील चरित्र प्रदान करने का सफल प्रयत्न किया है।

कवि ने कृष्ण के बालचरित्र का प्रारंभ कृष्ण की जन्मभूमि 'कारागृह' से किया है। वहाँ से वे गोकुल पहुँचकर नंद के घर को अपनी बालसुलभ क्रीड़ाओं से भर देते हैं। 'सूरसागर' से प्रेरित होकर कवि ने कृष्ण की बाल-लीलाओं का सहज मानवीय धरातल पर सुंदर वर्णन किया है। श्रीमद्भागवत में कृष्ण की बाल-लीलाओं के कुछ ऐसे चित्र भी अंकित हैं, जो उनकी आदर्श छवि को धूमिल करते प्रतीत होते हैं। मिश्र जी ने बड़े चातुर्य से उनको परिष्कृत कर प्रस्तुत किया है।

प्रणयी रूप में राधा और गोपिकाओं के प्रेमी कृष्ण लोककल्याण एवं सात्त्विक प्रेम की भावना से ओत-प्रोत हैं। राधा और कृष्ण का यह प्रेम निगम-आगम के अद्वैत प्रेम का उदाहरण है—

हम दोउ एक, नहीं कछु भेदा
कहत सकल निगमागम वेदा।⁵

राधा और कृष्ण एक ही भाव के दो रूप हैं—

एकहि मैं अरु राधिका द्वैत-भाव भव भ्रांति।⁶

कृष्ण के व्यक्तित्व का तीसरा महत्त्वपूर्ण रूप है कर्मयोगी रूप। गीताकांड एवं जयकांड में यह रूप स्पष्ट हो जाता है। एक कुशल राजनीतिज्ञ के समान अपनी विशाल चतुरंगिणी सेना कौरवों को देकर उन्हें संतुष्ट कर देते हैं और स्वयं निशस्त्र रहकर कुरुक्षेत्र में महाभारत युद्ध का संचालन अर्जुन का सारथी बनकर करते हैं—

लीन्हें पार्थ निरस्त्र जनार्दन, सस्मित हरि, विस्मित दुर्योधन।

लहि चतुरंगिणी चमू विशाला, हिय अविवेकी हर्ष-विहाला।⁷

परिणय-संबंध किसी भी व्यक्ति, राज्य या राष्ट्र से शत्रुता समाप्त करने और उससे आत्मिक संबंध स्थापित करने का एक श्रेष्ठ साधन है। मौर्यवंशी चंद्रगुप्त ने सेल्यूकस की बेटी

से परिणय-संबंध जोड़कर ही भारत-ग्रीक मैत्री को स्थायित्व प्रदान किया था। मिश्र जी ने 'कृष्णायन' में कृष्ण को कालिंदी, जामवंती, रुक्मिणी आदि राजकुमारियों के साथ परिणय-सूत्र में बाँधकर कृष्ण की राजनीतिक सूझ-बूझ का परिचय दिया है तथा राष्ट्रहित की भावना का संदेश प्रसारित किया है। वे असुर-संहारक हैं, कुशल राजनीतिज्ञ हैं, धर्म-संस्थापक हैं, लोक-रक्षक हैं। शिशुपाल आदि का वध करके तथा जरासंध का दमन करके वे इसी रूप का परिचय देते हैं।

'कृष्णायन' के कृष्ण एक लोकनायक हैं। राष्ट्र की एकता, अखंडता और उन्नति के लिए वे निरंतर पांडवों को नेतृत्व प्रदान करने में प्रयासरत हैं। युद्ध-समाप्ति पर आत्मग्लानि एवं वैराग्य की भावना से युधिष्ठिर को सदुपदेश देकर चिंता-मुक्त करते हैं। गीता के कर्मयोगी कृष्ण 'कृष्णायन' में आजीवन कर्मरत रहते हुए युद्धोपरांत हस्तिनापुर से द्वारका पहुँचते हैं। ऋषि-परंपरा को अक्षुण्ण बनाने के लिए दुर्वासा ऋषि की वाणी को सत्यता प्रदान करने हेतु अवतारी कृष्ण व्याध के बाण से अपना शरीरांत कर देते हैं।

'कृष्णायन' में कृष्ण के चरित्र का सर्वांगीण महान् चित्र क्रमबद्ध रूप में चित्रित है। मिश्र जी ने इस काव्य में कृष्ण को पौराणिक मान्यताओं के आधार पर अवतारी रूप में प्रस्तुत करने के साथ-साथ युग प्रतिनिधित्व करनेवाले युगपुरुष के रूप में भी चित्रित किया है। मिश्र जी के 'कृष्णायन' में भक्ति के आलंबन कृष्ण समाज, राजनीति और जन-जीवन के आदर्श बनकर उपस्थित हुए हैं। वे आधुनिक युग के पूर्ण एवं अनुकरणीय कर्मठ-कर्मशील चरित्र के रूप में 'कृष्णायन' में अपनी उपस्थिति का परिचय देते हैं। 'कृष्णायन' केवल कृष्ण-कथा-काव्य ही नहीं है अपितु भारतीय दर्शन, धर्म, संस्कृति की आदर्श विचारधारा का युगानुरूप अद्वितीय एलबम है, जिसमें सभी तथ्यों के वर्तमान आवश्यक चित्र उपलब्ध हैं।

संदर्भ

1. आधुनिक साहित्य, आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, प्रथम संस्करण, पृ० 106-107
2. कृष्णायन, द्वाराकाप्रसाद मिश्र, भारतीय साहित्य मंदिर, फब्बारा, दिल्ली, सन् 1964, पृ० 513
3. वही अवतरण कांड, पृ० 1
4. वही, अवतरण कांड, पृ० 2, दोहा 3
5. कृष्णायन, वही, अवतरण कांड, पृ० 54
6. वही, मथुरा कांड, पृ० 126
7. वही, गीता कांड, पृ० 266

□ ए. 87, आवास-विकास, सहारनपुर (उ.प्र.)

अवधी लोकगीतों में नारी-जीवन की अभिव्यक्ति

श्रीमती माया शुक्ला

शोध-छात्रा, राममनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय, फैजाबाद (उ०प्र०)

गीत भावों की रसात्मक एकात्मानुभूति की अभिव्यक्ति है और लोकगीत प्रकृति के उद्गार। लोकगीत में छंद नहीं, अलंकार नहीं, उसमें है केवल रस, जिनका संबंध सीधे हृदय से है। इन गीतों में लोकहृदय का इतिहास व्याप्त है, जिसमें प्रेम का आकर्षण है, श्रद्धा है, तथा करुणा की कोमलता है। लोकगीतों में मनुष्य के हृदय का शुद्ध प्रतिबिंब है। इसमें आदर्श के स्थान पर यथार्थ है और कल्पना के स्थान पर स्वाभाविकता।¹ ग्रामीण भोले एवं सहज होते हैं, अतएव उनके गीत उनकी उसी सहजता, निष्कपटता एवं अकृत्रिमता से ओतप्रोत हैं। ग्रामीण-जीवन मृत्यु-पर्यंत गीतमय है। प्रत्येक जीवनानुभव को ग्रामवासी अपनी रसानुभूति से गीतमय बना देना चाहता है। बटोही गीत गा-गाकर अपनी थकान मिटाता है, चरवाहा बिजन वन में पशुओं को चराते समय गीत गाकर संपूर्ण वनस्थली को ध्वनिमय कर देता है। रात्रि में गन्ना पेरते समय किसान कोल्हू की चरमर में अपना स्वर भरकर रात के सन्नाटे को भुला देता है। बैलगाड़ी से यात्रा करनेवाला गाड़ीवान अपने बिरहे की आलाप से प्रकृति को जाग्रत कर देता है।

लोकगीत अवधी लोकनारियों का जीवन-धन है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों के कार्यों में एकरसता अधिक होती है। वे गीतों की सहायता भी अधिक लेती हैं। चक्की पर गेहूँ पीसते समय, खेत काटते समय, धान रोपते समय, विभिन्न सांस्कृतिक अवसरों पर वे गीत गाकर अपनी प्रसन्नता और विषादमय भावों का प्रकटीकरण हृदय की अतल गहराई से अश्रुपूरित नेत्रों से करती हैं। उत्सवों में मनोरंजन के लिए हिंदुओं में संगीत तो मुख्य है ही, विभिन्न संस्कारों के अवसरों पर प्रायः स्त्रियों का कुलगीत गाना लगभग निश्चित ही है। बिना गीतों के कोई भी कार्यक्रम अधूरा ही रह जाता है। 'इन गीतों में लोकजीवन की लंबी-लंबी कथाएँ होती हैं, जिनमें गार्हस्थ जीवन के सुख-दुख की मार्मिक झोंकियाँ होती हैं। कुछ आप बीती, कुछ जग बीती। ये गीत कथात्मक अधिक वर्णनात्मक कम होते हैं। इनमें ऊहापोह को स्थान नहीं, इतिवृत्तात्मकता नहीं वरन् चित्रात्मकता होती है। इन गीतों में नारी-जीवन के द्वारा नारी-जीवन के लिए नारी-जीवन की स्वकथित करुण कहानी होती है, जो तत्कालीन समाज का ब्योरेवार कच्चा-चिट्ठा प्रस्तुत करके नारी की दशा एवं दिशा का अत्यंत स्वाभाविक चित्र उकेरती है।² लोकगीतों का कोई लिखित साहित्य नहीं है, ये मौखिक और परंपराबद्ध हैं, एक कान से दूसरे कान तक अविरल संचरण करते रहते हैं, ये हमारे वेदों की तरह 'श्रुत' हैं। युग-युग से चले आते हुए भाव ही इन गीतों का भाव-पोषण करते हैं। 'इन गीतों की नारी में सीता की तपस्या है, सावित्री की लगन है तथा ऊर्मिला का त्याग है। इनमें आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता में पगी हुई रमणी का चित्र नहीं। लोकगीतों की नारी तो एक सुलझी हुई कथा है, उलझी हुई पहेली है। परंतु बड़ी सरलता से उसमें पैठ हो सकती है। ये गीत अनुसुइया और गांधारी के देश में पल्लवित हुए हैं।³ गीतों में वर के प्रतीक राम और कन्या की प्रतीक सीता मानी गई हैं। गृहस्थी में ससुर के लिए दशरथ,

सासु के लिए कौशल्या, समधी के लिए जनक तथा देवर के लिए लक्ष्मण अप्रस्तुत रूप में आए हैं। स्वयं ये प्रतीक ही उनकी मर्यादा के द्योतक हैं। ये सभी पात्र लोकजीवन के आदर्श हैं, इसीलिए अपने आदर्श के पग-चिह्नों पर चलना ही लोकमानस के जीवन का चरम लक्ष्य है।

अवधी लोकगीतों में कन्या का जन्म होना बहुत ही कम देखने में आता है। कन्याओं की उत्पत्ति ही हमारे पुरातन समाज में अच्छी नहीं मानी जाती थी, इसीलिए जन्मसंस्कार-संबंधी 'सोहर' आदि गीतों में पुत्र के उत्पन्न होने की ही कथा है। कन्या जन्मसंस्कार के गीत प्रायः नगण्य हैं। अतएव यह तो स्वयं सिद्ध है कि अवधी समाज में कन्या का जन्म उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता था। अवधी लोकगीतों में नारी-जीवन की कथा वहीं से आरंभ होती है, जब वह विवाह के योग्य हो जाती है। 'लोकगीतों में कन्याएँ निर्भीक एवं निःसंकोच चित्रित की गई हैं। वे अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति में पूर्ण स्वतंत्र हैं, जिसका वे यथोचित उपयोग करती हैं। उन्हें भावों को छिपाने की आवश्यकता नहीं है। इसके विपरीत उनमें सीधी अनुभूतियों की आवरणहीन अभिव्यंजना है। यौवनागम तक वह पूरी तरह सचेत हो जाती हैं, अपने भावी जीवन और जीवन-संगी के विषय में सोचने और समझने को पूरी क्षमता विकसित हो जाती हैं।⁴ अब उसे एक स्वामी की आवश्यकता महसूस होने लगती है, जो उसकी जीवन-नैया पार लगाएगा। पति के रूप में वह श्रीराम जैसा योग्य और शक्ति-संपन्न वर चाहती हैं, जो उसके मान-सम्मान और प्रतिष्ठा की रक्षा कर सकने में समर्थ हो। इसके लिए वह अवदरदानी भगवान शंकर की पूजा-अर्चना करके प्रसन्न करती हैं और वरदान भी माँगती हैं।

देहु न मोरी मैया बाँसे कै डेलरिया, फुलवा लोढ़न हम जाब
 फुलवा लोढ़त भइली खड़ी दुपहरिया, हरवा गंछत भइली साँझ
 घुमिर-घुमिर सीता फुलवा चढ़ावै, शिव बाबा दिहले असीस
 जौन माँगन तहु माँगौ सितल रानी उहै मँगन हम देब
 अनधन चाहै जो दिहा शिव बाबा स्वामी दिहा सिरीराम
 पार लगावें जो मोरी नवरिया जेहिं देखे जियरा जुड़ाई।⁵

उसे धन-संपत्ति की चाह नहीं, किंतु पति श्रीराम की ही तरह होना चाहिए। कन्या जब और सयानी हो जाती है तो माता-पिता को उसके विवाह की चिंता बेचैन करने लगती है।

'जेहिं घर कन्या कुँवारी नींद कइसे आवइ।' जब तक पिता के सिर पर अविवाहिता कन्या का भार है, भला उसे कैसे नींद आ सकती है। कन्या के पिता को नम्र होना पड़ता है। जिस स्वाभिमानी पिता ने कभी किसी के सामने सर नहीं झुकाया, उसे झुकाना पड़ता है। संभवतः इसीलिए कन्या-जन्म पर लोग हर्ष का अनुभव नहीं करते—

गिरि नए पर्वत नए, हम कबहुँ ना नए
 बेटी तोहरे करनवा जग मा ई नाथ नवाए।

इसके बावजूद पिता अपनी पुत्री की लिए शक्ति-सामर्थ्य अनुसार संपन्न लोगों के यहाँ ही संबंध खोजने का प्रयत्न करता है। वर खोजते-खोजते वह थक जाता है, परंतु योग्य घर-वर उसे कहीं नहीं मिल पाता—

उत्तर हेर्यों, दक्खिन खोज्यों, खोज्यों में कोसवा पचास रे,
 बेटी कै वर नाही पायों मालिन, मरि गयो भुखिया पिआस रे।

प्राचीनकाल से ही अवधी-समाज में पुत्र का कन्या से अधिक आदर था। दान-दहेज जैसी कुरीतियों के कारण कन्या जन्म से ही अभिशप्त मानी जाती थी। इतना ही नहीं, कन्या को जन्म देनेवाली माँ को भी परिवारीजन समुचित सम्मान नहीं देते थे। एक अवधी लोकगीत की विदा होती कन्या कितनी निर्भीकता से माँ के इस दुर्व्यवहार की भर्त्सना करती है—

उठहु न मोरी बेटी दूध-भात खाहु रे, तोहरा चलनवा बेटी बड़े भिनसार रे,
भइया के कलेउना अम्मा हँसी-खुशी दिहिउ रे, हमरा कलेउना अम्मा दिहिउ रिसियाय रे,
एतना दिनवा बेटी कुछहू न बोलिउ रे, चलत की बेरिया बेटी दिहिउ समुझाय रे,
हम और विरना अम्मा जन्में एक सँगे, सँगे खेले खाउहँ सँगे-सँगे रे।⁶

दहेज-प्रथा से विचलित होकर ही ममतामयी जन्मदात्री माँ के विचार पुत्री के प्रति कितने वीभत्स हो जाते हैं। माँ कहती है कि हे भगवान, हमारे शत्रुओं के घर भी कन्या को जन्म न देना।

नीले-नीले घोड़वा छैल असवरवा, कुऊखेते हनइ निसान,
खिरकी उधारि के अम्मा जौ देखें धिया दस आउरि होंय,
होइगा विआह परा सिर सेंदुर नौ लख दाइज थोर,
भितरा कै भाँड़ बाहर दइ मारी सतरु के धिया जिनि होंय।⁷

विवाह हो जाने के बाद अपनी ही कन्या पराई हो जाती है, सिंदूर लगाकर ही वर कन्या को अपना लेता है। विदाई के समय बेटी उदास है, अत्यधिक खिन्न है, पिता उदासी का कारण पूछता है? बेटी तुम्हारा दहेज कम है? क्या भाई ने तुझे डाँटा है? क्या किसी ने कुछ कहा है? कन्या का जवाब कितना विस्मयकारी है—

की तोरा बेटी रे दायज थोरा, की रे भैया बोले रिसियाय रे,
की तोरे बेटी रे सेवा में चुकल्यू काहे तोरा मुँहवा उदास रे,
ना मोरे बाबा रे दायज थोरा, नाहीं भैया बोले रिसियाय रे,
ना मोरे बाबा हो सेवा में चुकल्यों यहि गुन मुँहवा उदास,
तब तौ कह्यों बाबा नियरे बिउहवै, बिअह्यो देसवा की ओर रे,
नैहर लोग दुलभ है बाबा रहबै बिसूरि-बिसूरि।⁸

येन-केन-प्रकारेण विवाह हो जाने के बाद भी कन्या का पिता संतोष की साँस नहीं ले पाता है, उसे यह चिंता निरंतर सताती रहती है कि वह पीहर जाकर सुख से रह पाएगी, अथवा नहीं। उसका पति उसके साथ कैसा व्यवहार करेगा? सास-ससुर कैसे होंगे? पति वाणिज्य करने विदेश जा रहा है, साध्वी स्त्री भी साथ जाना चाहती है। पति भाँति-भाँति के कष्टों का भय दिखलाता है, किंतु वह विचलित नहीं होती है वह पति के साथ भूख प्यास सब सहकर जोगिन बन जाएगी—

भूखेन मरिहों पियासेन मरिहों। पान डारों बिसराय,
तुम्हरे साथ पिया जोगिन होइयों, न सँगे माई न बाप।

‘नारी-जाति के साथ एक विसंगति और है, पुरुष भ्रमरों की भाँति स्वेच्छाचारी होता है। वह एक फूल से दूसरे फूल, एक स्त्री से दूसरी स्त्री के पास काम-पिपासा की तृप्ति में संचरण करता रहता है।’⁹ इसके विपरीत स्त्री पतिव्रता होती है, पतिव्रत-धर्म की रक्षा करना वह अपने जीवन का चरम लक्ष्य समझती है। स्त्री दया, माया, ममता, स्नेह, बलिदान और सहनशीलता की

प्रतिमूर्ति होती है। इसके विपरीत पुरुष क्रोधी, छल-छद्म से युक्त, मायावी तथा परस्त्रीगामी होता है। लोकगीतों में ऐसे भावों से युक्त गीतों की कमी नहीं है। पति पत्नी को पर-पुरुष से रत देखकर कभी क्षमा नहीं कर सकता, इसके विपरीत स्त्री-पुरुष के सैकड़ों अपराधों को क्षमा कर देती है। यह उसके सच्चे मनोबल का द्योतक है। अवधी लोकगीतों में चित्रित नारी सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति है। सासु से आज्ञा प्राप्त कर वह परदेश गए हुए पति की खोज-खबर लेने चल पड़ती है, रास्ता पूछती हुई वह पति के पास पहुँचती है तो देखती है कि उसका पति एक मालिन से सहवास-सुख प्राप्त कर रहा है, किंतु वह क्षमाधारी अपने पति के दुराचरण को विष के घूँट के समान पी जाती है। पति का दर्शन पाकर तथा उसकी आज्ञा शिरोधार्य कर वह प्रत्यावर्तन करती है—

घोड़वा त बाँधे घोड़सरिया, हँथिनी लौंग की डारि।
अपुना तौ सूतें गलिनियाके कोरवा, मालिन बेनिया डोलावा।
कहउ तौ स्वामी मोरे लाऊँ तेलवा फुलेलवा, कहउ त दाबउँ पाउ रे,
कहउ तौ एक छिन बेनिया डोलावो। कहउ लवटि घर जाउँ रे।
उँचवै उँचवै जायउ री रनियाँ, आखिर होवै तोहार रे।¹⁰

‘आखिर होवै तोहार’ की आशा-डोर से बँधी पतिव्रता घर लौट आती है, पति के अपराध भुला देती है। प्रिय के अपराध भी प्रिय होते हैं, प्रेम के शूल भी फूल के समान कोमल होते हैं।

प्राचीनकाल में प्रायः पुरुष रोजी-रोटी की तलाश में परदेश-गमन किया करते थे। गृहस्थी का संपूर्ण उत्तरदायित्व सँभाले स्त्रियाँ प्रतीक्षा-रत रहा करती थीं। पूरा जीवन तिल-तिल काटना पड़ता था, वियोग की ज्वाला में जलना पड़ता था, किंतु उसमें ऊहा नहीं, विरह की मात्रा का अनुमान नहीं, वहाँ तो एक अनुभूतिमय संश्लिष्ट योजना है, विरहणी की भावना का चित्र दर्शनीय है—

गहिरी नदिया ये हरि जी अगम बहै राम पनियाँ।
पियवा जे चललें मोरंग देसवा बिहरेला करेजवा।
जौ हम जतनत्यों ये हरी जी जाइब रे परदेसवा।
कसि केरा बंधतों ऐ निरमोहिया प्रेम केरी डोरिया।¹¹

एक गीत और है, जिसमें मोंछ की रेख भिनते ही पति के विदेश जाने का चित्र है। स्त्री की उम्र मात्र बारह वर्ष की है, पति-वियुक्ता रहकर वह जीवन-यापन कैसे करे—

उठत रेख मसि भीजत, राम बने गए हो,
मोरी बरहा बरिस कै उमिरिया मैं कैसे बितइबइ हो।¹²

विरहणी के प्रेम का विरवा सूख रहा है। वह उसे सींचने के लिए पति का आवाहन बड़ी व्यग्रता से करती है—

प्रेम पिरित रस विरवा रे, तुम पिया चलेउ लगाइ,
सीचन की सुधि राखेउ, मुरझि न जाए।

पति द्वारा आरोपित नीम और नींबू का वृक्ष फल देने लायक हो गया है, किंतु वह परदेसी, अभी तक लौटकर नहीं आया— ‘फरिगै निमिया, लहसि गै डरिया, तबहू न आए विदेसिया हो राम।’ उसके जेठ और देवर अपना-अपना घर छवा रहे हैं, पर उस दुखियारी का घर वर्षा की बूँदों से टपक रहा है—

जेठा छवावड़ आपन मंदिरवा, देवरा छवावै चौपार,
हमारा मंदिरवा के न छवइहै, जेकर पियवा विदेश।

गार्हस्थ-जीवन नारी के शील की कसौटी है। संयुक्त परिवार की परंपरा ग्रामजीवन का वैशिष्ट्य है। सास-ससुर, ननद, देवर, जेठ, जेठानी आदि सबकी सेवा का भार नवविवाहिता स्त्री पर ही होता था। सबको प्रसन्न रखना, सबकी आज्ञा का पालन करना उसका आद्य-धर्म था। नारी-जीवन की सबसे बड़ी कसौटी थी सुंदर पुत्र-प्राप्ति। पुत्र-प्राप्ति न होने की दशा में उसका जीवन जीना दूभर था। सासु, ननंद, जेठ, जेठानी आदि सभी दिन-रात ताने मार-मारकर हृदय छलनी कर डालते थे, यहाँ तक कि उसका जीवन-संगी पति भी उसे चैन से जीने नहीं देता था। बेचारी दर-बदर की ठोकरें खाती; पीड़ा, अपमान, डाँट सहती; आत्महत्या करने को बाध्य हो जाती थी। माँ गंगा की लोह लहरों में वह समाहित हो जाना चाहती है, जंगल की शेर-शेरनी तथा साँप-सापिन आदि सभी से बारी-बारी वह अपनी जीवन-लीला समाप्त कर देने का निवेदन करती है। परंतु ये हिंस्र पशु भी 'बंध्यत्व' (बाँझ) के डर से उससे कोसों दूर भागते हैं, यहाँ तक कि धरती माँ, उसकी जन्मदात्री माँ भी उसे अपने घर में शरण देने से मना कर देती है, क्योंकि ऐसा करने से उसकी पुत्र-वधू भी बंध्यत्व-दोष से ग्रस्त हो जाएगी।

गीत की कतिपय पंक्तियाँ दर्शनीय हैं, जिसमें नारी-जीवन की व्यथा-कथा मर्मार्तक पीड़ा बनकर प्रस्फुटित हो रही है—

‘सासु मोरी कहेली बाँझनियाँ, ननद ब्रजवासिनि,
रामा जिनकी मैं वारी बिआही वे घर से निकारेनि,
घर से निकरी बाँझनियाँ जंगल बिच ठाढ़ी भई,
रामा वन से निकली बाँझनियाँ तौ दुख सुख पूँछई।
बाधिन जिनकी मैं बारी विआही उई घर घर से निकारेनि।
बाधिन, हमका जौ तू खाइ लेतिउ बिपतिया से छूटित।
घरती! तुमही सरन अब देहु, बाँझिनि नाम छूटई।
जँहवा से आइउ बाँझनियाँ लवटि घर जाहु हम नाहिं राखब।
बाँझिन तौहका जौ हम राखि लेबय हमहुँ होब ऊसर हो।¹⁴

अवधी लोकनारी की पीड़ा की गहराई मापनेवाला एक गीत और है—

गंगा जमुनवा के विचवा, तेवइया एक तप करई,
गंगा अपनी लहरि हमें देतिउ मैं मझधार डूबित हो।
की तोहें सासु-ससुर दुख की नैहर दूरि बेसे,
तेवई की तोरा हरि परदेश कवन दुख डूबऊ हो।
जाहु तेवइया घर अपने लहरि नहिं देबइ हो,
तेवई आजु के नवए महिनवा होरिलवा तोरे होइहै।
गंगा! गहबरि पियरी चढ़उवै, होरिल जब होइहै।

अवधी लोकगीतों में सासु का चित्र बहुत बुरा खींचा गया है। इसीलिए उसे 'दारुनिया' भी कहा गया है। बहू जब अपने पति-गृह गमन करती है, तो उसे सासु, ननंद और जेठानी तरह-तरह के कष्ट देती हैं, उसे सबकुछ सहना पड़ता है, सबकी सुननी पड़ती है और सबकी

आज्ञाओं का पालन करना पड़ता है। ब्याहकर ले जानेवाला पति भी उसका साथ नहीं देता है। प्रस्तुत लोकगीत में कोई नारी अपनी सासु ननंद का चित्र खींचती हुई अपने भाई से निवेदन कर रही है—

सासु तो ए भैया बुढ़िया डोकरिया आजु मरै की काल्हि रे।
ननदी तो ए भैया बन की कोइलिया आजु उड़े की काल्हि रे।
जेठानी तो ए भैया कारी बदरिया छिन बरसै छिन घामरे।
देवरानी तो ए भैया, कोने कै विलरिया छिन निकसै, छिन पैठ रे।¹⁵

इसी प्रकार एक लोगगीत और है, जिसे सुनने पर कोई भी कोमल हृदय दो बूँद आँसू टपकाए बिना नहीं रह सकता है। नारी-जीवन की समस्त व्यथा-कथा इस लोकगीत में समाहित हो गई है। भाई-बहन से मिलने आया है, अवसर पाकर बहन अपने भाई से अपनी करुण-गाथा रो-रोकर सुनाती है, जिसे सुनकर किसी भी भाई का हृदय विदीर्ण हो जाएगा—

कै मन कूटै भइया कइमन पीसौ रे ना, भइया कइ मन रीधौ रसोइया रे ना।
सासू खाँची भर बसना मँजावै रे ना, सासू पनिया पताल से भरावै रे ना।
सबका खिआओं भइया सबका पिआवा रे ना, भइया बँचि जावै पिछली टिकरिया रे ना।
भइया ओहू मा न नदी कल्योना रे ना, भइया ओहू मा कुकरा विलरिया रे ना।
पहिरौ मैं भइया सबकै उतरनवा रे ना, भइया सरीगली फटही लुगरिया रे ना।
ई दुख जिनी कह्या भइया माई के अगवा रे ना, सभवै बइठ बाबा रोइहै रे ना।
सब दुख बाँधेउ भइया अपनी गठरिया रे ना, भइया नदिया दिहा पौराइ रे ना।¹⁶

इस गीत में अत्युक्ति का एक शब्द भी नहीं है, एक नारी की सच्ची मर्मव्यथा है, एक नारी-हृदय की करुण-गाथा है, उसके हृदय की अंतर्पीड़ा है।¹⁷ गाँवों में आज भी कितने ही घरों की ऐसी ही दशा है। बहन ने अपने भाई से सब बातें खोलकर रख दी हैं, परंतु वह नहीं चाहती कि उसकी यातनाओं का समाचार उसके मायके में लोगों को मालूम हो और वे लोग उसके पतिगृह की निंदा या उपहास करें। माँ सुनेगी तो उसकी छाती फट जाएगी, बाबा रोएँगे, भौजी दो-चार घरों में बो आएंगी। अंतिम पंक्तियों में तो सहनशीलता की पराकाष्ठा है। इतना सबकुछ होने के बावजूद वह नहीं चाहती कि उसका दुख पितृ-देश में पहुँचे, इसलिए वह भाई से ही मन में ही रखने को कहती है। संपूर्ण गीत करुणरस से ओत-प्रोत है। नारी-जीवन की सच्ची अंतर्वेदना है। ऐसी ही अंतर्वेदनाएँ नारियाँ सनातनकाल से सहती आ रही हैं। जिस घर में अंतर्कलह नहीं है, वहाँ नारी-जीवन बहुत सुखमय भी है।

माता का स्थान नारी-जीवन में सबसे महत्त्वपूर्ण एवं प्रतिष्ठित है। मातृत्व में ही नारी की पूर्णता है, मातृपद नारी-जीवन की पूर्णाहुति है। नारी का हृदय कोमल भावनाओं से आपूरित है और संतति-कामना की पूर्णता पर वह सारा प्रेम उसी पर न्योछावर कर देती है। संतान की लालसा स्त्रियों में बड़ी प्रबल होती है—

गंगा गहवरि पियरी चढउबै होरिल जब होइ हैं हो
गंगा देहु भगीरथ पूत, जगत उस गावइ हो।

कितना ऊँचा लक्ष्य है, नारी पुत्र पाना चाहती है। भगीरथ जैसा, जिससे कुल-परिवार तथा समाज धन्य हो जाए। संतानवती न होने की दशा में उसका जीवन निरर्थक हो जाता है,

साँस लेना भी दूभर हो जाता है। किसी संतान सुख-वंचिता नारी की मनोव्यथा कितनी कारुणिक है। उसकी वेदना का चित्रण हृदयद्रावक है—

गोरे पिछवरवा बढाइया बेगिहि चलि आवहु हो।
बढई गढ़ि देउ काठेका बलकवा मैं मन समुझावउ हो
काठे कै बालक गढ़ि दिहले, अँगन घरि दिहली हो।
बाबुल मोरे अँगने रोइ सुनावौ, वंझिनि नाम छूट्य हो
दैवा गढ़ल जो मैं होतेउ तौ रोइ सुनउतेउ हो।
रानी बढई के गठल होरिलवा रोवन नहिं जानउ हो।¹⁸

भारतीय परंपरा की रूढ़िग्रस्त निःसंतान नारी की उपेक्षा की विडंबना भी कैसी करुण है। वह चतुर्दिक तिरस्कृता होकर साहस खो देती है, आत्म-हंत्री बन जाती है। परंतु जब वह पुत्रवती हो जाती है तो पुत्र के बिछोह पर कुम्हार के आवाँ की तरह उसका हृदय धधक-धधककर जलता है—

जैसे कुम्हार के आवाँ त भभकि-भभकि रहै
बेटा वैसेन माई कै करेजवा त धधकि-धधकि रहै।¹⁹

अवधी समाज के दो मुख्य अंग हैं नर और नारी। स्त्री के बिना पुरुष और पुरुष के बिना स्त्री दोनों ही अपूर्ण हैं। अवधी लोकगीतों में नारी का स्थान नर से नीचा है। मातृत्व-पद प्राप्त के अनंतर नारी उच्चता को प्राप्त करती है, अन्यथा उसके लिए 'गुप्त जी' की निम्न पंक्तियाँ ही चरितार्थ होती हैं— 'अवला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी, आँचल में है दूध और आँखों में पानी।' कन्या का उत्पन्न होना ही अभिशप्त माना जाता था, ग्रहण लगने के समान माना जाता था— 'धेरिया गरहनवा बेटा औघट लागे, कब धौ उगरह होई।' मात-पिता कन्या-जन्म न होने के लिए सूर्य भगवान तथा गंगा माता से बार-बार निवेदन करते हैं—

गंगा पैठि बाबा सुरुज से बिनवई मोरे बूते धेरिया न होई
धेरिया जनम तब दीहा विधाता जब धर संपत्ति होई।²⁰

गृहणी के रूप में नारी को सम्मिलित कुटुंब का निर्वाह करना पड़ता था। विवाह के बाद पति के परदेश चले जाने पर उसे सास-ससुर, देवर, जेठ, जेठानी आदि की कठोर यातनाएँ मूक बनकर सहन करनी पड़ती थीं। प्रोषित पतिकाओं पर समाज का बड़ा कठोर नियंत्रण था। उन्हें न तो हास-परिहास की स्वतंत्रता थी, न शृंगार करने की। कठोर संयम से रहने पर भी पति के परदेश से लौटने पर स्त्रियों के सत की परीक्षा भी ली जाती थी।²¹ खोलते हुए कड़ाही के तेल में प्रवेश कर उसे सती होने की परीक्षा भी उत्तीर्ण करनी पड़ती थी। परीक्षा में स्त्री के भाई, पिता आदि साक्षी के रूप में होते थे। 'रामचरितमानस में सीता की अग्नि-परीक्षा तथा निष्कासन इसी भावना की द्योतक है—

जौ चंदा बहिनी तू पक्की ठहरबू रे ना, बहिनी तोहे जागे डडिया फंदउवै रे ना
जो चंदा बहिनी तू कच्ची ठहरबू रे ना, बहिनी तोहंका जियतइ गडौबे रे ना।²²

नारी के आचरण पर तो समाज का इतना कठोर नियंत्रण था, किंतु पुरुष स्वेच्छाचारी था, एक से अनेक विवाह करने की पूरी छूट थी। लोकगीतों में सौतिया-डाह का चित्र भी अनेक लोकगीतों में चित्रित हुआ है।

देहु सवति रानी अपनी असिसिया, बहिनी भइया उतरैं पार,
दिहिन सवतिया अपनी असिसिया, बहिनी भइया डूबे मझधार।

इस प्रकार अवधी लोकगीतों में तत्कालीन नारी-समाज की विशद अभिव्यंजना प्राप्त होती है। तत्कालीन समाज का कच्चा-चिट्ठा ब्यौरेवार देखने को मिल जाता है। सभी विघ्न-बाधाओं को कुचलती, अपने कर्तव्य-पथ पर अग्रसर होती नारी आज भी समाज में महत्वपूर्ण स्थान की अधिकारिणी बनी हुई है। उसे चाहे जितनी ही यातनाएँ दी जाएँ, जितना भी कठोर नियंत्रण किया जाए, वह आगे बढ़ रही है और बढ़ती ही जाएगी, वह दिन दूर नहीं जब वह सर्वोच्च स्थान की अधिकारिणी बन बैठेगी।

संदर्भ

1. लोकगीतों की भावभूमि, कु० सरोज, लोकसंस्कृति विशेषांक, सम्मेलन पत्रिका संवत् 2010 चैत्र, पृष्ठ 285
2. लोकगीतों की सामाजिक व्याख्या, श्रीकृष्णदास, पृ० 71
3. अवधी लोकसाहित्य में लोकदेवता, डॉ० शिवप्रसाद मिश्र, पृ० 44
4. लोकगीतों की भावभूमि, कु० सरोज, लोकसंस्कृति विशेषांक, सम्मेलन पत्रिका, संवत् 2010 पृ० 286
5. अवधी का लोकसाहित्य, डॉ० सरोजनी रोहतगी, पृ० 160
6. कविता कौमुदी भाग-5 पं० रामनरेश त्रिपाठी, गीत सं० 27, पृ० 299
7. वही, गीत सं० 92, पृ० 276
8. वही, गीत सं० 33, पृ० 307
9. अवधि लोकसाहित्य में लोकदेवता, डा० शिवप्रसाद मिश्र, पृ० 57
10. लोकगीतों की भावभूमि, कु० सरोज, सम्मेलन पत्रिका, लोकसंस्कृति विशेषांक संवत् 2010, पृ० 290
11. वही, पृ० 291
12. ग्राम साहित्य, पं० रामनरेश त्रिपाठी, गीत संख्या-13, पृ० 107
13. अवधि का लोकसाहित्य, डॉ० सरोजनी रोहतगी, पृ० 154
14. कविता कौमुदी भाग-5, पं० रामनरेश त्रिपाठी, गीत संख्या-1, पृ० 83
15. सम्मेलन-पत्रिका, लोकसंस्कृति, विशेषांक 2010, कु० सरोज, पृ० 294
16. अवधी का लोकसाहित्य, डॉ० सरोजनी रोहतगी, पृ० 272
17. अवधी लोकसाहित्य में लोकदेवता, डा० शिवप्रसाद मिश्र, पृ० 49
18. वही, पृ० 45
19. ग्राम साहित्य, पं० रामनरेश त्रिपाठी, गीत संख्या-46, पृ० 133
20. ग्राम साहित्य, पं० रामनरेश त्रिपाठी, गीत संख्या-5, पृ० 269
21. अवधी लोकसाहित्य में लोकदेवता, डा० शिवप्रसाद मिश्र, पृ० 51
22. लोकगीतों की सामाजिक व्याख्या, श्री कृष्णदास, पृ० 97



आचार्य पद्मसिंह शर्मा के पत्रों में व्यंग्य-विनोद डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल

आधुनिक विकसित कलाओं के समान ही पत्र-लेखन एक भावपूर्ण और व्यक्तित्व का सहज ही आभास देनेवाली कला है। अपने साधारण जीवन में अथवा भाषण और लेखों के माध्यम से किसी व्यक्ति, नेता या लेखक का जो चरित्र और स्वभाव अप्रकट रह जाता है, वह इष्ट-मित्रों, सगे-संबंधियों आदि को लिखे गए पत्रों में, अनजाने ही प्रकट हो जाता है। 'ये निजी चिट्ठियाँ ही, जिनमें हृदय खोलकर बातें की जाती हैं, लेखक के वास्तविक व्यक्तित्व की परिचायक हैं। किसी विशेष स्थिति, प्रसंग या घटना के संबंध में, किसी के हृदयगत भाव जानने हों तो उसके निजी पत्रों का अवलोकन करना चाहिए। कवि या साहित्यकार जिन उद्गारों को कविताओं और निबंधों में व्यक्त नहीं करते या कर पाते, उन्हें वे अपनी चिट्ठियों में अवश्य प्रकट करते हैं।'¹

आचार्य पद्मसिंह शर्मा जहाँ काव्य और साहित्य के असाधारण विद्वान थे, वहाँ 'चिट्ठियाँ लिखने में तो वे अद्वितीय थे। इस दिशा में उन तक कोई नहीं पहुँच सका।'²

आचार्य जी के पत्रों में जहाँ अपने से छोटों के प्रति आशीर्वादात्मक प्रेरणा, अपने समकक्षों के प्रति सौहार्द और प्रशंसा तथा अपने से बड़ों के प्रति स्वाभाविक श्रद्धाभाव की अभिव्यक्ति हुई है, वहीं पत्रों के माध्यम से समाज, राजनीति, युगधर्म, प्रकाशकों, संपादकों, मुद्रकों आदि के लिए व्यंग्य एवं संगी-साथियों के प्रति सहज विनोद भी प्रकट हुआ है। अपने संगी-साथियों पर भी वे व्यंग्य का प्रयोग करते हुए दिखाई देते हैं, परंतु ऐसे स्थलों पर उनका उद्देश्य उनकी अप्रशंसा करना नहीं होता, वरन् उन विनोदपूर्ण मीठी झिड़कियों में प्रेरणा, स्नेह और सहानुभूति छिपी हुई मिलती है।

हास्य और विनोद

विनोद ऐसा हास है, जिसमें आलोचना, उपहास तथा जुगुप्सा के लिए कोई अवसर नहीं होता। विनोद में प्रहसनीय की दुर्बलताओं के प्रति सहानुभूति की हलकी-सी रेखा भी छिपी रहती है। ऐसे हास में ममता होती है तथा जिस पर हम हँसते हैं, वह हमारा प्रिय पात्र भी होता है। आचार्य जी के अनेक पत्रों में इस प्रकार का स्नेहिल हास प्रकट हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि जहाँ कहीं भी उनका मूड सरल हुआ है, विनोद का उत्स सहज रूप से फूट पड़ा है। अपने मित्रों के उत्तर न मिलने पर आचार्य जी की लेखनी अनेक स्थलों पर विनोद करती हुई दिखाई देती है।

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी जी को मध्य भारत हिंदी साहित्य समिति, इंदौर से लिखे गए इस पत्र में प्रकट विनोद की बानगी लीजिए—

'स्वस्ति श्री सर्वोपमान योग्य सकल गुणनिधान, प्रवासी भारतीयों की जान, परम सुजान, सद्गुण रत्नों की खान, घासलेटी-आंदोलन के महायान, गंगा-जल-निर्मल, यमुना-जल-शीतल,

पावन पवित्र, अतिविचित्र, ज्ञाति शिरोमणि इत्यादि विविध विरुदावली विराजमान श्री (एक सौ अनगिनत) मान् चतुर्वेदी जी उर्फ 'ऋखी जी' महाराज जय जमना मैया की।

अपरञ्च समाचार यह है कि यहाँ श्रीराम जी की कृपा से कुशल-छेम है, आपका मंगल सदा जमना मैया से चाहते हैं। अग्रे वार्ता यह है कि बहुत दिनांसु आपको पत्र नहीं आया, जे का बात है, जो आप चिट्ठन को उत्तर नायँ देत? क्या मटियाबुर्ज वालों ने हमला बोल दिया है या किसी नए आंदोलन का झंडा उठा लिया है, जो पत्रों का उत्तर देते भी नहीं बनता।'³

उपर्युक्त पत्र में श्री चतुर्वेदी जी के लिए प्रयुक्त विविध प्रकार के संबोधन और मध्य में बिगड़ी हुई ब्रजभाषा से हास्य की उत्पत्ति की गई है।

गुरुकुल काँगड़ी से अगहन बदी 4, 1985 रविवार को श्री वियोगीहरि को लिखे गए पत्र में भी इसी प्रकार का विनोद प्रकट हुआ है। पर्याप्त समय की प्रतीक्षा के पश्चात् श्री वियोगीहरि से पत्रोत्तर प्राप्त होने पर आचार्य जी ने अपनी विनोदी वृत्ति के अनुकूल उन्हें लिखा—

'प्रिय वियोगी हरिजी महाराज, नमो नमस्तेस्तु सहस्र कृत्वः। आखिर आपकी निद्रा टूटी, अज्ञातवास से प्रकाश में आना ही पड़ा। मैं हैरान था कि कंदरा में जा छिपे। क्या बात हुई जो इस तरह एकदम मौनी बाबा बन गए।'⁴

आर्यमित्र कार्यालय आगरा से दिनांक 29 अगस्त 1980 में आचार्य जी ने वैद्य कल्याणसिंह को पत्र लिखा था। इस पत्र के माध्यम से दर्ज कराई गई शिकायत में भी आचार्य जी के इसी विनोदी मूड के दर्शन होते हैं—

'अजी वैद्य जी नमस्ते।

मर्दे खुदा ऐसी भी क्या खुदगर्जी। माना कि 'फ़सल के दिन हैं' फिर भी दीन-ओ-दुनिया से इतनी बेख़बरी। गर्जमंदों की अर्ज़ सुनने तक की फ़ुर्सत नहीं। जवाब तक नदारद, लाहौल बिलाकूबत, उस दिन एक दरख्वास्त भेजी थी, पहुँची ज़रूर होगी, मैंने खुद पोस्ट की थी। पत्र बहुत साफ़ लिखा था, न पहुँचती तो लौटकर आती। भेजनेवाले का पता भी दर्ज था। इसलिए न पहुँचने का हीला नहीं बन सकता। आखिर आपने उत्तर क्यों नहीं दिया। खत तो 'जवाब-तलब' ज़रूरी था। ओझा जी से सम्मति लिखाकर भेज देते, कोई बड़ी बात न थी, इंतज़ार करते-करते आँखें पथरा गईं जिस तरह रोगियों की हाय-हाय सुनते तुम्हारा दिल पथरा गया है।'⁵

एक बार पर्याप्त तंदुरुस्त और हट्टे-कट्टे मास्टर रामस्वरूप गर्ग को बुखार हो आया। उनकी इस विरोधाभासपूर्ण परिस्थिति पर आचार्य जी परिहास किए बिना न रह सके। दिनांक 21 सितंबर 1925 को आर्यमित्र कार्यालय, आगरा से मास्टर जी के नाम लिखे आचार्य जी के पत्र में प्राप्त ये पंक्तियाँ उनके विनोदी स्वभाव की द्योतक हैं—

'आप-सा मोहतात मेहनती, वर्जिशी और तकरीर-पसंद हट्टा-कट्टा हेडमास्टर इस तरह बुखार की ज़द में कैसे आया। पढ़ने से जी चुराने वाले शरीर लड़कों की बद्दुआ का असर तो नहीं।'⁶

आचार्य जी ने अपने पत्रों में कितने ही स्थलों पर अपने संगी-साथियों को मीठी झिड़कियाँ भी दी हैं, परंतु उनमें कड़वाहट नहीं आने पाई है। दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

1. 'मालूम होता है महात्मा की मदसराई करके अब तुम मामूली आदमियों से बात करना शान के खिलाफ़ समझने लगे हो।'⁷

2. 'मालूम होता है अब आप पूरे संपादक बन गए हैं, तभी तो हमारी पसंद कविता को नापसंद करके छापने से इंकार कर दिया। यह संपादकीय मद प्रायः आ ही जाता है।'⁸

आचार्य जी अपने ऊपर हँसाने की कला में भी निपुण थे। वास्तव में वही हास्य श्रेष्ठ होता है, जो अपने ऊपर हँसाता है। एक बार आचार्य जी को जुकाम हो गया। रात-भर नींद नहीं आई। इसकी सूचना देते हुए उन्होंने दिनांक 8 दिसंबर 1922 को अपने सतीर्थ पंडित भीमसेन शर्मा को महाविद्यालय, ज्वालापुर से लिखा—

'मुझे कल रात से जुकाम और बुखार भी है। रात भर नींद नहीं आई—
नाक से बहता है मेरी दोस्ते-मन दरियाये गंग।
सिर मेरा क्या आज यह कैलाश पर्वत हो गया।'⁹

व्यंग्य :

इस सहज हास और विनोद के साथ-ही-साथ आचार्य जी के पत्रों में अनेक स्थलों पर व्यंग्य के तीखे छिंटे भी हैं। प्रकाशकों, संपादकों, मुद्रकों, बुद्धिहीन लेखकों, हिंदी-सेवियों और नेताओं की वृत्ति पर उनके पत्रों में व्यंग्य का तेज नशतर चलता हुआ प्रतीत होता है।

प्रकाशकों की अर्थलोलुपता और भ्रष्ट रूचि पर व्यंग्य करते हुए आचार्य जी ने चैत बदी 13, 1985 रविवार को गुरुकुल काँगड़ी से श्री वियोगीहरि जी को लिखा था—

'हिंदी संसार में ऐसा प्रकाशक मिलना दुर्लभ है, जो अच्छी चीज की कद्र करे और पेशगी पुरस्कार भी दे दे। प्रकाशक प्रायः अर्थ-पिशाच हैं। उनके यहाँ सब धानों का भाव 12 पैसे है। लोकरूचि को भ्रष्ट करनेवाले माल के खरीददार हैं।'¹⁰

प्रकाशकों के समान पत्र-पत्रिकाओं के संपादकगण भी लेखकों का शोषण करते रहे हैं। एक बार 'सरस्वती' में आचार्य जी का एक लेख छपा परंतु उसका कोई पारिश्रमिक उन्हें नहीं मिला। संपादक ने इस पर भी दूसरे लेख की माँग साथ-साथ कर दी थी। इस स्थिति पर व्यंग्य करते हुए आचार्य जी ने श्री बनारसीदास चतुर्वेदी को दिनांक 1 मई 1921 को गुरुकुल काँगड़ी से लिखा था—

'सरस्वती' और 'माधुरी' पूँजीपतियों की पत्रिकाएँ हैं। पर उनके संपादक अपनी कारगुजारी दिखाने के लिए लेखकों को कोरा टरका देते हैं। फिर भी लेख लेना अपना हक समझते हैं।'¹¹

मुद्रकों का झूठ बोलना और काम को निरंतर देर से करना प्रसिद्ध है। आचार्य जी भी प्रेसवालों की इस प्रवृत्ति के शिकार हुए थे। अपनी पुस्तक 'प्रबंध-मञ्जरी' की छपाई कराते समय इसी संदर्भ में दिनांक 8 अक्टूबर 1929 को उन्होंने पंडित हरिदत्त शास्त्री को कलकत्ता से पत्र लिखा था, जिसमें मुद्रकों की प्रवृत्ति पर हास्यपूर्ण व्यंग्य किया गया है—

'मैं तो कहता हूँ पुस्तक छपाने से अधिक मुसीबत और नहीं है। वही लोग अच्छे रहे, जो इस छापे के युग से पहले ही मर गए। कहीं व्यास जी को अपने पुराण और महाभारत छपाने पड़ते तो चीं बोल जाते, एकदम मर्त्यलोक छोड़कर भाग जाते। और कहीं दुर्वासा जी का प्रेस से काम पड़ जाता तो कष्ट-कंटक कट जाता। शाप देकर प्रेसवालों के सात-कुलों को भस्म कर देते। कहीं दुर्वासा जी मिल जाएँ तो ख्याल रखना, किसी तरह इन प्रेसवालों से उन्हें भिड़ा दिया जाए, तो संसार का उद्धार हो जाए। पहले लोग हाथ से लिखते थे तो पुस्तक की कद्र जानते थे, पढ़ते थे, याद करते थे और आदर से रखते थे। आज के लोग हैं पैसा फेंका, पुस्तक खरीदी,

फाड़-तोड़कर अलग की, इसीलिए कुछ आता-जाता भी नहीं। ग्रंथ-चुंबक ही रख जाते हैं। ज्यों-ज्यों प्रेस का काम पड़ता है मेरी तो यही धारणा दृढ़ होती जाती है कि वह अच्छा था जब लोग श्रोत (कानों) से काम लेनेवाले और स्मार्त (स्मृति से याद रखनेवाले) होते थे। लिखना-पढ़ना सब फिजूल है और यह प्रेस-सिस्टम तो एकदम जहन्नुमी चीज़ है।'¹²

आचार्य जी हिंदी में तुलनात्मक समीक्षा के प्रवर्तक माने जाते हैं, परंतु नासमझी के साथ तथ्य की हत्या करते हुए तुलनात्मक समीक्षा करने को वे उचित नहीं मानते थे। इसी संदर्भ में उन्होंने माघ कृ० 10, 1984 को काव्य-कुटीर, नायक नंगला, चाँदपुर (बिजनौर) से श्री वियोगीहरि जी को पत्र लिखते हुए अपने जो विचार प्रकट किए, वे ऐसे अज्ञानी लेखकों की वास्तविक स्थिति के अच्छे दिग्दर्शक हैं—

‘महारथी’ के नवीन अंक में, जिसमें आपका कड़खा छपा है, एक महारथी ने बिहारी और दास के एक दोहे की तुलनात्मक समालोचना लिखी है। कितना अत्याचार और अज्ञान है। दास का दोहा बिहारी की बिल्कुल नकल है। फिर भी ‘भाव-साम्य बिल्कुल नहीं’ और दास का दोहा अच्छा है। ‘हिंदी में तुलनात्मक समालोचना’ का रोग संक्रामक होकर फैल रहा है। दूसरे महारथी ‘समालोचक’ के नवीन अंक में फर्माते हैं ‘मतिराम सतसई’ के प्रकाशन से बिहारी का आसन छिन गया।’ जहाँ ऐसे विवेचक हों, बस साहित्य का बेड़ा पार है।'¹³

हिंदी-लेखकों की पदलोलुपता और पदवीलोलुपता का दिग्दर्शन आचार्य जी की निम्नलिखित पंक्तियों से होता है। ये पंक्तियाँ चैत्र 30, 1976 को नायक नंगला से श्री जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी को लिखे गए पत्र में से उद्धृत हैं, जिनमें साहित्यसेवी पंडित गौरीशंकर ओझा को सम्मेलन के सभापति पद से हटाकर किसी अन्य को सभापति पद सौंप दिया गया था—

‘हिंदी वालों का बाबा आदम ही निराला है। साहित्य-सेवियों की कद्र कैसे हो! इन्हें तो रायबहादुर, कोई बड़े भारी लीडर और लक्ष्मीवाहन चाहिए। साहित्यसेवी लोग तो यहाँ बेगार और मजूर हैं।'¹⁴

श्री हरिशंकर शर्मा को नायक नंगला, चाँदपुर से दिनांक 8 सितंबर, 1926 को लिखे गए पत्र में आचार्य जी ने साहित्य-संस्थाओं में व्याप्त ‘लीडरी’ पर व्यंग्य करते हुए लिखा था—

‘ढोंगी लीडरों का ज़माना है, मौज़ है उनकी। चतुर्वेदी जी और कवि जी की कद्र करनेवाले कहाँ हैं! जिधर देखिए यार लोगों ने अखाड़े बना रखे हैं, उनमें खुशामदी, स्वार्थी और मक्कार पड़े दंड पेलते हैं। भले आदमियों को कौन पूछता है।'¹⁵

अस्तु, आचार्य जी के पत्रों में जहाँ मार्मिकता और अपने संगी-साथियों को स्मरण रखने की महती भावना है, वहीं उनमें विनोद का भाव और आवश्यकता पड़ने पर व्यंग्य भी प्रकट हुआ है। उनके व्यंग्यों में चररापन और तीक्ष्णता के साथ प्रखरता भी है; परंतु विनोद और परिहासपूर्ण स्थलों पर वे मात्र आनंद की भावना से भरे हुए प्रतीत होते हैं।

संदर्भ

1. पद्मसिंह शर्मा के पत्र, प्राक्कथन, डॉ० हरिशंकर शर्मा, पृ० 7
2. वही, परिशिष्ट, श्रीराम शर्मा, पृ० 247
3. पद्मसिंह शर्मा के पत्र, पृ० 111, पत्र संख्या 116

4. वही, पृ० 25, पत्र संख्या, 24
5. वही, पृ० 169-170, पत्र संख्या 177
6. वही, पृ० 208, पत्र संख्या 226
7. वही, पृ० 44, पंडित हरिशंकर शर्मा को लिखा गया पत्र, संख्या 44
8. वही, पृ० 67, श्री बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखा गया पत्र, संख्या 68
9. पद्मसिंह शर्मा के पत्र, पृ० 206, पत्र संख्या, 224
10. वही, पृ० 26, पत्र संख्या 25
11. वही, पृ० 79, पत्र संख्या 81
12. वही, पृ० 126-127, पत्र संख्या 131
13. वही।
14. वही, पृ० 179, पत्र संख्या 190
15. वही, पृ० 31, पत्र संख्या 30

□ 16, साहित्य विहार, बिजनौर (उ०प्र०)

अज्ञेय : व्यक्तित्व वैशिष्ट्य और काल-चिंतन

डॉ० पूनम चौहान

हिंदी-साहित्य के शिखर पुरुष अज्ञेय का व्यक्तित्व समर्थ एवं विराट् है। इनके नाम 'अज्ञेय' के विषय में रोचक तथ्य है कि जब ये क्रांतिकारी क्रिया-कलापों के कारण जेल में थे, इन्होंने कुछ कहानियाँ लिखकर जैनेंद्र जी के हाथों छपने के लिए भेजीं, लेखक का नाम बताया नहीं जा सकता, इस नाते वह 'अज्ञेय' है और यही नाम उनकी प्रसिद्धि का प्रकाश-स्तंभ बन गया।

वात्स्यायन के जन्म में सर्वप्रथम विशिष्टता यही रही कि वे खेत में जन्मे थे और इस धरती-पुत्र ने सदैव प्रकृति का सान्निध्य ही चाहा और प्राप्त भी किया। प्रकृति से अटूट प्रेम और उनकी जिज्ञासु प्रवृत्ति ने उन्हें यायावर बनाया। उनकी यायावरी और जिज्ञासु प्रवृत्ति के कारण उन्होंने सभी पहलुओं और जीवन के अधिकांश क्षेत्रों में दक्षता प्राप्त की। 'उनकी रुचियों का क्या कहना, संसार का कौनसा विषय है, जिस पर अज्ञेय बात नहीं कर सकते, यह मेरी समझ में नहीं आया। ज्ञान की इतनी विविधाता व्यापकता और गहराई मैंने अन्यत्र नहीं देखी।' (शिखर से सागर तक, रामकमल राय, पृ० 12)

जिज्ञासु प्रवृत्ति के बालक वात्स्यायन ने प्रारंभिक शिक्षा-दीक्षा घर में ही प्राप्त की, किंतु उनकी शिक्षा-प्राप्ति में अनेक मनोरंजक घटनाएँ भी रहीं। अलग-अलग मौलवी व आचार्यों द्वारा पढ़कर अज्ञेय ने प्रारंभिक शिक्षा पूरी कर ली, किंतु बालपन में आरोपित शिक्षा-व्यवस्था ने उन्हें विद्रोही बना दिया।

यूरोप और एशिया की यात्रा में वे अनेक विद्वानों के संपर्क में आए। पश्चिम की संस्कृति और सभ्यता के मूल तंतुओं को जाना-पहचाना। उन्होंने विश्व-बंधुत्व की भावना से पूर्व-पश्चिम के एकीकरण का प्रयास किया। अन्वेषी प्रवृत्तिवाले अज्ञेय ने अपने अध्ययन की दिशा भी स्वयं खोजी ही नहीं अपितु साहित्यकारों को भी उससे परिचित कराया।

अज्ञेय के लिए हिंदीभाषा सहज मातृभाषा जैसी नहीं थी, क्योंकि जन्म से लेकर अपनी जेलयात्रा तक वे लगातार स्थान बदलते रहे और उस बदलाव में वे अधिकांश उन क्षेत्रों में रहे, जो हिंदीभाषी नहीं हैं। अतः हिंदी उनके लिए, एक अर्थ में, अर्जित भाषा थी, सीखी हुई, अभ्यास की हुई। तथापि अज्ञेय में हिंदी के प्रति गहरे सम्मान एवं प्रेम की भावना थी तो अँग्रेजी एवं संस्कृत पर समान रूप से अधिकार था। इन्होंने विज्ञान विषय में स्नातक किया। उनके अंदर वैज्ञानिक बनने की पूर्ण क्षमता थी। नोबेल पुरस्कार विजेता डॉ० क्रॉम्पटन तथा वर्नेड जैसे महान् वैज्ञानिक का साहचर्य उन्हें प्राप्त हुआ। अज्ञेय वैज्ञानिक खोजों के प्रति विशेष आकर्षण रखते थे। वैज्ञानिक खोज हो अथवा जीवन के अर्थों की खोज, अज्ञेय का मन खिंचा चला जाता था। इस जिज्ञासु प्रवृत्ति और प्रकृति व जीवन के विराट् स्वरूप को जानने की जिज्ञासा ने अज्ञेय को यायावर बना दिया था।

प्रेम मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकताओं के पश्चात् एक महत्वपूर्ण बिंदु और प्रेरणा-स्रोत है, जिसे पाकर मनुष्य उन्नति एवं संभावनाओं के नए क्षितिज तलाश कर लेता है। अज्ञेय भी इसी प्रेम की उत्कट अभिलाषा से परिपूर्ण थे। उनके पारिवारिक संपर्क में एक दक्षिणी लड़की का आना और त्रासदीपूर्ण अंत। इस तरह प्रथम प्रेमांकुर झुलसकर समाप्त हो गया। संतोष मलिक से प्रथम और कपिला जी से दूसरा विवाह, इस तरह जीवन में विवाह उन्हें स्थायित्व न दे सके। इला जी से संपर्क में आने के बाद प्रणय-प्राप्ति की संभावना के साथ सृजन की प्रेरणा और साथ चलने का निष्कंप आभास अज्ञेय को हुआ। इस प्रकार प्रेम की प्रारंभिक असफलताओं, वैवाहिक जीवन की कड़वड़ाहटें उन्हें रिक्त कर रही थीं तो एक नवीन संवेदनाग्राही जीवन-दृष्टि उनके सर्जना-धरातल को भी समृद्ध कर रही थी। प्रेम में सदैव उतार-चढ़ावों के बावजूद अज्ञेय प्रेम की अभिव्यंजक अमर कृतियाँ हिंदी-साहित्य-जगत् को भेंट कर गए हैं।

व्यक्तित्व वैशिष्ट्य :

‘अज्ञेय’ के लिए ज्ञेयता ही उनकी विशिष्टता है। ऐसे अज्ञेय के विषय में भी भ्रांतिपूर्ण विचारधाराएँ रही हैं। किसी ने उन्हें अहंकारी किसी ने अंतर्मुखी कहकर उनकी आलोचना की, किंतु उनसे मिलने के पश्चात् उनके लिए बनाई गई अवधारणा और पूर्वाग्रह स्वतः समाप्त हो जाते थे। यह सत्य है कि उनके अंतर्मन में विद्रोह का एक भाव प्रारंभ से रहा है; किंतु सामाजिक व्यवस्था और रूढ़ियों के प्रति उनका विद्रोह उनके कृतित्व में जितना प्रतिफलित हुआ, उससे कहीं ज्यादा उनके सामाजिक जीवन में। अज्ञेय के भीतर ज्ञान की विविधता थी और जीवन के विस्तृत फलक पर संवेदनाओं के चित्र उकेरने की अद्भुत क्षमता थी। साथ ही उनकी यायावरी प्रवृत्ति ने इस संवेदन ग्रहणशीलता की क्षमता में उत्तरोत्तर वृद्धि की।

अज्ञेय का व्यक्तित्व एक सागर की भाँति शांत और विस्तृत है। सागर जो अपने भीतर न जाने कितने उद्वेलन, तनाव और हलचलें समेटे रहता है। यूँ भी अज्ञेय का सबसे प्रिय सागर ही रहा है। सागर की शांत मुद्रा उन्हें प्रभावित करती रही है। अज्ञेय प्रारंभ से एकांतप्रिय रहे हैं, उनकी यह एकांतप्रियता बचपन की परिस्थितियों की देन है। परंतु नियति भी जैसे अज्ञेय की विरोधी रही है। उन्हें निरंतर एकांत ही देती रही। वह भी इतना नितांत अकेलापन कि वे सह न सकें। किंतु उस एकांतजीवी सर्जक की कविताओं में गहरी पैठ की जाए तो लगता है, प्यार ने उन्हें बार-बार अकेला किया है। प्यार ने ही उन्हें ऊर्जा दी है, शक्ति दी है, उदात्तता और महाकरुणा दी है।

चरित्र की निर्भयता के अनेक उदाहरण उनके क्रांतिकारी जीवन के विभिन्न पहलुओं में झाँकने पर मिलते हैं। अज्ञेय ने कभी भी अपनी आंतरिक पीड़ाओं, कष्टों को किसी के सामने दर्शाने की चेष्टा नहीं की। उनके भीतर पीड़ा को पचा लेने की अकूत क्षमता रही है।

क्रांतिकारी जीवन की विभिन्न झलकियाँ अज्ञेय के व्यक्तित्व की दृढ़ता और स्वातंत्र्य-प्रेम व देश के प्रति निष्ठावान प्रवृत्ति का जीवंत स्वरूप दिखलाती हैं। क्रांतिकारियों से जुड़ने की पृष्ठभूमि में अज्ञेय की स्वतंत्रता की भावना कार्य कर रही थी। क्रांतिकारी जीवन में उन्होंने बम बनाने जैसा भी कार्य किया। क्रांतिकारी जीवन में अज्ञेय जेल गए और जेल में ही उन्होंने ‘शेखर : एक जीवनी’ जैसी सशक्त कृति हिंदी साहित्य को दी। उन्होंने जेल में डी०आई०जी० जैक्रिन्स

को चाँटा मार दिया था। इसी चरित्रगत दृढ़ता का परिचय रामकमल राय के शब्दों में 'वे भला कहाँ जानते थे कि डी०आई०जी० जैक्रिन्स को चाँटा मारनेवाला, अपनी मान्यताओं के लिए अपने पिता की सारी परिकल्पनाओं को चकनाचूर करनेवाला, प्रो० बर्नेड के कास्मिक रेंज के शोध-अभियान में जानेवाला यह व्यक्ति मात्र अस्सी रूपए वेतनभोगी सह-संपादक नहीं है, अपने मूल्यों के लिए लड़नेवाला अपराजेय योद्धा है।' –शिखर से सागर तक, रामकमल राय पृ० 59

'अज्ञेय के स्वभाव की कुछ महत्वपूर्ण विशिष्टताएँ यूँ समझें कि वे यथेष्ट दूरी के साथ यथेष्ट निकटता बनाए रखते थे। न ही किसी क्रिया-कलापों में स्वयं हस्तक्षेप करते थे। उनके स्वभाव में गपड़चौथ वाली स्थिति संभव नहीं थी कि कोई कहता फिरे, वात्स्यायन जी यह बात –वात्स्यायन जी वह बात।' –शिखर से सागर तक, राजकमल राय, पृ० 235

अज्ञेय में दो विरोधी प्रवृत्तियाँ विद्यमान रहीं— एक व्यवस्था की दूसरी विद्रोह की। उन्होंने शिक्षा, राजनीति, साहित्यिक कृतित्व, अपने प्रेम तथा अन्य बहुत से क्षेत्रों में विद्रोही का रुख अर्द्धितार किया। वहीं वे छोटी-सी बातों में भी व्यवस्था का पूरा ध्यान देते थे। ये दोनों बातें उनके व्यक्तित्व के विरोधाभास की ओर इंगित करती हैं।

अज्ञेय की जीवन-यात्रा शिखर से सागर तक रही— अहं के शिखर से आत्मा के सागर तक। अज्ञेय सामाजिक दायित्वों की पूर्ति में कभी भी पीछे नहीं हटे। अज्ञेय की संपूर्ण विशिष्टताओं को जान पाना सरल नहीं है। लेकिन कह सकते हैं कि अज्ञेय का चरित्र अनेकानेक अंतर्विरोधों से भरा प्रतीत होता है। परंतु, सहजता व सरलता भी छुपी नहीं। अज्ञेय में जैसे-जैसे आत्मा का पक्ष प्रबल होता गया, अहं का पक्ष दुर्बल होता गया। उनकी यह प्रवृत्ति अहं के विलयन की रही और आत्मा के संबर्द्धन की। यह मानव का सहज विकास है। इसमें पलायन नहीं, इसमें जीवन के गहरे अर्थों को स्वायत्त करने का प्रयास है। अज्ञेय का जीवन साधारण नहीं, एक विशिष्ट जीव-संदर्भों का आख्यान है। अज्ञेय का संपूर्ण कृतित्व उनकी रचना-प्रक्रिया में प्रवृत्त व्यक्तित्व का आलोकमय स्वरूप सुस्पष्ट कर देता है।

काल-चिंतन

अज्ञेय के जीवन का केंद्रीय लक्ष्य सृजन और लेखन है। उनके भीतर का चिंतक निरंतर और गहराई से सक्रिय रहा है। उनके चिंतन का असर उनकी रचनाधर्मिता पर पड़ा है और वे चिंतन-सूत्र उनके साहित्य में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। उनके मानस-चिंतन के क्रम में मानवीय या मानवेतर कोई ऐसा पहलू हो, जो उनकी चिंतनमणि के प्रकाश से आलोकित न हो रहा हो, उनकी चिंतनात्मक वृत्ति में काल की इतनी घुसपैठ रही है कि 'काल' उनकी लेखनी से स्वतः उतरकर समाहित हो गया है। काल के प्रति तटस्थ दृष्टि संवेदना में प्रमुख कारण उनकी यायावरी प्रवृत्ति रही है। यायावर अज्ञेय घूमता-फिरता भी चिंतन की गहराइयों में डूबता-उतराता रहा।

काल-चिंतन अज्ञेय का अभीष्ट रहा हो ऐसा भी नहीं था। पाश्चात्य विद्वानों का संपर्क, साहचर्य और साहित्य का अनुशीलन अज्ञेय को नवीन काल-चिंतनात्मक दृष्टि प्रदान करने में सक्षम रहा है। टी०एस० इलियट का प्रभाव अज्ञेय को काल चिंतन-दृष्टि देता है। 'अपने-अपने अजनबी' में अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन और 'क्षण' वह भी मुक्ति का, महत्व स्पष्ट ही है। अज्ञेय के चिंतन में काल स्वतः उतर आता है। अज्ञेय का काल-चिंतन मात्र सिद्धांतों का

प्रतिपादन नहीं रहा। उन्होंने भाव- दृष्टि से संवेदना-जगत् में व्याप्त काल के अनहद नाद को अनुभूत किया था। ऐसी ही मर्मस्पर्शी पंक्ति है—

समागतः है काल
बुझ जाएगा दीप।

सर्जना के स्तर पर एक पूरी पुस्तक 'संवत्सर' उनके काल-चिंतन और दर्शन पर आधारित है। अज्ञेय प्रकृति और जीवन के माध्यम से काल-बोध करते हैं और अनुभूतियों के क्रम में स्पष्ट करने का प्रयास भी करते हैं। वे काल की एक कबाड़ी के रूप में कल्पना करते हुए कहते हैं—

अनदेखे लाद ले गया है अपनी झोली में
काल का गली छानता हुआ कबाड़ी
न जाने कितने दिन, कितने क्षण
कितनी अंतहीन, अनकही और अधूरी कही बातें। —सदानीरा भाग-2 'अज्ञेय'

अज्ञेय क्षणवादी कवि नहीं है, किंतु काल के आयामी संदर्भ में 'क्षण' की सत्ता को सर्वत्र स्वीकार करते हैं—

होते हैं क्षण जो देशकाल मुक्त हो जाते हैं।
होते हैं पर ऐसे क्षण हम कब दुहराते हैं।

देशकाल मुक्त क्षणों की प्राप्ति अचानक हो तो जाती है, किंतु इनकी पुनः प्राप्ति असंभव ही होती है।

अज्ञेय काल के चिंतन में 'दिन का बीतना' व्यापक दार्शनिक दृष्टिकोण और सिद्धांत देता है। 'जन्म दिवस' कविता की निम्न पंक्ति—

एक दिन
और दिनों-सा
आयु का एक बरस ले चला गया

—सदानीरा भाग-2, अज्ञेय, जन्म दिवस

काल की तीक्ष्ण दृष्टि से कौन बच सका है। अपने विभिन्न रूपों में 'काल' जगत पर शासन भी करता है। जगत् को गुरुतर सिद्धांत देता है—

पथ स्वयं काल है, गुरु और शासक भी वही है
उस तरुण के वृद्ध हाथों में खिलौना-सी मही है

—सदानीरा, अज्ञेय, विश्वप्रिया

अज्ञेय ने प्राकृतिक उपादानों में काल की प्रतीति करते हुए कहा है—

मैंने जाना
यही हवा है काल
समय की लिखत
अहं की छाप
मिटती जाती है

—सदानीरा, अज्ञेय, मैंने जाना यही हवा

चिंतन और विचारणा की अद्भुत क्षमता से युक्त अज्ञेय ने 'काल' के विभिन्न पहलुओं को चिंतात्मक दृष्टि से सोचा और विचारा है। जिसमें Time उनका प्रिय चिंतन-विषय रहा। जीवन का काल के विभिन्न आयामों में चिंतन अज्ञेय जैसे मनीषी के लिए ही संभव है—अज्ञेय टाइम की परिकल्पना अपने भीतर करने का प्रयास करते हैं— जैसे त्रिकालदर्शी होना अथवा जीवनमुक्त होना— 'काल' के आयाम और उसके अर्थों की तलाश उनके भीतर क्रमशः बढ़ती रही।

अज्ञेय काल को विभिन्न तरीकों से स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं। अज्ञेय काल की आवर्ती परिकल्पना को प्रस्तुत करते हैं। वे कालप्रवाह की गति एक दिशा में तथा अप्रत्यावर्ती मानते हैं। काल का कोई छोर नहीं है। यह तो अपनी पूँछ निगलते हुए सर्प की भाँति है। काल अज्ञेय को भाँति-भाँति रूप से छलता रहा है। अज्ञेय ने पाया काल की सत्ता सर्वत्र वर्तमान है। 'काल' भौतिक रूप में समस्त जगत् में समाहित है। व्यक्ति भौतिक परिवेश से संपृक्त होकर ही काल की अनुभूति करता है।

अज्ञेय के कालचिंतन का वैशिष्ट्य यही है कि वर्तमान पर स्थित काल की प्रमुख स्थिति ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। चूँकि भूत और भविष्य तो इसी वर्तमान से संपृक्त हैं। वर्तमान के बिंदु पर काल सदैव वर्तमान है। और यही वर्तमान अस्तित्व की सत्ता का परिचायक है। अज्ञेय साहित्य की विभिन्न विधाओं में 'काल' का विचार और भाव-संवेदना की दृष्टि से विश्लेषण करते हैं। भावानुभूति के स्तर पर काल की अत्यधिक संवेदनमय अभिव्यक्ति अज्ञेय ने अपने काव्य-संसार में दी है। अज्ञेय की सर्जना काल-अनुभूति के नवीन आयाम प्रदान करती है। काल-चिंतक के रूप में अज्ञेय ने रूपात्मक व्याख्या का जो स्वरूप हमें प्रदान किया, वह हमारे लिए प्रकाश-स्तंभ बना रहेगा।

□ एस०बी०डी० महिला महाविद्यालय,
धामपुर 246861

प्रेमचंद का हास्य-व्यंग्य लेखन

डॉ० बालेंदुशेखर तिवारी

प्रेमचंद के समीक्षकों और प्रशंसकों से न तो प्रेमचंद-साहित्य में उपलब्ध विनोदी प्रसंग अपरिचित हैं और न व्यंग्य की धार अनजानी है। वास्तव में हास्य और व्यंग्य प्रेमचंद की रचनाकारों में रची-बसी कलाकारों का एक सुनिश्चित, अपरिहार्य और प्रभावशाली पक्ष है। यह मौलिक कलाकारों उनकी हास्य-कहानियों में प्रदर्शित हुई है और 'गोदान' जैसे व्यंग्यबहुल उपन्यास में भी उपस्थित है। यही कारण है कि प्रेमचंद का हास्य-व्यंग्य लेखन अपनी संपन्नता और व्यापकता में आकृष्ट करता है।

प्रेमचंद की तमाम उपलब्ध कहानियों के बीच उनकी हास्य-कहानियों का अलग ही आस्वाद है। इन कहानियों में विनोदी स्थितियाँ, विदूषकनुमा पात्रों और शब्दकौतुक के ज़रिए हँसाने की भरपूर तैयारी कहानीकार ने की है। प्रेमचंद की पहली हास्य-कहानी 'मोटेराम शास्त्री' जनवरी 1928 की 'माधुरी' में छपी थी। यह वह समय था, जब हिंदी में जी.पी. श्रीवास्तव की हास्य-कहानियों की धूम थी। जी.पी. श्रीवास्तव के कहानी-संग्रह 'नोकझोंक' (1918) से हिंदी में हास्य-कहानियों का जन्म हुआ था। इससे पहले हास्य-कहानियों का अस्तित्व हिंदी में नहीं था। हास्य-कहानी में व्यक्तिगत और परिवेशगत स्थितियों पर आधारित ऐसे कथा-प्रसंग प्रस्तुत किए जाते हैं कि पढ़ते समय पाठक कभी मुस्कराने और कभी खिलखिलाने के लिए विवश हो जाते हैं। हँसी उत्पन्न करने के लिए सहज विनोदी भाषा और सहज रोचक प्रसंगों का उपयोग किसी भी हास्य-कहानी को ऊँचाई प्रदान करता है।

यह स्वीकार लेने में संकोच नहीं होना चाहिए कि जी०पी० श्रीवास्तव की जिन कहानियों ने हास्य-कहानी की ज़मीन तैयार की, उनमें अधिकतर पात्रों और घटनाओं के बहुत ही सतही आचरणों और प्रसंगों के माध्यम से गुदगुदी उत्पन्न की गई है। लेकिन जी०पी० श्रीवास्तव अपनी इन हास्य-कहानियों के लिए भी बेहद लोकप्रिय हुए। उनकी लोकप्रियता ने अन्नपूर्णानंद, बेदब बनारसी, कांतानाथ पांडेय चोंच, देवव्रत शास्त्री, राजेंद्रसिंह गौड़, जहूरबख्श, पांडेय बेचन शर्मा उग्र और सरयू पंडा गौड़ आदि कई कहानीकारों को हास्य-कहानी के लेखन की ओर आकर्षित किया। इस दौर की हास्य-कहानियों में संस्कृत नाटक परंपरा के विदूषक जैसे पात्रों और पारिवारिक-सांस्कृतिक वातावरण की असंगतियों को सहेजा गया। परिणामतः इस दौर की हास्य-कहानियों में विनोद-क्षमता का स्तरीय निखार अधिकतर नहीं मिलता। लेकिन ठीक इसी समय दो कथाकारों ने हिंदी की हास्य-कहानियों में नव्यता और भव्यता का समावेश किया।

इनमें पहले थे शारदाप्रसाद वर्मा 'भुशुंडि', जिन्होंने हास्य-कहानियों में पैरोडी के प्रयोग पहली बार किए। 'उसने कहा था', 'गुंडा', 'दे खुदा की राह पर' जैसी कई प्रसिद्ध कहानियों की उत्कृष्ट पैरोडियाँ उन्होंने लिखीं। दूसरे कथाकार थे प्रेमचंद, जिनकी हास्य-कहानियों की चर्चा के बिना हिंदी की हास्य-कहानियों का इतिहास नहीं लिखा जा सकता।

हास्यलेखन प्रेमचंद का क्षेत्र नहीं था, लेकिन जीवंत और समर्थ कलमकार होने के कारण उन्होंने अपने आसपास के वातावरण की विनोदी स्थितियों और लोगों को अनदेखा नहीं किया। अपने पाठकों की कई पीढ़ियों के बीच प्रेमचंद के निरंतर मौजूद होने का जीवंत साक्षात्कार उनकी विनोदमय और व्यंग्यधर्मी रचनाओं में होता है। व्यंग्य उनकी कई कहानियों और उपन्यासों की आत्मा है। भय और प्रीति के अधीन रहकर अपने परिवेश के साथ ईमानदार रह पाना संभव नहीं, इसे प्रेमचंद जानते थे। 'कफ़न', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'सवा सेर गेहूँ', 'पूस की रात' जैसी बारीक व्यंग्यबहुल कहानियों में धारदार और सोद्देश्य व्यंग्य की प्रस्तुति करनेवाले कथाकार ने पूरी संप्राणता के साथ मौजूदा तंत्र के खोखलेपन को उद्घाटित किया है।

अपने लेखन के प्रौढ़िकाल में प्रेमचंद ने उन लोगों की तरफ़दारी की है, जिनके घर से पैसा इस तरह ग़ायब है, जैसे कि घोंसले में माँस। 'कफ़न' में माधव ने कहा कि बुधिया बैकुंठ की रानी बनेगी, इस पर घीसू उल्लास की लहरों पर तैरता हुआ बोला— 'हाँ बेटा, बैकुंठ में जाएगी। किसी को सताया नहीं, किसी को दबाया नहीं। मरते-मरते हमारी ज़िंदगी की सबसे बड़ी लालसा पूरी कर गई। वह न बैकुंठ जाएगी तो क्या ये मोटे-मोटे लोग जाएँगे, जो ग़रीबों को दोनों हाथों से लूटते हैं और अपने पाप को धोने के लिए गंगा नहाते हैं और मंदिरों में जल चढ़ाते हैं।' ¹

सामाजिक जीवन में विद्यमान यही अंतराल 'पूसी की रात' के हल्कू के मानस में भी है। थरथरते जाड़े में ठिठुरता हल्कू अपने कुत्ते को सुनाता है— 'एक-एक भागवान ऐसे पड़े हैं जिनके पास जाड़ा जाए तो गर्मी से घबराकर भागे। मोटे-मोटे लिहाफ़, कंबल, मजाल है कि जाड़े का गुजर हो जाए। तकदीर की खूबी है, मज़री हम करें मज़ा दूसरे लूटें।' ²

किसी भी सफल व्यंग्यकार की तरह प्रेमचंद के सामने स्पष्ट था कि उन्हें भारतीय समाज के स्पष्टतया विभक्त-खंडों में से किसकी खुली हिमायत करनी है। प्रेमचंद ने घीसू, माधव, हल्कू, शंकर जैसे लोगों की आंतरिक वेदना को व्यंग्यमिश्रित अभिव्यक्ति दी है, मौजूदा तंत्र के खोखलेपन को उद्घाटित किया है। यह सामर्थ्य व्यंग्यकारों की जमात में शामिल होने की ललक का प्रतिफल नहीं है, अपने आस-पास बिखरी विद्रूपताओं के साथ जुड़े होने की विवशता की प्रतिक्रिया है। साहित्य को जीवन की समीक्षा स्वीकारने वालों के सामने प्रेमचंद ने व्यंग्य को व्यवस्थ की समीक्षा के रूप में प्रस्तावित किया। जीवनबोध की धड़कनों को अवरुद्ध करनेवाली स्थितियों की पैनी पकड़, घीसू और माधव की भूख-कथा में है। इस छोटी और प्रभावी श्रेण्यगर्भिता से संपन्न कहानी का समस्त साफल्य व्यंग्य के ज़रिए व्यवस्था पर प्रहार करने की कोशिश पर आधृत है। इतनी ही धारदार प्रखर सहानुभूति के साथ प्रेमचंद ने मीर और मिर्ज़ा की कायरता का राग भी छोड़ा है। शतरंज के खिलाड़ी उस परिवेश पर किया गया व्यंग्य है, जिसमें फ़कीर भी जैसे मिलने पर रोटियाँ न ख़रीदकर अफ़ीम खाते थे। व्यवस्था के विद्रूप का संकेत प्रेमचंद ने सेवासदन की पहली पंक्ति में ही दिया है— 'पश्चात्ताप के कड़वे फल कभी-न-कभी सभी को चखने पड़ते हैं, लेकिन और लोग बुराइयों पर पछताते हैं, दारोगा कृष्णचंद्र अपनी भलाइयों पर पछता रहे थे।' ³

एक ऐसे समाज का आलेखन प्रेमचंद करने बैठे हैं, जिसमें लोग अपनी ईमानदारी और सज्जनता के कारण पछताते हैं। यह वही भ्रष्ट समाज है, जहाँ धर्म और प्रशासन की सारी पगडंडियाँ उत्कोच और स्वार्थपरता की घाटियों से गुज़रती हैं। इस परिवेश में एक महंत जी का उल्लेख प्रेमचंद ने किया है, जो श्री बाँकेबिहारी जी के नाम पर लेनदेन करते थे और 32 रुपए

से कम सूद न लेते थे। 'सेवासदन' में धार्मिक-आर्थिक शोषण का सत्य सामने रखा है— 'यज्ञ के लिए इलाके के प्रत्येक आसामी हल पीछे पाँच रुपया चंदा उगाहा गया था।... श्री बाँकेबिहारी जी की आज्ञा को कौन टाल सकता था? यदि ठाकुर जी को हार माननी पड़ी, तो केवल एक अहीर से जिसका नाम चेतू था। ठाकुर जी ऐसे द्रोही को भला कैसे क्षमा करते? एक दिन कई महात्मा चेतू को पकड़ लाए। ठाकुरद्वारे के सामने उस पर मार पड़ने लगी। इतना कष्ट देकर भी ठाकुर जी को संतोष नहीं हुआ। उसी रात को उसके प्राण भी हर लिए।' ⁴

घीसू, माधव, हल्कू, चेतू जैसे लोगों की आंतरिक वेदना की होरी की महाकाव्यात्मक गाथा के माध्यम से प्रेमचंद ने व्यंग्याश्रित अभिव्यक्ति दी है। अपने को मिटाकर भी खोखली मर्यादा की रक्षा के लिए सचेष्ट होरी जैसे लोगों के साथ प्रेमचंद की आत्मा जुड़ी है। उनके सामने एक ऐसा समाज अपनी ही लाश की दुर्गंध का सामना कर रहा था, जिसमें नमाज भी बोझ मालूम देती थी और पूजा ने रस्म का रूप धारण कर लिया था। 'गोदान' की संरचना व्यंग्य की उस वृहत्तर शक्ति की बानगी है, जिसमें ध्वंस और निर्माण की भंगिमाएँ एक साथ छिपी हुई हैं। डॉ० रामविलास शर्मा के अनुसार— 'प्रेमचंद ने कहीं समाज के इस जर्जर ढाँचे में दो लातें लगाई हैं, कहीं मिट्टी लेकर गिरती दीवार को बनाने की कोशिश की है, लेकिन वह ढाँचा भीतर से कितना खुदा है— मिट्टी के कण-कण एक-दूसरे से कितने अलग हो गए हैं, यह वह भली प्रकार जानते थे। वह जानते थे कि वर्षा, आतप और शीत से यह घर हमारी रक्षा नहीं कर पाता।' ⁵

नये हिंदुस्तान के निर्माण के लिए यह आवश्यक था कि विगलित व्यवस्था और नष्ट-भ्रष्ट हुई सामाजिकता की तमाम विद्रूपताओं को उनके वास्तविक रूप में उपस्थित कर दिया जाए। अपनी उर्वर चिंतन-शक्ति के सहारे प्रेमचंद ने स्थापत्य, शील-निरूपण और शैली में ऐसी समस्त कमजोरियों को अनुभव की प्रामाणिकता के अनुरूप रेखांकित किया है। समूचा 'गोदान' प्रेमचंद की सजग व्यंग्य दृष्टि का कलात्मक एवं मारक विन्यास है।

'गोदान' में प्रारंभ से अंत तक होरी की त्रासदी उस व्यंग्यमूलक कथायोजना का उपस्थापन है, जिसके हर पन्ने पर व्यंग्यवाण बिखरे हुए हैं। इस उपन्यास में एक ओर ऐसे गरीब लोग हैं, जिनकी गरीबी किसी महामारी से कम नहीं, तो दूसरी ओर ऐसे बड़े आदमी भी हैं, जिन्हें कभी कोई छोटा रोग नहीं होता। इन दोनों ही वर्गों की वास्तविकता को प्रेमचंद ने वास्तविकता के साथ उजागर किया है। 'गोदान' में व्यंग्य की अंतर्धारा प्रारंभ से अंत तक बहती हुई परिलक्षित होती है, तो इसका कारण केवल यही है कि प्रेमचंद कथनी और करनी के अंतराल से भली-भाँति परिचित थे, उनका लेखन महज जानकारियों का सुघड़ कूड़ाखाना नहीं है नागरिक और ग्रामीण परिवेश का जैसा मार्मिक चित्रण प्रेमचंद ने किया है, उसमें हास्य और करुणा, व्यंग्य और उपहास की मिली-जुली भंगिमाएँ हैं। डॉ० इंद्रनाथ मदान का निष्कर्ष— 'इस उपन्यास के अथ से इति तक की रचना-प्रक्रिया यह व्यंग्य की धारा जो इसके तल में है या इसकी तह में है, कभी उक्ति तो कभी पूरे चरित्र के व्यंग्य में उभरकर आती है। इसमें कभी तो व्यंग्य के छींटे कसे हुए हैं— तो कभी व्यंग्य के बाण छोड़े गए हैं, जो पाठक की संवेदना को देर तक सालते रहते हैं। इनकी अभिव्यक्ति कभी उपहास के स्तर पर है, जो भेंडा है, तो कभी कामदीय स्तर पर, जो मीठी चुटकी लेने की तरह है, जो इस पर हावी होकर इसे एक त्रासदीय व्यंग्य-रचना में ढाल देता है।' ⁶

व्यंग्य उपन्यास के रूप में गोदान की पहचान का संपूर्ण दारोमदार इस बिंदु पर केंद्रित

है कि प्रेमचंद ने कितनी तीक्ष्णता के साथ परिवेश में जो कुछ टूटने योग्य है, उसे तोड़ डालने की आकांक्षा का बयान किया है। औपन्यासिकता का निर्वाह व्यंग्य की सजग और पैनी दृष्टि के अनुरूप करने में उपन्यासकार को कितनी सफलता मिली है, यह परिवेश के शरीर पर उग आए फोड़े के निर्मम ऑपरेशन से प्रकट होता है। 'गोदान' में महाजन संस्कृति, किसानों की सभ्यता और सामंती संस्कारों का निर्भय पोस्टमार्टम किया गया है। कहीं भी अवसर मिलने पर प्रेमचंद ने व्यवस्था और समाज की सड़ांध को पूरे कौशल के साथ अभिव्यक्त किया है।

बड़े आदमियों और छोटे आदमियों के बीच के आपसी संबंधों को पूरे कौशल के साथ खरोंचकर प्रेमचंद ने एक व्यापक व्यंग्यबोध का संसार निर्मित किया है। इस संसार में कहीं चारित्रिक व्यंग्य विद्रूपता उभारता है, तो कहीं अनूठी व्यंग्योक्तियों के माध्यम से स्थितियों का जायजा लिया है। यह बहुत मार्क की बात है कि 'गोदान' में ढेर सारी व्यंग्योक्तियाँ धनिया ने सुनाई हैं। वह न केवल अपनी बातों से बड़े-बड़ों के छक्के छुड़ा देती है, बल्कि उसकी व्यंग्योक्तियों में व्यावहारिकता टपकती है। रुष्ट होकर होरी ने कहा— 'हाँ, काहे को भूख लगेगी, भाई ने बड़े-बड़े लड्डू खिला दिए हैं न। भगवान ऐसे सपूत भाई सबको दे।' ⁷

होरी की तथाकथित वीरता का भी धनिया ने बार-बार मजाक उड़ाया है, जैसे— 'घर में तलाशी होने से इसकी इज्जत जाती है। अपनी मेहरिया को सारे गाँव के सामने लतियाने से इसकी इज्जत नहीं जाती। यह तो वीरों का धर्म है।' ⁸ धनिया के पास बात करने का एक व्यंग्यमुखी अंदाज़ है। झुनिया के पेट में गोबर की अवैध संतान की सूचना वह होरी को व्यंग्यसनी भाषा में देती है— 'बात ही ऐसी हुई है कि छाती दुगुनी हो जाए।' ⁹

भाषा के सहारे व्यंग्य को उभारने का कार्य कथाकार ने अनेकानेक व्यंग्यसूक्तियों के सहारे किया है। छोटे-छोटे वाक्यों में व्यंग्यगर्भ कथन पेश कर प्रेमचंद ने अपनी असहमति को लगातार व्यक्त किया है जैसे—

1. वह बड़ा आदमी ही क्या जिसे कोई छोटा रोग हो। ¹⁰
2. संपादक का जीवन एक दीर्घ विलाप है, जिसे सुनकर लोग दया करने के बदले कानों पर हाथ रख लेते हैं। ¹¹
3. आदमी का बहुत सीधा होना भी बुरा है। उसके सीधा होने का फल यह होता है कि कुत्ते भी मुँह चाटने लगते हैं। ¹²
4. बहुत धन पाकर आदमी सनक जाता है, बहुत पढ़ लेने से भी आदमी पागल हो जाता है। ¹³
5. ऐयाशी तो रईस की शोभा ही है। ¹⁴
6. कैसे दूसरों को उल्लू बनाया जा सके, यही सफल नीति है और आप इसके आचार्य हैं। ¹⁵

सूक्तियों के सहारे व्यंग्य की आयोजना करनेवाले कथाकार ने शील-निरूपण के लिए भी अनेक अवसरों पर व्यंग्य-शैली का सहारा लिया है। दातादीन के बारे में कथाकार का मत है— 'वह इस गाँव के नारद थे। यहाँ-की-वहाँ, वहाँ-की-यहाँ, यही उनका व्यवसाय था। वह चोरी तो न करते थे, उसमें जान-जोखिम था, पर चोरी के माल में हिस्सा बटाने अवश्य पहुँच जाते थे।' ¹⁶ इसी तरह प्रेमचंद ने पटेश्वरी, झिंगुरीसिंह, नोखेराम जैसे सज्जनों का भी शब्दांकन किया

है।

‘गोदान’ के रचयिता के सामने भारतीय समाज की उन सारी विरूपताओं की तस्वीर है, जिरके कारण वातावरण में संकट और तनाव बढ़ता जा रहा है। संघर्ष की गहनता के बीच हास्य और विनोद के प्रसंगों द्वारा प्रेमचंद ने अपेक्षित सरसता का संचार किया है। सोना-रूपा के नाम से जुड़ा विनोदी प्रसंग, होरी-धनिया का विनोदशील दांपत्य और मिर्जा-खुर्शद द्वारा आयोजित बूढ़ों की कबड्डी द्वारा प्रेमचंद के उपन्यास सामयिक सरसता प्रवाहित हुई है, लेकिन यह झीनी फुहार पूरे उपन्यास में लगी असंतोष और आक्रोश की व्यंग्यमयी अग्नि को शीतल करने में समर्थ नहीं है। प्रारंभ से अंत तक ‘गोदान’ में व्यंग्य का जो तपता हुआ स्वरूप सामने आया है, वही प्रेमचंद की व्यंग्य-चेतना का औपन्यासिक प्रकर्ष है।

अपनी हास्यकथा निमंत्रण में प्रेमचंद ने व्यंग्य की एक नई कोटि का नामांकन किया है— भस्मक व्यंग्य। अंतर्मन को जला-भुना डालनेवाली बेधक उक्तियाँ भस्मक कही जा सकती हैं, लेकिन व्यंग्य कर्म की ओर प्रेमचंद का प्रस्थान इतने तक सीमित नहीं है। उनका व्यंग्यबोध ध्वंसक और परिवर्तनगामी है एवं कई स्थलों पर हास्य की गुदगुदी से बेतरह ओतप्रोत भी है। उन दिनों की लोकप्रिय हास्य-कहानियों और हास्य-उपन्यासों में जी.पी. श्रीवास्तव की कथा-शैली का ही अनुगमन मिलता है। स्वयं प्रेमचंद ने हास्य की प्रस्तुति के लिए उन सारे लटकों का उपयोग किया है, जिनसे तत्कालीन कहानियों में हास्य उत्पन्न किया जाता था। ‘गुप्तधन’, भाग-1 की कहानी ‘विक्रमादित्य का तेगा’ में ऐसी ही हँसाने वाली स्थितियों का चित्रण कहानीकार ने किया है— ‘अपनी खुशी के जोश में कभी-कभी लोग अभद्रता भी कर बैठते थे। एक पंडित जी मिर्जई पहले सर पर गोल टोपी रखे तमाशा देखने में लगे थे। किसी मनचले ने उनकी तोंद पर एक चमगादड़ चिमटा दी। पंडित जी बेतहाशा तोंद मटकाते हुए भागे। बड़ा कहकहा पड़ा। एक और मौलवी साहब नीची अचकन पहने एक दुकान पर पड़े थे। दुकानदार ने कहा— मौलवी साहब, आपको खड़े-खड़े तकलीफ होती है, यह कुर्सी रखी हुई है, बैठ जाइए। मौलवी साहब बहुत खुश हुए, सोचने लगे कि शायद मेरे रूप-रंग से रोब झलक रहा है वना दुकानदार कुर्सी क्यों देता? दुकानदार आदमियों के बड़े पारखी होते हैं। हज़ारों आदमी खड़े हैं, मगर उसने किसी से बैठने की प्रार्थना न की। मौलवी साहब मुस्कराते हुए कुर्सी पर बैठे, मगर बैठते ही पीछे की तरफ लुढ़के और नीचे बहती हुई नाली में गिर पड़े। सारे कपड़े लथपथ हो गए। दुकानदार को हज़ारों खरी-खोटी सुनाई। बड़ा कहकहा पड़ा। कुर्सी तीन टाँग की थी।

एक जगह कोई अफीमची साहब तमाशा देखने आए हुए थे। झुकी हुई कमर, पोपला मुँह, छिदरे-छिदरे सर के बाल और दाढ़ी के बाल मेंहदी से रंगे हुए थे। आँखों में सुरमा भी था। आप बड़े गौर से सैर करने में लगे थे। इतने में एक हलवाई सर पर खोमचा रखे हुए आया और बोला— खाँ साहब, जुमेरात की गुलाबवाली रेवड़ियाँ हैं।

आप पैसे की आध पाव लगा दीं, खा लीजिए वना पछताइएगा। अफीमची साहब ने जेब में हाथ डाला, मगर पैसे न थे। हाथ मलकर रह गए, मुँह में पानी भर आया। गुलाबवाली रेवड़ियों और पैसे में आध पाव। न हुए पैसे नहीं तो सेरों तुला लेते। हलवाई ताड़ गया, बोला— आप पैसों की कुछ फिक्र न करें, पैसे फिर मिल जाएँगे। आप कोई ऐसे-वैसे आदमी थोड़े ही हैं। अफीमची साहब की बाँछें खिल गईं। रूह फड़क उठी। आपने पाव भर रेवड़ियाँ लीं और जी

में कहा— अब पैसा देनेवाले पर लानत है। घर से निकलूँगा ही नहीं, तो कैसे क्या लोगे? अपने रूमाल में रेवड़ियाँ लीं। आशिक के दिल में सब्र कहाँ? मगर ज्योंही पहली रेवड़ी जबान पर रक्खी कि तिलमिला गए। पागल कुत्ते की तरह पानी की तलाश में इधर-उधर दौड़ने लगे। आँख और नाक से पानी बहने लगा। आधा मुँह खोलकर ठंडी हवा से जबान की जलन बुझाने लगे। जब होश ठीक हुई तो हलवाई को हज़ारों गालियाँ सुनाई, इस पर भी लोग खूब हँसे।¹⁷

हँसी-मज़ाक और विनोदी स्थितियों वाले ऐसे चित्र प्रेमचंद की विभिन्न कहानियों तथा उपन्यासों में बिखरे हुए हैं। लेकिन, प्रेमचंद की ठेठ हास्य-कहानियों की झीनी फुहार का आनंद ही कुछ और है। प्रेमचंद के विभिन्न संकलनों में ऐसी हास्य-कहानियाँ मौजूद हैं, जिनसे हिंदी हास्य-कहानी की परंपरा को एक नई दिशा मिली।

‘मोटेराम जी शास्त्री’ प्रेमचंद की पहली हास्य कहानी है, जो जनवरी 1928 की ‘माधुरी’ में छपी और बाद में गुप्तधन, भाग-2 में संगृहीत हुई। इस कहानी में प्रेमचंद ने अपनी कहानियों के लिए पंडित मोटेराम शास्त्री के विनोदी चरित्र का आविष्कार किया। प्रेमचंद के इस कथानायक में संस्कृत और फ्रेंच नाटकों के विदूषक की सारी विशेषताएँ हैं। अपनी विशाल काया, बढ़ी हुई तोंद, भोजनप्रियता, वेशभूषा, वाणी और व्यवहार द्वारा मोटेराम शास्त्री हँसाने में समर्थ हैं। लेकिन प्रेमचंद ने मोटेराम शास्त्री की सारी विनोदी हरकतों के विवरण के साथ-साथ विभिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक फिसलनों का ब्योरा भी दिया है। जैसे, ‘मोटेराम जी शास्त्री’ में कहानीकार ने अपने समय के छद्म वैद्यों की मनोरंजक ख़बर ली है। निमंत्रण’ कहानी में पंडित मोटेराम शास्त्री पूरे परिवार के साथ उपस्थित हैं। ‘मानसरोवर’, भाग-5 में संकलित यह कहानी प्रेमचंद की सबसे प्रसिद्ध हास्यकथा है, जिसमें मोटेराम शास्त्री और उनके मित्र पंडित चिंतामणि की भोजनप्रियता, स्पर्धा और विनोदी पंडिताई का अत्यंत रसमय चित्रण हुआ है। मोटेराम शास्त्री शृंखला की ही अगली कहानी ‘सत्याग्रह’ है जिसमें प्रेमचंद ने अपने समय के राजनीतिक परिदृश्य की पृष्ठभूमि में मोटेराम शास्त्री की भोजनप्रियता को हास्य का आलंबन बनाया है। ‘मानसरोवर’ भाग-3 में संकलित ‘सत्याग्रह’ एक ओर मोटेराम शास्त्री की प्रचंड भूख को उजागर करनेवाली कहानी है, तो दूसरी ओर सत्याग्रहियों की पोल खोलने में भी सक्षम है। ‘मानसरोवर’ के तीसरे भाग में ही ‘मनुष्य का परम धर्म’ और ‘गुरुमंत्र’ शीर्षक कहानियों में भी मोटेराम शास्त्री की ही गाथा है। मोटेराम शास्त्री और चिंतामणि ने छककर मिठाइयाँ उदरस्थ करना ही मनुष्य का परम धर्म बताया है। ‘गुरु मंत्र’ में यह दोनों पंडित साधु बनने की प्रक्रिया में असफल होकर अंततः हलवाई की दुकान के सामने जाकर बैठ जाते हैं। मोटेराम शास्त्री से संबंधित पाँच हास्य कहानियों द्वारा प्रेमचंद ने हास्य में पारंपरिक आलंबनों को भी नई भंगिमा में परोसा है। मोटेराम और चिंतामणि सुभोजन के रसिया और स्थूलकाय होने के साथ-साथ अपने आसपास की स्थितियों से जुड़े हैं। वे बहुत कुछ नया करना चाहते हैं और हर बार असफल होकर के हँसी के नमूने बनकर रह जाते हैं।

प्रेमचंद की शेष हास्य-कहानियों में अलग-अलग आलंबन अंकित हैं। ‘मानसरोवर’ भाग-1 में संकलित ‘रसिक संपादक’ चोखेलाल शर्मा और कामोक्षी की रोचक कथा है, जिसमें संपादकों के स्त्री-अनुराग पर चुटकी ली गई है। ‘गुप्तधन’ के दूसरे भाग में संकलित ‘स्वांग’ को एक संपादक ने बीसवीं सदी की चर्चित हास्य-रचनाओं में पहला ही स्थान दिया। ‘स्वांग’ के नायक गजेंद्रसिंह को ससुराल में अपनी पत्नी की सहेलियों के स्वांग का विनोदी शिकार बनना पड़ा है। ‘गुप्तधन’ भाग-2 में ही ‘शादी की वजह’ शीर्षक एक रचना है, जो कभी उर्दू मासिक ज़माना

के मार्च 1927 में छपी थी और भारतेंदु हरिश्चंद्र की हास्य रचना 'कानून ताजीरात शौहर' की याद दिलाती है। मानसरोवर भाग-3 में संकलित 'बाबाजी का भोग' एक छोटी सी हास्य-कहानी है, जिसमें गरीब गृहस्थ के यहाँ महात्मा जी के फैलते हुए लालच का ब्यौरा है। इसी संग्रह में 'विनोद' शीर्षक लंबी हास्यकथा थी, जिसमें छात्रों के आपसी मनोविनोद के पात्र बने चक्रधर की मनोरंजक दुर्दशा की चित्रावलियाँ हैं। प्रेमचंद की उर्दू कहानियों के संकलन 'वारदात' में एक हास्यकथा थी— 'कोई दुख न हो तो बकरी खरीद लो'। यह रचना गुप्तधन भाग-2 में भी संगृहीत है। बकरी पालने की मुसीबतों का रोचक ब्यौरा इस हास्य-कहानी में उपस्थित किया गया है।

प्रेमचंद की इन ग्यारह हास्य-कहानियों के अतिरिक्त उनका एकमात्र प्रहसन 'दुराशा' भी 'मानसरोवर' भाग-6 में संगृहीत है। 'दुराशा' पर्दाप्रथा का मज़ाक उड़ानेवाला प्रहसन है, जिसमें नायिका सेवती परदे की सीमाओं में बँधी होने के कारण दियासलाई खरीदने घर से बाहर न जा सकी, चूल्हा न जला और भोज एक आकाशी भोज बनकर रह गया। यह प्रहसन प्रेमचंद की विनोदवृत्ति और सुधारवृत्ति का मनोरंजक मिश्रण ही है।

प्रेमचंद की इन हास्य-रचनाओं और विभिन्न कथाकृतियों में फैली व्यंग्यचेतना ने हिंदी कथा-साहित्य में वाँछित तेवर और तराश का आवाहन किया। ये रचनाएँ बतलाती हैं कि जीवन के हर कदम पर एक-से-एक विनोदी प्रसंग और व्यंग्योचित संदर्भ बिखरे हुए हैं। प्रेमचंद ने अपनी धारदार और मँजी हुई कथाभाषा में हास्य और व्यंग्य के प्रयोजनों की सिद्धि की है। उनका हास्य-व्यंग्य चिंतन और लेखन अपने आपमें बीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध के हिंदी-साहित्य की एक विशिष्ट उपलब्धि है।

संदर्भ

1. मंजूषा, सं. अमृतराय, पृ० 24
2. मानसरोवर, भाग-1, प्रेमचंद, पृ० 152
3. सेवासदन, प्रेमचंद, पृ० 3
4. वही, पृ० 6
5. प्रेमचंद, डा. रामविलास शर्मा, पृ० 157
6. आलोचना और आलोचना, डा. इंद्रनाथ मदान, पृ० 178
7. गोदान, प्रेमचंद, पृ० 41
8. वही, पृ० 146
9. वही, पृ० 153
10. वही, पृ० 15
11. वही, पृ० 72
12. वही, पृ० 167
13. वही, पृ० 139
14. वही, पृ० 257
15. वही, पृ० 301
16. वही, पृ० 160
17. गुप्तधन, भाग-1, प्रेमचंद, पृ० 65

□ 6 शिवम, हरिहरसिंह रोड, मोराबादी, राँची 834008

साहित्य और समाज का नाता : एक पुनर्विचार

डॉ० बागेश्री चक्रधर

समाज से साहित्य का गहरा नाता है, यह बात बचपन से सुनते आ रहे हैं। वर्णमाला सीखने के बाद साहित्य के क्षेत्र में पदार्पण करते ही सिखाया जाता है कि साहित्य समाज का दर्पण होता है। साहित्य में हम वह सब देख सकते हैं, जो समाज में उस समय घटित हो रहा होता है अथवा हो चुका होता है अथवा जिसके होने की संभावना होती है। साहित्य वर्तमान की वह दहलीज है, जिस पर खड़े होकर हम अतीत के समाज और भविष्य के समाज दोनों को देख सकते हैं। लेकिन देखने के पीछे होती है एक व्यापक दृष्टि। साहित्य यदि अतीत की गाथाओं को दोहराता है तो सवाल यह उठता है कि हमने किस नज़रिए से अतीत के व्यतीत को देखा।

हमारे देश की बहुरंगी संस्कृति, बहुधर्मी स्थितियों पर जो साहित्य रचा गया है, उसमें दृष्टिकोणों की विविधता है। इसी कारण साहित्य में विभिन्न विमर्श जन्म लेते हैं। आजकल के साहित्य को यदि हम देखें तो उसमें 'महिला-विमर्श', 'दलित-विमर्श' काफ़ी स्थान पा रहे हैं। 'स्त्री-विमर्श' से तात्पर्य है, उन परिस्थितियों को समझना, जिनसे महिला निरंतर कमज़ोर हुई है। आज स्त्री भोग्या नहीं पुरुष के बराबर है—

'मैं रचना हूँ चराचर की
मैं ताकत हूँ बराबर की'

लेकिन इन विमर्शों में हमें संपूर्ण सामाजिक संबंधों की समझ मिल सके, ऐसा नहीं है। कई बार साहित्य अतिवादी छोरों को छूता है और सत्य नहीं दिखा पाता। आज महिला-स्वातंत्र्य आंदोलन के झंडा-तले अनेक लेखिकाओं के विचारों की तीव्रता देखी जा सकती है। कात्यायानी कहती है— 'क्यों बचा रहे परिवार? इसलिए कि प्रेम जीवित रहे, ऊष्मा बनी रहे, नागरिकता की पहली पाठशाला सुरक्षित रहे? सब बकवास है। जिस तरह हर संपत्ति-साम्राज्य लूट, ठगी और अपराध की बुनियाद पर टिका होता है ठीक उसी तरह हर परिवार का ताना-बाना स्त्री की गुलामी और अस्मिता-विहीनता की बुनियाद पर खड़ा है।' तेज़ी से बदलते परिवेश में स्त्री की भूमिका भी बदल रही है, वह पुरुष से किसी भी मायने में कम नहीं है। साहित्य उससे अछूता कैसे रह सकता है।

इसी प्रकार आज 'दलित-विमर्श' भी ज़ोरों पर है। दलित का अर्थ ही है, जिसका दलन, शोषण अथवा उत्पीड़न किया गया हो। संपूर्ण दलित साहित्य में ऐसे ही उत्पीड़ित और शोषित लोगों की वेदना, पीड़ा एवं आक्रोश को देखा जा सकता है। ओमप्रकाश बाल्मीकि कहते हैं— 'जब भी देखता हूँ मैं / झाड़ू या गंदगी से भरी बाल्टी / कनस्तर / किसी हाथ में / मेरी रगों में / दहकने लगते हैं / यातनाओं के कई हज़ार वर्ष एक साथ / जो फैले हैं इस धरती पर / बस्स बहुत हो चुका / चुप रहना / निरर्थक पड़े पत्थर / अब काम आएँगे संतप्त जनों के।'

अनेक बार विचारधाराओं से प्रतिबद्धता भी साहित्य को समाज का सच्चा दर्पण नहीं

बना पाती। इसलिए हमें अनेक लेखकों की शरण में जाना पड़ता है और उनके द्वारा रचित साहित्य से हम अपने सामाजिक सरोकारों के सही स्वरूप को समझ पाते हैं। 'दलित-विमर्श' यदि कई बार एकांगी हो जाता है तो सवर्णों का साहित्य भी एकांगी होकर दलितों की उपेक्षा करता है। 'महिला-विमर्श' यदि अचानक कई बार पुरुष-विरोधी हो उठता है तो पूरा पुरुषों द्वारा रचित साहित्य महिलाओं की उपेक्षा करता दिखाई देता है।

वर्तमान की दहलीज अर्थात् चिंतन की आधारशिला पर हमारी चेतना ही हमें समाज को देखने का सलीका प्रदान करती है। मुक्तिबोध ने साहित्य और समाज के संबंधों को व्यक्त करने के लिए एक त्रिभुज की कल्पना की थी, जिसमें आमने-सामने की दो भुजाएँ समाज और अंतर्मन की हैं और नीचे की भुजा हमारी चेतना है। साहित्यकार समाज से आभ्यंतरीकरण करता है। वह जो कुछ देखता है, उसको अपने अंदर लेता है और अपने अंदर स्थित चेतना, दर्शन और सांस्कृतिक समझ के आधार पर उसका बाह्यीकरण करता है। आधार भुजा चेतना ही उसके बाह्यीकरण की प्रक्रिया को संभव बनाती है। कुल मिलाकर साहित्य और समाज का अंतर्संबंध आभ्यंतरीकरण और बाह्यीकरण की प्रक्रिया का ही नाम है।

कोई राष्ट्रवादी लेखक भगतसिंह को महाकाव्य में रूपांतरित कर सकता है तो कोई जनवादी लेखक भगतसिंह के दस्तावेजों के आधार पर एक यथार्थवादी रचना कर सकता है। हमारी चेतना में कितनी भावुकता है, कितना यथार्थबोध है, ज्ञान का आधार कितना परिपुष्ट और ऐतिहासिक दृष्टि से संपन्न है, उसी पर आधारित होती है हमारी बाह्यीकरण की प्रक्रिया, जो साहित्य को जन्म देती है। साहित्य जब समाज में उपलब्ध होता है, तो वह एक भौतिक शक्ति बन जाता है और पुनः समाज को बदलने का सिलसिला प्रारंभ कर देता है।

साहित्य और समाज का संबंध अन्योन्याश्रित है। जहाँ एक ओर समाज साहित्य का आधार बनता है, वहीं दूसरी ओर साहित्य भी समाज को बदलने का औजार बन जाता है। हर युग के साहित्यकारों ने अपने युग से प्रभावित होकर जो रचा, वह केवल सांस्कृतिक मनोरंजन के काम नहीं आया, बल्कि उसने समाज में परिवर्तन की अनेक प्रक्रियाओं को प्रारंभ कर दिया। हम हिंदी अथवा भारतीय भाषाओं के इतिहास को देखें तो पाते हैं कि मध्यकाल में या तो धर्म साहित्य का आधार था अथवा राजाओं की विलासिता के कारण शृंगारिक रचनाएँ साहित्य का आधार थीं। पूर्व मध्यकाल 16 वीं शताब्दी में कबीर ने अपनी कविता के माध्यम से समाज में व्याप्त कुरीतियों पर भरपूर प्रहार किए। उन्होंने मंदिर, मस्जिद, मुल्ला, पंडित सभी के पाखंड को उजागर किया—

काँकर पाथर जोरि के मस्जिद लई चिनाय,
ता चढ़ि मुल्ला बाँग दे, क्या बहिरा हुआ खुदाय।
तो दूसरी ओर हिंदुओं को भी जी भरकर लताड़ा—
जो ब्राह्मण तू बहानि जाया,
आन रास्ते काहे न आया।

तत्कालीन समाज में स्थापित वर्ण-भेद, छुआछूत आदि कुरीतियों पर भी जमकर प्रहार किया है—

हिंदू अपनी करै बड़ाई गागर छुआन न देई,
वेश्या के पायंतर सोवै ये देखो हिंदुआई।

मूर्तिपूजा का विरोध—

पाहन पूजै हरि मिलै तौ मैं पूजूँ पहारा।

याते तो चाकी भली, पीसि खाय संसार।

भक्तिकाल में सूर की सगुण भक्ति एवं तुलसी की रामचरितमानस जन-जन के हृदय में समाहित हो गई।

मध्यकाल के उत्तरार्द्ध का काल मुग़ल साम्राज्य के सामंती वातावरण, ऐश्वर्य, भोग-विलास एवं घोर पराभव का युग था। पद्माकर के निम्न कवित्त में तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक स्थितियों का सजीव चित्र प्रस्तुत हो जाता है—

गुलगुली गिलमैं हैं, गलीचा हैं, गुनीजन हैं,
चाँदनी हैं, चिक हैं, चिरागन की माला हैं।
सेज हैं, सुराही हैं, सुरा हैं और प्याला हैं,
तान तुक ताला हैं, विनोद के रसाला हैं,
सुबाला हैं, दुसाला हैं, बिसाला चित्रसाला हैं।

जैसे-जैसे हम सामंतवाद की जकड़न से मुक्त हुए और नया पूँजीवादी समाज नए सामाजिक संबंध हमारे सामने लेकर आया, वैसे-वैसे आमजन की पीड़ाओं को साहित्य मुखरित करने लगा। उन्नीसवीं सदी से यह सिलसिला ज़्यादा गतिमान हुआ। कहना न होगा कि हिंदी-साहित्य में भारतेंदुयुग वह पहला कदम था, जहाँ से समाज की चिंताएँ साहित्य का सरोकार बन रही थीं।

भारतेंदुयुग की नई हलचल और नई गतिशीलता को भारतेंदु और 'भारतेंदु मंडल' के लेखकों ने एक मिशनरी चेतना से नेतृत्व दिया। यह भक्ति, देशभक्ति और राजभक्ति की विचित्र टकराहटों का दौर था। राजभक्ति एक विरासत में मिली हुई आदत और मजबूरी थी, देशभक्ति यथार्थ के दुखते-कसकते मूल्यों से फूट रही थी, लेकिन कोई वैज्ञानिक सामाजिक चेतना न होने के कारण ईश्वर अभी भी परम और प्रेरणा था। आदर्श के मोह और यथार्थ के अनुभवों के बीच सकारात्मक पक्ष यह था कि रचनाधर्मिता लोकोन्मुखी थी। रचना का मूल आधार जनशक्ति थी। इसलिए भक्ति के अलावा कविता की प्रमुख चिंता जनजीवन में व्याप्त समस्याओं के उद्घाटन करने की थी न कि सैद्धांतिक प्रतिमानों के दर्पण में स्वयं को सजाने-सँवारने की। सौंदर्य-मूल्यों की तुलना में संप्रेषण-मूल्य प्राथमिक थे।

ब्रिटिशर्स के राज में रहते हुए राजभक्ति और राष्ट्रभक्ति का निर्वाह करना भारतेंदु के लिए चुनौती-भरा था। उन्होंने जो नाटक लिखे, वे सब धार्मिक एवं साम्राज्यवादी दमन के विरुद्ध थे— 'अँधेर नगरी चौपट राजा', नाटक हो अथवा 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' हो। इन नाटकों ने सामाजिक बदलाव में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक साहित्य का पाठक संपन्न वर्ग का था, लेकिन ज्यों ही पत्र-पत्रिकाओं की पहुँच मध्यवर्ग के शिक्षित समुदाय तक हुई, वैसे ही साहित्य पर नीचे का दबाव पड़ना प्रारंभ हो गया। एक प्रकार से यह साहित्य के जनतंत्रीकरण की प्रक्रिया की शुरुआत थी। पत्र-पत्रिकाओं के संपादकों को अब किसी राजा को खुश नहीं करना था, बल्कि उसका दायित्व मध्यवर्गीय नवोदित पाठक-वर्ग की रुचि-अभिरुचि का ध्यान रखना था।

‘भारतेंदु ने साहित्य को दूसरी ओर मोड़कर हमारे जीवन के साथ फिर से लगा दिया’— आचार्य शुक्ल के इस कथन के आलोक में हम भारतेंदु युग के लेखकों की एक समुच्चय भावना को उजागर करना चाहते हैं। वह समुच्चय भावना है लोकपरंपरा एवं लोकशैलियों का समाजोन्मुखी मूल्यांकन। जागरण के स्वरों का संप्रेषण यदि गँवई लोकगीतों में हो सकता है तो उसके लिए साहित्य के आभिजात्य को निर्मम होकर तोड़ा जा सकता है।

‘कविवचन सुधा’ की एक विज्ञप्ति में भारतेंदु ने लिखा है— ‘जो बात साधारण लोगों में फैलेगी, उसी का प्रचार सार्वदेशिक होगा और यह भी विदित है कि जितना शीघ्र ग्रामगीत फैलते हैं और जितना काव्य को संगीत द्वारा सुनकर प्रभाव होता है, उतना साधारण शिक्षण से नहीं होता। इससे साधारण लोगों के चित्त पर भी इन बातों का अंकुर जमाने को इस प्रकार से जो संगीत फैलाया जाय तो बहुत कुछ संस्कार बदल जाने की आशा है। इसी हेतु मेरी यह इच्छा है कि मैं ऐसे-ऐसे गीतों का संग्रह करूँ और उनको छोटी-छोटी पुस्तकों में मुद्रित करूँ।’ ऐसा नहीं है कि सिर्फ भारतेंदु इस रेखा पर चिंतन कर रहे थे, उनके समानधर्मा लेखक समीक्षकों के चिंतन का रैखिक आधार भी यही था। 1879 की उपर्युक्त विज्ञप्ति के बाद न केवल लोकगीतों का प्रकाशन हुआ बल्कि लोकगीतों की शैली में नए गीतों का सृजन हुआ। वे प्रकाशित हुए। निश्चय ही साहित्य के संभ्रांत आभिजात्य को यह ग्रामत्व अप्रीतिकर लगा होगा, कुछ प्रवाद हुआ होगा लेकिन लोकसाहित्य की ओर बढ़े हुए, वे कदम इतने पोले नहीं थे कि आभिजात्य की घुड़कियों से लौट जाते।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के युग में हम देखते हैं कि हमारी सामाजिक चिंताएँ और ज़्यादा व्यापक और गहरी हो गईं। वहाँ लेखक ज्ञान के नए-नए भंडार लेकर आए और आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इसे ‘ज्ञान-राशि का संचित कोश’ बताया। यह ज्ञान-राशि वही थी, जो न केवल भारतीय समाज से, बल्कि कहना चाहिए कि विश्व-समाज से भी हमें प्राप्त हो रही थी। विश्व-समाज से प्राप्त ज्ञानराशि का संचित कोश ही साहित्य था।

दरअसल, सैकड़ों वर्षों की गुलामी और अशिक्षा के अज्ञानांधकार ने भारतीय समाज में एक प्रकार की जड़ता भर दी थी। प्राचीन अंधविश्वासों और रूढ़ियों का बोलबाला समाज में ही नहीं साहित्य में भी था। उसे तोड़ने के लिए चाहिए थी, एक वैज्ञानिक चेतना और अधुनातन विकास की ज्ञान-परिधि। द्विवेदी जी और उनके सहयोगियों ने इतिहास और सामाजिक विषयों के लिए एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया। वे विज्ञान-संबंधी लेखों द्वारा पुराने विचार बदलकर नई सामाजिक चेतना का प्रसार करना चाहते थे, वैसे ही साहित्य द्वारा वे जनता के पुराने संस्कार बदलकर उसका मानस नए साँचे में ढालना चाहते थे। वस्तुतः वे हिंदी के आभ्यंतर को बाह्य से जोड़ना चाहते थे। इसलिए उन्होंने अन्य भाषाओं में लिखे जा रहे ज्ञान और विज्ञान के लेखों-आलेखों को हिंदी-जगत् से परिचित कराना चाहा। वे हिंदी के साहित्यकारों और विशेष रूप से कवियों को नए ज्ञानालोकित प्रकाश से जगर-मगर पूर्ण करना चाहते थे। ‘सरस्वती’ उनके हाथ में एक टॉर्च के समान पत्रिका थी, जिसका संपादन-भार उन्होंने 1903 में संभाला।

वे जानते थे कि साहित्य की एक क्रांतिकारी भूमिका होती है। अनेक विदेशी समाजों के प्रगतिशील परिवर्तनों के मूल में, जो साहित्यिक सक्रियताएँ रही हैं, द्विवेदी जी उनसे अपने लेखकों-पाठकों को परिचित कराना चाहते थे, साहित्य के जरिए।

आधुनिक लेखन में हमें मुक्तिबोध काफ़ी प्रभावित करते हैं। जब वे कहते हैं— 'साहित्य वैविध्यमय जीवन के प्रति आत्मचेतस व्यक्ति की संवेदनात्मक प्रतिक्रिया है।' हमारा वैविध्यमय जीवन, हमारा समाज लेखक के सामने है और वह लेखक जो जागरूक होता है, आत्मचेतस होता है, संवेदनाओं से भरा होता है जब वह अपनी प्रतिक्रिया करता है, तो वह साहित्य कहलाता है। वह साहित्य पुनः समाज को बदलता है। यह सिलसिला अनादिकाल से चला आ रहा है और अनंतकाल तक चलता रहेगा। साहित्य और समाज एक-दूसरे से कभी अलग नहीं हो सकते। वे नित्यप्रति चिंतित रहते हैं।

आज निठारी यदि चिंता का विषय है तो वह समाज में आने लगा है और जो साहित्य निठारी की घटना के बाद लिखा जा रहा है, निश्चित रूप से वह शासन-प्रशासन और हमारे समाज के बाहरी ढाँचे को सुधारने में एक भूमिका ज़रूर अदा करेगा। हालाँकि धूमिल ने कहा था— कविता की तितली के पंखों में पटाखा बाँधकर, भाषा के इलाके में कौनसा गुल खिला दूँ, इस ससुरी कविता से कुछ नहीं होना जाना।

कविता से निश्चित रूप से कुछ-न-कुछ होता है। साहित्य परिवर्तन का औज़ार बनता है, बशर्ते कि उसके साथ एक व्यापक विश्व-दृष्टि जुड़ी हो, संकीर्णताएँ न हों, सांप्रदायिकता न हो और मानवतावादी सोच हो।

□ जे 116, सरिता विहार, मथुरा रोड, नई दिल्ली

एक साक्षात्कार पं० अमृतलाल नागर के साथ

डॉ० भानु रघुवंशी

(इंटरव्यू' के 'इंटर' और 'व्यू' की गहराई तक पहुँचने पर कहा जा सकता है कि किसी के अंतर्वाह्य योग्यता का निर्धारण करने के लिए व्यक्तिगत रूप से प्रश्नादि करने की प्रक्रिया'। पं० अमृतलाल नागर द्वारा बीस वर्ष पूर्व कहे गए शब्द)

हिंदी कार्मिकी भाग एक एवं दो, एक अदद छत (कहानी-संग्रह), कतरनें ज़िदगी की (कहानी संग्रह), सीतायनी (मनोवैज्ञानिक खंडकाव्य), हिंदीभाषा ऐतिहासिक परिदृश्य के बाद 'एक साक्षात्कार पं० अमृतलाल नागर के साथ' के माध्यम से पाठकों तक पहुँचे डॉ० शंकर क्षेम ने हिंदी में साक्षात्कार विधा की विकास-यात्रा देकर हिंदी में साक्षात्कार प्रविधि को समझाने का सरल प्रयास किया है। उन्होंने साक्षात्कार के अंतर्वाह्य तत्त्वों को भी विस्तार से समझाया है। इस दिशा में यह एक सफल एवं मौलिक प्रयास कहा जा सकता है।

बिना कथा के कथातंतु का विकास कर देना डॉ० क्षेम की विशेषता है। नागर जी से साक्षात्कार के लिए जाना, रेलयात्रा का वर्णन करना, यात्रावृत्त के तत्त्वों को स्पर्श कर जाता है। उन्हीं के शब्दों में—

'लखनऊ को जानते थे, नवाबों की रियासत अवध की राजधानी के रूप में। नवाबी नज़ाकत-नफासत के शहर के रूप में। छोटे और बड़े इमामबाड़े के शहर के रूप में। 'पहले आप'-'पहले आप' की संस्कृति के परिचायक के रूप में। शिया और सुन्नी मुसलमानों के बीच दंगों के शहर के रूप में। शासन-गंगा की गंगोत्री, सचिवालय और विधान-भवन के नगर के रूप में। उत्तर प्रदेश की राजधानी के रूप में। साथ-ही-साथ प्रदेश के सभी संगठनों, समूहों, राजनीतिक दलों की रैलियों-प्रदर्शन के शहर के रूप में।' पं० अमृतलाल नागर के आवास तक पहुँचने की प्रक्रिया में भेंटवार्ताकार का मूल निवास धामपुर (बिजनौर) एवं चौक बाज़ार लखनऊ इस चित्रण के बिंदु बने हैं। धामपुर रेलवे स्टेशन पर बिजली गुम, महिला रेलवे डिब्बे में अनियंत्रित स्थितियाँ, वार्ताकार का अलग डिब्बे में बैठना, बीच-बीच में अपने परिवार की खोज-ख़बर लेना आदि तत्कालीन परिस्थितियों के वाचक हैं।

लखनऊ पहुँचकर लखनऊ के विषय में भेंट-वार्ताकार (Interviewer) का अपना वक्तव्य इस प्रकार है— 'यों तो लखनऊ मेरे लिए नया नहीं था फिर भी उस दिन नया-सा ही लगा था। 19 सितंबर 1987 को प्रातः ही लखनऊ पहुँचकर चार बजे तक समय सोच-समझकर काटना पड़ा था। अनेक प्रश्न उमड़-घुमड़ रहे थे। कैसे होंगे पंडित जी। पहली वार हिमालयी व्यक्तित्व से साक्षात्कार लेने की सोचकर मैं अदना-सा महसूस कर रहा था स्वयं को। कहीं हीनता-ग्रंथि से ग्रसित न हो जाऊँ, इसी डर से स्वयं को सावधान रख रहा था।'

प्रेमचंद्र के सच्चे उत्तराधिकारी, पं० अमृतलाल नागर ने ऐतिहासिक उत्खननों के माध्यम से प्रथमदृष्टया ज्ञान अर्जित किया। घर पर आए मेहमान का चाय पिलाकर और पान की

गिलौरी खिलाकर स्वागत करना नागर जी की अपनी संस्कृति थी। नागर जी ने उसी संस्कृति का निर्वहन किया।

पंडित जी ने महादेवी के साहित्य की चर्चा सर्वप्रथम की और उनके साहित्य को विश्व साहित्य के स्तर का बताकर उनकी महत्ता को स्वीकार किया। उनके उपन्यासों के संबंध में भेंट वार्ताकार डॉ० शंकर 'क्षेम' ने सूक्ष्म-से-सूक्ष्म तथ्यों की जानकारी प्राप्त करने का प्रयास किया है। उसी प्रयास से मिले उत्तर उनके अंतिम प्रमाणिक दस्तावेज़ कहे जा सकते हैं।

डॉ० शंकर क्षेम ने पंडित जी के प्रारंभिक उपन्यास से लेकर करवट (तब तक प्रकाशित) तक सभी उपन्यासों से संबंधित समस्याओं पर उनसे चर्चा की है। पंडित जी ने खुले दिल से सभी प्रश्नों के उत्तर दिए हैं। 'पीढ़ियाँ' तब तक प्रकाशित नहीं हुआ था परंतु पंडित जी ने इसे 'करवट' का भाग-दो कहा था। 'करवट' उपन्यास में 1854 से 1902 तक की पीढ़ियों का चित्रण देखने को मिलता है।

साक्षात्कार क्या है? साक्षात्कार का स्वरूप क्या है? हिंदी में साक्षात्कार कबसे प्रारंभ हुआ? साक्षात्कार के तत्त्व क्या हैं? साक्षात्कार की प्राविधि क्या है? हिंदी में साक्षात्कार का इतिहास क्या है? आदि अनेक प्रश्नों का उत्तर 'डॉ० क्षेम' की यह पुस्तक देती है।

उन्होंने सबसे पहले पंडित जी से आत्मीयता अर्जित की और फिर प्रश्न पूछकर अपना अभीप्सित उद्देश्य पूर्ण किया। 'महाकाल' का शीर्षक बदलकर 'भूख' करने के पीछे के कारण को साक्षात्कारकर्ता ने नागर जी से पूछा और उन्होंने स्पष्ट उत्तर दिया—

'भूख करुणा का विषय है ही नहीं। मैंने बंगाल का अकाल अपनी आँखों से देखा है। यह भोगा हुआ यथार्थ है। चिंता प्रसाद, जैनुअल आब्दीन जैसे चित्रकारों ने गाँव-गाँव जाकर भूख के तांडव के चित्र खींचे थे। आँखों देखा हाल है 'भूख उपन्यास'। करुण रस तो रसरज है। आप किसी भी रस की अनुभूति करुणरस के साथ ही कर पाते हैं। जो करुणामय है, वही कहीं-कहीं वीभत्स और भयानक ही होता है लेकिन मूल में बैठी करुणा बहुत महत्त्वपूर्ण है।'

सुहाग के नूपुर की माधवी-कन्नगी के मध्य प्रतिस्पर्द्धा का भाव मानव-जाति की विवशता है। माधवियों के साथ कन्नगियों के जन्म परंपरागत सत्य हैं। कन्नगी विधिमान्य पत्नी है और माधवी मनमान्य नारी। दोनों का परस्पर सपत्नीक डाह कभी कन्नगी को और अंततः माधवी को भारी पड़ता है। पंडित जी इस उपन्यास की मूल कथा को तमिल से सूत्र रूप में ग्रहण करना स्वीकार करते हैं। कन्नगी-माधवी के मध्य पनपी प्रतिस्पर्द्धा के भाव को पंडित जी ने बड़े साफ़ शब्दों में समझाने का प्रयास किया है—

'भाई, मैंने कहा तो सही कि हम मूल्यों से जुड़े हैं। संदर्भों से जुड़े हैं। दोनों का अलग-अलग महत्त्व है। कन्नगी परिणीता नारी है। उसका अधिकारी है कोवलन। माधवी रूपजीवा है। उसका मूल्य है। वह कितनी भी सुंदर क्यों न हो, क़ीमत देकर ख़रीदी जा सकती है। क़ीमत देकर बाज़ार से ख़रीदी गई वस्तु के लिए महत्त्वपूर्ण है पैसा। कन्नगी तो अमूल्य है। जैसे माधवी ख़रीदी जा सकती है— कन्नगी नहीं।'

'बूँद और समुद्र' उपन्यास के संदर्भ में 'डॉ० क्षेम' ने एक अच्छा सवाल पंडित जी से पूछा 'शादी और उसका मॉरल कोड समाज को उठाने के बजाय गिराते हैं।' कथन के माध्यम से आप क्या कहना चाहते हैं। पंडित जी ने सहज रूप में अपने कथन की दृष्टि को स्पष्ट किया।

उन्हीं के शब्दों में—

‘पात्र को जिया जाता है या कहो जीना पड़ता है। विवाह एक बहुत पुरानी परंपरा है। इस परम्परा में देशकाल के अनुसार परिवर्तन होते रहते हैं। इसके बारे में आज समाजशास्त्रियों में काफी तीखी चर्चाएँ हैं। विवाह एक व्यवस्था है। व्यवस्था जिसमें वैज्ञानिकता थी और व्यावहारिकता थी। विवाह एक स्वरूप है। स्वरूप में बुराई आ जाए तो बदल देना भी चाहिए। खत्म कर देना चाहिए।’ दिग्विजय ब्रह्मचारी जैसे चरित्रों का सृजन वे समाज के लिए बड़ा परोपकारी मानते हैं।

‘आप परशुराम मान लीजिए मध्यकालीन लड़वैये मान लीजिए। वैरागी हुआ करते थे पहले, बन्दा वैरागी की तरह। बड़ी लड़ाकू कौम थी। आज तो कौम का अर्थ भी बदल गया है। साफ़-साफ़ न सही अप्रत्यक्ष रूप से सही, यह मानना किसी रूप में ग़लत नहीं कि वैरागियों की जमात एक पंथ के रूप में विकसित हुई थी। उसका काम था— धर्म की रक्षा करना। दिग्विजय ब्रह्मचारी उसी वर्ग का प्रतिनिधि है। वह समर्पित है देश की रक्षा करने के लिए। स्वाभिमान के साथ जीना उसकी नियति है, प्रकृति है। क्या आप महसूस करते हैं कि जो चल रहा है, अच्छा चल रहा है? अच्छा नहीं चल रहा है और इसके अधिक दिनों तक ऐसे चलते रहने की उम्मीद नहीं है। परिवर्तन चाहिए। समय जब परिवर्तन पर जाता है, दिग्विजय ब्रह्मचारी उत्पन्न होते हैं।’

उपन्यास की रचना-प्रक्रिया देश और राष्ट्र के संदर्भ में समाजवाद, आज की युवा पीढ़ी का आक्रोश व विद्रोह, युवा पीढ़ी का भटकाव आदि अनेक विषयों पर डॉ॰ क्षेम ने नागर जी से प्रश्न किए। नागर जी के साथ बिताई गई तीन शामें हिंदी-साहित्य के विद्यार्थियों के लिए बड़ी उपयोगी हो गईं और नागर जी के श्रीमुख से ही कुछ बहुत महत्वपूर्ण वाक्य कहलवा लिए गये। पहली शाम 19 सितंबर 1987 को पहले दिन के साक्षात्कार के अंत में उर्दू-हिंदी की समस्या पर आपके विचार बड़े व्यावहारिक कहे जा सकते हैं। उनके अनुसार दक्षिण भारतीय भाषाएँ मणि-प्रवाल भाषा के रूप में विकसित हुई हैं। यहाँ उर्दू को मणि-प्रवाल भाषा मान लिया जाए तो कुछ भी बुरा नहीं होगा। उन्होंने हिंदीवालों को समझाने का प्रयास किया इन शब्दों में—

‘पर तुम हिंदीवाले मानो तब न। एक तो तुम मानते नहीं हो, दूसरे इन्हें निगेट करके अपने से काट रहे हो। इस तरह हिंदी का हित नहीं, अहित कर रहे हो।’

साक्षात्कार के प्रथम दिन ही नागर जी ने उस दिन का साक्षात्कार समाप्त करने से पूर्व बीस वर्ष पहले के कितने कड़वे सच से हमें अवगत कराया था, एक प्रश्न के उत्तर में कहे गए इन शब्दों में देखा जा सकता है—

समाज की खोपड़ी की रचना अजीब है। नौजवानों में कुंठा के कई कारण हैं। उन्हें ठीक से समझ न पाना, यह एक बहुत बड़ा कारण है। समाज की खोपड़ी में यह बात कभी नहीं आई। इस सनातन सत्य को समझने में हमसे सदैव भूल हुई है। ‘अमृत और विष’ के नौजवान लोककल्याण के कामों में लगे हैं। इससे उनका ध्यान बँट गया है। जोश को यदि अच्छी दिशा दे दी जाए तो वह सकारात्मक-संरचनात्मक कार्यों में लग जाता है। यदि हम इस ऊर्जा को संरचना में नहीं लगाते तो यह विस्फोटक हो जाती है, ‘मिलीटैन्ट’ हो जाती है। इस विस्फोटक स्थिति से निबटने का सबसे अच्छा तरीका है, इन्हें काम पर लगा दो। उस काम में आनेवाली बाधाओं पर ये अपने-आप विजय प्राप्त कर लेंगे। उनका ब्रेनवाश किया जा रहा है, उन्हें इससे बचाना होगा। उनके मन में भरा गया परायापन निकालना होगा।’

20 सितंबर 1987 अर्थात् साक्षात्कार के दूसरे दिन शाम को उन्होंने अपने उपन्यास (रेखाचित्र) सेठ बाँकेमल की खुलकर चर्चा की। सैयद हामिद अली के साथ की गई रेलयात्रा में उन्हें सुनाए गए तजुबों को रफू करके सेठ बाँकेमल उपन्यास का स्वरूप दिया। उनके नाना जी चौबे जी के रूप में और लाला सुरीमल सेठ बाँकेमल के रूप में उनके उपन्यास के प्रेरक चरित्र रहे हैं। नागर जी ने इतिहास और साहित्य के परस्पर संबंधों को स्पष्ट करते हुए इस साक्षात्कार में इतिहास लिखने की परंपरा को बड़ा अवैज्ञानिक बताया। उन्होंने 'सात घूँघट वाला चेहरा' के संदर्भ में ऐतिहासिक उपन्यासकार को इतनी छूट दी है कि वह दुकानदारी की मानसिकता से काम की चीज़ उठाए। 'एकदा नेमिषारण्ये' उपन्यास के संदर्भ में उन्होंने अपनी दक्षिण यात्रा का प्रसंग डॉ॰ शंकर क्षेम का सुनाया कि उत्तर और दक्षिण के पुजारियों की भाषा भिन्न होते हुए भी धुन एकसी है। डॉ॰ शंकर क्षेम के इस प्रश्न के उत्तर में पंडित जी ने बड़ी मार्मिक बात कही है।

प्रश्न : पंडित जी हमारा देश कभी ऋषि-प्रधान, कृषि-प्रधान और मनीषी-प्रधान देश था, अब कुर्सीप्रधान देश रह गया है। आप अपने उपन्यास 'एकदा नेमिषारण्ये' के द्वारा क्या अपेक्षा रखते हैं समाज से?

उत्तर : चप्पे-चप्पे में राम और स्वयं को राममय बनाने की प्रक्रिया सन् 1969 भारतीय क्रांति का संक्रांतिकाल था। काँग्रेस का विभाजन हुआ। मुख्यमंत्रियों की कुर्सियाँ बदलीं। नारदों ने अच्छाई की ओर क़दम बढ़ाया। सत्ता से मोहभंग हुआ। दादालाई गई। यह सब वैसे ही नहीं घट गया। इसकी कोई प्रक्रिया रही होगी, जिसका अनुमान नहीं किया जा सकता। प्रांतवाद की आग, संविद सरकारें बनने के बाद और प्रबल हुई। सोच का स्तर बँटने की प्रक्रिया की फिर शुरुआत हुई। इससे भी निकलकर 'यूनिटी' आएगी, ऐसी मेरी धारणा है। 'मल्टी नेशनलिटी' से 'नेशनलिटी' का विकास प्रांतवाद 'प्रॉविंशियलिज़्म' से छुटकारा। समुद्रगुप्त का विकास ऐसी परिस्थितियों में ही होता है। जीवन ही गति है। गति ही जीवन है। जीवन टूटता नहीं है। इतिहास हमें यही सबक़ देता है। ज़रा विचार करके देखो दुर्योधन कैसा कंपलीट करैक्टर है? घायल हुआ मैदान में पड़ा है। कहता है मैं धर्म को जानता हूँ पर उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं है। मैं अधर्म को पहचानता हूँ परंतु उससे मेरी निवृत्ति नहीं है। प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच का कैसा तटस्थ चरित्र है दुर्योधन! पूरी तरह अपने कर्म को समर्पित। यह जानते हुए 'चाहे कि न करावे सोई' दुर्योधन भी समाज की आवश्यकता होते हैं।'

पंडित जी से डॉ॰ क्षेम का एक प्रश्न—'अस्थिर लोकमानस को जीने के लिए आस्था का चुंबक चाहिए। कथन से आप आस्था के किस चुंबक की बात कर रहे हैं? के उत्तर में पंडित जी ने कितना व्यावहारिक उत्तर दिया था, जो आज भी हमारे लिए एक दिशासूचक है।

'जीवंतता का चुंबक। 'दंड भी दया है' के भाव का चुंबक। दोषी को दंड देना आवश्यक है। ज़िंदा रहने के लिए तुम्हें अपने अंदर की शक्ति को पहचानना पड़ेगा। वही आस्था का चुंबक शिकारी कुत्ते की तरह है। तुम उसे छोड़कर भागोगे, वह तुम्हें नहीं छोड़ेगा। तुम्हारी

मजबूरी है आस्था से जुड़े रहना। सुनो, एक बार एक स्वामी जी से हम मिले हरिद्वार में। आर्थिक तंगी में थे। उन्होंने बताया कि सात बार 'सप्तचंडी' का पाठ करो। तो लोकमानस को जीने के लिए आस्था का चुंबक चाहिए। हमसे हमारी बीवी (स्व० प्रतिभा नागर) गिड़गिड़ाईं। मैंने पाठ किया। करते-करते शेर पर सवार दुर्गा का स्वरूप मेरे मन में आ विराजा। बस मैं भौचक्का था। शेर क्या था इलैक्ट्रॉनिक कंट्रॉल था। शेर माँ शक्ति की सवारी है भी। इलैक्ट्रान, प्रोटान, एटम, हाइड्रोजन का क्या केवल डैसट्रक्शन में ही उपयोग है! यही सब आस्था के चुंबक है और क्या?'

साक्षात्कार का दूसरा दिन या कहें दूसरी शाम।

पंडित जी के अभिन्न मित्र श्री ज्ञानचंद जैन का आगमन। 'डॉ० क्षेम' के लिए कार्य समाप्त करने की सांकेतिक पूर्व सूचना। 'डॉ० क्षेम' ने मौके की नज़ाकत का अंकन किया और अपना प्रश्न रत्नावली से जुड़ा हुआ कर डाला। पंडित जी ने स्व० प्रतिभा नागर को स्मरण किया और भावुक हो गए। उन्होंने रत्नावली को तुलसी से विचार-विरोध की प्रतीक बताया। ऐसी कौनसी पत्नी है, जो अपने पति से लड़ती नहीं। पुनः भावुक होकर उन्होंने अपनी धर्मपत्नी स्व० प्रतिभा नागर का संदर्भ देते हुए कहा—

'लड़ती थी हमारी रत्नावली भी। आज वह नहीं है, तकलीफ़ होती है। अपनी पत्नी के हाथ का लगाया हुआ पान खाया करते थे। अब अपने हाथ से लगाकर खा रहे हैं। 'लाइफ़ पार्टनर' पूरे 'लाइफ़' साथ रहे तो अच्छा है। अभाव खलता है, सालता है। सब कुछ करते हैं बहु-बेटे, पोते-पोतियाँ, बड़ा ध्यान रखते हैं लेकिन (बहुत ही भावुक हो जाते हैं और आगे कुछ नहीं कह पाते। स्व० प्रतिभा जी का ध्यान आ जाता है।)

डॉ० क्षेम एवं पं० अमृतलाल नागर के मध्य साक्षात्कार की अंतिम स्थिति अर्थात् दिनांक 21 सितंबर 1987। प्रश्नों की भी अंतिम शाम और उत्तरों की भी अंतिम शाम। पंडित जी ने इस दिन के लिए समय की प्रतिबद्धता स्वयं समाप्त कर दी थी। परंतु शाम 4 बजे से 6 बजे तक दो घंटे पंडित जी जैसे व्यक्तित्व के लिए कम नहीं है। वे अपने बीच-बीच के कथनों में स्पष्ट कर देते थे कि इतना लंबा 'इंटरव्यू' किसी ने उनका नहीं लिया। 'अज्ञेय जी' ने भी उनका साक्षात्कार लिया था-परंतु इतना लंबा नहीं। 'पद्मा सचदेव' भी आई थीं, पर सिर्फ़ एक दिन में एकाधिक घंटा बात करके चली गई थीं। डॉ० क्षेम ही ऐसे व्यक्ति थे, जिन्हें पंडित जी ने ज्ञान का गुरु कहकर आशीर्वाद दिया और अंतिम दिन की समय-सीमा को उन्हीं की सुविधानुसार बढ़ा दिया।

21 सितंबर 87 को चार बजे सायं से सात बजकर पंद्रह मिनट तक पंडित जी का साक्षात्कार डॉ० क्षेम ने लिया। 'नाच्यो बहुत गोपाल' उपन्यास की मुख्य चरित्र निगुनिया, जिसका जन्म ब्राह्मण परिवार में हुआ। सौतेली माँ के दुष्प्रयोजनों से वह अल्पवयस्क होते हुए भी क्षत्र्यौवना हुई। फिर अधेड़ उम्र के पंडित मुसद्दीलाल की चौथी पत्नी बनीं। उसके अंकुशों-प्रतिबंधों की शिकार निगुनिया का मोहना (भंगी) से प्रेमप्रसंग पैंग चढ़ा और वह उसके साथ भाग गई। अपनी नई बिरादरी में पहुँचकर उसने भंगी-कर्म में स्वयं को दीक्षित किया। इसकी प्रेरणा पंडित जी को अपनी स्वयं की मेहतारानी के बेटे के साथ एक ब्राह्मण पुत्री एवं ब्राह्मण-वधु (चौथी) के भाग जाने से मिली। उस लड़के के साथ भागी ब्राह्मण पुत्री तो कानपुर

में पकड़ी गई। लौट आई। काश! यह ब्राह्मण वधु न पकड़ी जाती। न लौटती तो क्या होता? यहीं से 'नाच्यो बहुत गोपाल' का कथानक जुड़ लेता है और पूरा उपन्यास उसी भावभूमि में तैयार रहता है। डॉ० क्षेम द्वारा यह प्रश्न पूछे जाने पर कि मेहतर और भंगी में आपकी दृष्टि में क्या भेद है? पंडित जी ने बड़ा ही सटीक उत्तर दिया है—'मेहतर शब्द महत्तर है। यह सम्मानसूचक संबोधन है। इस संबोधन के पीछे हमारी समस्त भारतीय मान्यताएँ छिपी हैं। हमारे संस्कार हैं कि हम अपने सेवक को सम्मान से संबोधित करते हैं।'

ये सभी हिंदू राजपूत थे। राजपूतों की मुस्लिमों द्वारा हार के बाद बंदी रूप में उन्हें दो ही विकल्प दिए गए, पहला इस्लाम स्वीकार करें, दूसरा कमोड उठाने का काम करो। इतने धर्मनिष्ठ कि धर्म नहीं छोड़ा और कमोड उठाने का काम मजबूरी में स्वीकार किया। भंगी कैसे कहलाए— मर्यादाएँ भंग हो गईं, इसलिए भंगी बने। परंपराएँ भंग हो गईं, इसलिए भंगी बने। दुर्भाग्य, भारत के स्वतंत्र होने के बाद भी ये भंगी ही रहे। जो व्यवहार मुसलमान उनके साथ करते थे, वही अँग्रेजों ने किया और वही व्यवहार स्वतंत्र भारत के काले अँग्रेज भी कर रहे हैं। इन्होंने यह कभी और कहीं नहीं समझा कि 'हाउ ए मैन इज टर्नर्ड' (How a man is turned)। उन्हें इस बात का भी आभास नहीं है कि यदि मोहना, भंगी जाति का नहीं होता तो निगुनिया के सामने इतनी समस्याएँ आती ही नहीं। निगुनिया की अतिशय काम-पिपाशा किसकी देन है? समाज की। परिणाम किसने झेला? निगुनिया ने। यह सब कुछ हमारे समाज की देन है। निगुनिया ने तो विवशताओं से घिरी होते हुए भी रास्ता निकाला—निर्माण का। 'लिबिडो' अपने आपमें एक प्रक्रिया है। भले ही आप फ्रायड से सौ फीसदी सहमत न हों, इसे नकार नहीं सकते। राम और काम के महत्त्व को स्वीकार करना ही पड़ेगा। पंडित जी ने 'वात्स्यायन' के कामसूत्र से फ्रायड के कामसिद्धांत 'लिबिडो' तक सब कुछ पढ़ा है। किसी ढले-ढलाएँ साँचे में पंडित जी कभी नहीं लिखते थे। उन्होंने लिखा भी नहीं। काम से राम तक की यात्रा उन्होंने तुलसी और रत्नावली के प्रेम के माध्यम से प्रस्तुत की है और निगुनिया-मोहना से आगे सीता पांडेय तक लेकर गए हैं। सीता पांडेय भी 'अग्निगर्भा' उपन्यास का ऐसा चरित्र है, जो नारी-सम्मान, महिला सशक्तिकरण आदि अनेक नारों का समावेश करते हुए 'मैं मरूंगी नहीं' की नायिका के वास्तविक चरित्र 'न मरनेवाली' की प्रस्तुति करता है। 'खंजन-नयन' जन्मांध सूर के चरित्र को अंकित करनेवाली औपन्यासिक रचना है। सूर के जन्मांध होने के लिए उन्होंने 'सूरांध' शब्द का प्रयोग किया है। उसके लिए उन्होंने जैसलमेर के किले के एक जन्मांध गाइड का उदाहरण प्रस्तुत किया है। वह उन्हें अंधा होने के बावजूद किले के सभी भागों की चित्रकारी, बेल बूटे, रूप-रंग बताता रहा। नागर जी ने उसे उस समय दस रुपए का एक नोट देने के बाद पूछा 'इस प्रकार के ज्ञान का राज क्या है?' गाइड बोला कि वह अपने पिता की इकलौती संतान है और पिताजी भी यहीं इसी किले के गाइड थे। यदि लड़के को कुछ नहीं सिखाया, तो इसका भविष्य क्या रहेगा। उन्होंने अपने पुत्र (जन्मांध) को सब कुछ सिखाया। पुत्र ने सीखा और, आज वह कामयाब है।

पंडित जी को भी लगा कि उनके सूर की 'सुपर नेचुरल आइज़' (Super natural eyes) खुली हुई थी। 'डॉ० क्षेम' के एक प्रश्न— 'काम वह अंडा है, जिससे मन रूपी पक्षी प्रकट होता है। उस मन-रूपी पक्षी के दो पंख हैं— कल्पना और विचार। इन पुष्ट पंखोंवाले पक्षी को निस्सीम आकाश में उड़ने दो। उसे दबाने या घृणित अपराध मानकर कुचलने का प्रयत्न मत

करो।’

‘आपका तात्पर्य क्या है?’ पंडित जी का उत्तर बड़ा ही स्पष्ट था—

‘काम की वकालत मैंने पश्चिमी दृष्टिकोण से प्रभावित होकर नहीं की। मैं मूल भारतीय धारा से प्रभावित रहा हूँ। अजंता-एलोरा की गुफाओं और खजुराहो के मंदिरों के पीछे काम का पश्चिमी दृष्टिकोण नहीं माना जा सकता। ‘सेक्स’ एक प्रकार का स्प्रिंग है। इसके स्ट्रिक्टर्स को जितना दबाओगे उतना ही दबाव के साथ उछलेंगे। काम मूल रूप में सर्वज्ञात है। इस सर्वज्ञात को अज्ञात बनाए रखने की असंभव चेष्टा करना निष्प्रयोजन है।’

अनेक प्रश्नों में से एक प्रश्न— ‘पंडित जी आप क्यों लिखते हैं?’ के उत्तर में पंडित जी रेशम के कीड़े का उदाहरण देते हुए कहा—‘रेशम का कीड़ा रेशम क्यों निकालता है? वह मजबूर है रेशम निकालने के लिए। हम लिखते हैं, क्योंकि बिना लिखे रहा नहीं जाता। बचपन में ऐसा ढल गया है कि एकाकी मन को ‘वे ऑफ़ एक्सप्रेसन’ मिल गया है। स्वयं को अभिव्यक्त करने के लिए लिखना मजबूरी ही है।’

अंत में हम कह सकते हैं कि डॉ॰ शंकर क्षेम द्वारा लिए गए पं॰ अमृतलाल नागर के साक्षात्कार के प्रकाशन से हिंदी-साहित्य में साक्षात्कार विधा समृद्ध हुई है और साथ-ही-साथ परवर्ती पीढ़ी को इस विधा को समझने की दिशा मिली है। सबसे ज्यादा अच्छी लगी है प्रस्तुति। पाठक इस ग्रंथ को पढ़ते समय जानें कैसे पं॰ अमृतलाल नागर के चौक स्थित आवास के साथ तादात्म्य जोड़कर साक्षात्कार का हिस्सा बन जाता है। ‘डॉ॰ क्षेम’ की शैली की यह मौलिक उपलब्धि है।

□ ग्राम जैतरा, धामपुर (बिजनौर)

हिंदी का वर्तमान बालकहानी-साहित्य

संतोष सिंह एवं श्रीमती सुमन (शोध अध्येता)

बालकों को अपने चतुर्दिक परिवेश की चिरपरिचित वस्तुओं, पशु-पक्षी आदि के संबंध में सहज रूप से जिज्ञासा होने लगती है। कहानी के माध्यम से बाल्यावस्था से ही उनकी कल्पना को विस्तृत आयाम मिलने लगते हैं। बाल कहानियाँ बच्चों में जिज्ञासा तथा संवेदना जगाने का प्रयास करती हैं। बाल-कहानियों का कथ्य बालोपयोगी होता है तथा पद्धति चित्रात्मक होती है। इसके लिए संवादात्मक या प्रश्नोत्तर शैली अधिक प्रभावी होती है। संस्कृत साहित्य में नीतिपरक कहानियों का प्रचलन अधिक था। 'पंचतंत्र' तथा 'हितापदेश' की कहानियाँ उपदेशात्मक अधिक थीं। हिंदी में बाल-कहानियों की परंपरा का शुभारंभ यद्यपि भारतेंदु से पूर्व ही हो गया था, परंतु विकसित स्वरूप भारतेंदु के समय में दृष्टिगोचर हुआ। उनसे पूर्व लल्लूलाल ने 'सिंहासन बत्तीसी', 'बेताल पच्चीसी' और 'हितोपदेश' की कहानियों का अनुवाद किया था। राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिंद' की 'राजा भोज का सपना' मौलिकता की दृष्टि से सशक्त कहानी थी। 'सरस्वती' पत्रिका के संपादक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने बालोपयोगी धार्मिक और पौराणिक कहानियों पर बल दिया तथा उनकी प्रेरणा से 'महाभारत' तथा 'रामायण' के सरल बाल-संस्करण निकाले गए।

मुंशी प्रेमचंद के द्वारा कहानी के क्षेत्र में अभूतपूर्व परिवर्तन किया गया। उन्होंने बाल-मनोविज्ञान पर आधारित अनेक कहानियाँ लिखीं। पौराणिक एवं रूढ़िग्रस्त धार्मिक विषयों के कोरे उपदेशों की अपेक्षा ऐसी कहानियों का प्रभाव बालकों पर अच्छा पड़ा। उन कहानियों द्वारा स्वस्थ और सहज मनोरंजन का प्रयास हुआ तथा उदात्त वृत्तियों के उद्घाटन का प्रयास किया गया। मुंशी प्रेमचंद की कहानियाँ हैं— 'ईदगाह', 'बड़े भाई साहब', 'ठाकुर का कुआँ', 'दो बैलों की कथा', 'प्रेरणा', 'चोरी', 'राजा हरदौल', 'आत्माराम', 'परीक्षा', 'पंच परमेश्वर' आदि। विश्वंभर शर्मा 'कौशिक' तथा 'सुदर्शन' की कहानियाँ प्रेमचंद के बाद सर्वाधिक लोकप्रिय हुईं। सुदर्शन की कहानी 'हार की जीत' बहुत प्रसिद्ध हुई। पं० श्रीराम शर्मा की शिकार-कथाएँ भी बालकों और किशोरों को अधिक रोचक लगती रहीं। जहूरबख़्श, स्वर्ण सहोदर, पदुमलाल पुन्नलाल बख़्शी, महावीरप्रसाद द्विवेदी, चतुरसेन शास्त्री आदि ने बालकों के लिए आदर्शात्मक कहानियाँ लिखीं।

स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद बालकहानी-क्षेत्र में नवीन क्रांति आई। कहानी-साहित्य में अकहानी, नई कहानी, समकालीन कहानी, समांतर कहानी आदि नामों से कहानी-विधा अपना कथ्य और शिल्प परिवर्तित करती गई। यह परिवर्तन बालकहानी में नहीं परिलक्षित हुआ। किसी विशेष अवधि में लिखे गए कहानी-साहित्य की किसी प्रवृत्ति को बालकहानी से नहीं जोड़ा गया। अन्य जो आदर्शवादी परंपरा भारतेंदु-युग से चली, प्रेमचंद-युग में पल्लवित हुई और वर्तमान युग में पोषित-पुष्पित हो रही है, बालकहानी के लिए वही उपयोगी है। अब रेडियो एवं

दूरदर्शन की नई टेकनीक से बालकहानियों के टी०वी० सीरियल भी बनकर प्रस्तुत हो रहे हैं। पाठ्य एवं श्रव्य विधा दृश्य-विधा बनकर बालकों को और भी अधिक रोचक सामग्री दे रही है। टी०वी० के कई सीरियल बच्चों में लोकप्रिय हो रहे हैं।

विद्वानों ने बालकहानी साहित्य का विषय की दृष्टि से ऐतिहासिक कहानियाँ, पौराणिक कहानियाँ, साहस की कहानियाँ, जासूसी कहानियाँ, वैज्ञानिक कहानियाँ, मनोवैज्ञानिक कहानियाँ, परीकथाएँ, लोककथाएँ, पशु-पक्षी संबंधी कहानियाँ, उपदेशात्मक ज्ञान-कथाएँ, बाल-जीवन की कहानियाँ, सांस्कृतिक कहानियाँ, मुहावरों की कहानियाँ, गीत-कथाएँ आदि के रूप में वर्गीकरण किया है।

ऐतिहासिक बालकहानियों में घटनाओं और व्यक्तियों के जीवन-प्रसंगों में कल्पना द्वारा कुछ परिवर्तन करते हुए रोचक और मार्मिक ढंग से चित्रण किया जाता है। इसमें ऐसी घटना का चयन होता है, जिससे बालक-पाठकों या श्रोताओं पर अच्छा प्रभाव पड़े। हिंदी बाल-कहानियों में इतिहास-पुरुषों की वीरता, उनके पराक्रम और साहस का वर्णन हुआ है। राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिंद' की कहानी 'राजा भोज का सपना' चर्चित कहानी रही थी। वर्तमान समय में अनेक ऐतिहासिक कहानियाँ प्रकाश में आईं। धर्मपाल शास्त्री की 'भारत के साहसी वीरों की गाथाएँ', जहूरबख्श की 'धन्य ये बेटियाँ', 'नर्मदाप्रसाद खरे की 'वीरों की कहानियाँ' तथा 'भारत की विभूतियाँ' उल्लेखनीय हैं। 'मेरे देश की महान नारियाँ' (स्नेहलता पाठक), 'महानायक मंगल पांडे' (हरिकृष्ण देवसरे), 'आजादी की कहानी' (विभा देवसरे) आदि पुस्तकें प्रभात प्रकाशन दिल्ली से प्रकाशित हुई हैं। अपने देश का प्रागैतिहासिक विवरण पुराणों में सुरक्षित है। पुराणों के कथानकों पर आधारित अनेक कहानियाँ बच्चों में त्याग, विनयशीलता, सेवा, प्रेम आदि के गुण विकसित करने के लिए लिखी गईं। 'देशभक्त बाल शतमन्यु' कहानी कुँवरानी सरला जैन ने लिखी, जो 'पराग' (मार्च, 1963) में प्रकाशित हुई थी। 'बालदर्शन' आदि पत्रिकाओं तथा समाचार-पत्रों में बच्चों के कालम में पौराणिक कहानियाँ प्रकाशित हो रही हैं।

शौर्य एवं वीरतापरक कहानियों में बालबंधु ने 'बहादुर दमकल वाले और मौसी', दयाशंकर दत्ता ने 'बहादुर राजकुमार', नंदकुमार देव ने 'वीर बच्चों की कहानियाँ, कामताप्रसाद ने 'वीर बालक', नर्मदाप्रसाद मिश्र ने 'शिकारी मोटा', व्यथित हृदय ने 'शूरवीरों की कथाएँ', रामदहिन मिश्र ने 'साहस के पुतले', मुरारीलाल ने 'साहसी बच्चे', प्रकाशचंद्र श्रीवास्तव ने 'साहस की कहानियाँ' आदि कहानियाँ लिखीं। संजीव गुप्ता की 'साहस बाल कथाएँ', मनोनीत सिंह की 'प्रेरक बालकथाएँ, श्यामचंद्र की 'उठो हिम्मत करो' आदि सद्यः प्रकाशित पुस्तकें हैं, जो बालकों के लिए उपयोगी हैं। जासूसी कथा-कहानियों का प्रचलन अंग्रेजी साहित्य में अधिक था। हिंदी में अपेक्षाकृत कम। डॉ० श्रीप्रसाद का कथन है 'जहाँ तक मनोरंजन, साहस-बुद्धि, बुद्धि-विकास और घटनाचक्र के प्रति औत्सुक्य का प्रश्न है, जासूसी साहित्य अनुचित नहीं, पर जब भय, आतंक, रोमांच, अश्लीलता, हत्या और मन को कमजोर बनाने वाले रहस्य-प्रसंगों का वर्णन किया जाने लगता है, तब यह साहित्य त्याज्य हो जाता है।'¹ 'नंदन' पत्रिका का नवंबर, 1979 का अंक जासूसी कहानी अंक छपा था। उसमें शैल तिवारी की कहानी 'मुक्ति के लिए' प्रकाशित हुई थी। पराग पत्रिका में अक्टूबर 1979 में मालती जोशी की कहानी 'सी०आई०डी० नं० 000' प्रकाशित हुई थी। पत्र-पत्रिकाओं में यदा-कदा बाल-जासूसी कहानियाँ प्रकाशित हुआ

करती है।

हिंदी में अब वैज्ञानिक बालकहानियाँ भी लिखी जा रही हैं। डॉ० हरिकृष्ण देवसरे का कथन है कि 'विज्ञान के युग में बच्चों को आरंभ से ही विज्ञान की बातों की जानकारी देना उपयोगी होता है। ऐसी कथाओं से बच्चों की कल्पना विकसित होती है और उसी के ही आधार पर बड़े होकर वे कुशल वैज्ञानिक बनते हैं। विज्ञान की कहानियाँ लिखने का काम मुख्यतः स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद ही आरंभ हुआ।' वैज्ञानिक कहानियाँ लिखना अधिक कठिन कार्य है, इसीलिए कतिपय कहानीकारों ने ही इस कोटि की कहानियाँ लिखी हैं। डॉ० गोरखप्रसाद ने 'आकाश की सैर', राजेश दीक्षित ने 'जलयान की कहानी', कुँवर सुरेशसिंह ने 'जीवों की कहानी' श्रीनाथ सिंह ने 'पृथ्वी की कहानी', तारकेश्वर वर्मा ने 'बच्चों का बायस्कोप' आदि वैज्ञानिक कहानियाँ लिखीं। 'राजपाल एंड संस प्रकाशन, दिल्ली से 'ज्ञान-विज्ञान' पुस्तकमाला का प्रकाशन हुआ। 'प्रभात-प्रकाशन' तथा अन्य प्रकाशनों द्वारा सद्यः प्रकाशित पुस्तकों में 'मैं हूँ कंप्यूटर', 'मैं हूँ वायुयान', 'मैं हूँ इलेक्ट्रॉनिकी', 'मैं हूँ पानी', 'मैं हूँ हवा' (तुरान लाल पाठक), 'मैं हूँ रोबोट' (राजीव गर्ग), 'प्रवासी जीव-जंतु (सुनीलकुमार शर्मा), 'वैज्ञानिकों का बचपन' (शुकदेव प्रसाद), 'प्रसिद्ध वैज्ञानिक और उनके आविष्कार' (सुरजीत) प्रमुख हैं।

परियों तथा परीलोक के बारे में हिंदी में अनेक कहानियाँ प्रचलित हैं। डॉ० हरिकृष्ण देवसरे लिखते हैं, 'परियों के बारे में विभिन्न मान्यताएँ तथा कल्पनाएँ भी बहुत रोचक हैं। भारतीय बच्चों के मन में एक ऐसा प्राणी है, जो माँ की तरह स्नेह, बहन की तरह खिलवाड़ तथा देवियों रक्षा करनेवाली होती है। सुंदरता में भी भारतीय बच्चों की परियाँ अद्वितीय होती हैं, लेकिन विदेशों में परियों की कल्पना इतने सुंदर रूप में नहीं हुई। वहाँ डायिनी, राक्षसिनी, चुड़ैल, जादूगरनी आदि सभी को 'फेयरी' अर्थात् 'परी' कहते हैं। हमारे यहाँ स्त्रियों के रूप में ही परियों की कल्पना की गई है, किंतु विदेशों में राक्षस, जादूगर, देव आदि भी 'फेयरी' की कोटि में आते हैं और उनके लिए पुल्लिंग प्रयोग किया जाता है।'³ हिंदी की बाल-पत्रिकाओं 'नंदन', 'पराग' आदि में परियों की कहानियाँ निकलती रही हैं। परीकथाओं का विशेष महत्त्व है। 'नंदन' बाल-पत्रिका जून, 1967 का अंक 'परीकथा अंक' था।

लोकसाहित्य में लोककथा एक प्रमुख विधा है। लोककथाएँ ग्राम्यक्षेत्रों की विभिन्न बोलियों में प्रचलित थीं। बाद में श्रव्य परंपरा से साहित्य में इनको सम्मिलित किया गया और खड़ीबोली हिंदी में इनका लेखन खूब हुआ। डॉ० श्रीप्रसाद ने लोककथाओं के संदर्भ में लिखा है, 'हिंदी बाल-पत्रिकाओं के लिए लोककथाएँ प्रारंभ से ही आधारभूत सामग्री रहीं। लोककथाओं का सबसे अधिक उपयोग बालसाहित्य के रूप में ही हुआ। ...लोककथाओं का मूल उद्देश्य आदर्शों की स्थापना होता है। अन्याय और अनीति से बचना तथा नीति के मार्ग का अनुसरण करना। यह काव्य-सत्य ऐसी कथाओं के माध्यम से प्रतिपादित होता है। हिंदी में सृजित लोककथाओं का उद्देश्य इसी सत्य की स्थापना रहा है— लोककथाएँ, चाहे पारंपरिक रही हों, चाहे मौलिक।'⁴ लोककथाएँ विभिन्न बाल पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई हैं। सोमावीरा की लोककथा 'चाँदी की मुस्कान', 'पराग' जून 1965 में छपी थी। विश्वंभर सहाय प्रेमी, राजबहादुर सिंह, शंभूदयाल सक्सेना, नारायण व्यास आदि रचनाकारों ने पौराणिक काल्पनिक संदर्भों में लोककथाओं की रचना की।

‘पंचतंत्र’, ‘हितोपदेश की कथाएँ’ तथा ‘जातक कथाएँ’, पशु-पक्षियों के माध्यम से वर्णित हुई। हिंदी में बालकों के लिए इनसे ली गई अनेक कहानियाँ प्रचलित हैं। इन कथाओं की पात्र-योजना में पशु-पक्षियों को पात्रों के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। मौलिक रूप से भी कल्पनात्मक कहानियाँ लिखी गई हैं। रामनारायण उपाध्याय, भगतसिंह, जहूरबख्श, श्रीकृष्ण गुप्त, शारदा मिश्र, देवीदयाल चतुर्वेदी, मोहनलाल गुप्त आदि ने पशु-पक्षियों से संबंधित कहानियाँ लिखीं। बाल-पत्रिकाओं में इस प्रकार की कहानियाँ सर्वाधिक छपीं। ‘चंचल बंदरिया (आशारानी बहोरा), ‘नीरा की चिड़िया’ (शिवमूर्ति सिंह ‘वत्स’) आदि कथाएँ भी अत्यंत रोचक हैं। उपदेशात्मक कहानियों का प्राचीनकाल से ही अधिक महत्त्व रहा है। बालजीवन को सुव्यवस्थित करने के उद्देश्य से, उनमें मानवीय मूल्यों के विकास के उद्देश्य से उपदेशात्मक ज्ञान-कथाएँ प्रचलित हुईं। संस्कृत साहित्य में ‘पंचतंत्र’ आदि की कहानियाँ इसी श्रेणी की हैं। हिंदी में द्विवेदीयुग से ही उपदेशात्मक कहानियों की परंपरा विकसित हुई। रामबहादुर सिंह की ‘भागवत की कहानियाँ’ का कथ्य उपदेशात्मक है। सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन ने अनेक बोध-कथाएँ प्रकाशित कीं। हरिकृष्ण देवसरे की ‘शिक्षाप्रद कहानियाँ’ प्रकाशित कराईं।

हिंदी साहित्य निकेतन प्रकाशन के माध्यम से, वर्तमान में डॉ० गिरिजशरण अग्रवाल ने बाल-साहित्य का सर्वाधिक प्रकाशन किया है। उन्होंने स्वयं बाल नाटक, कहानी, कविता आदि की रचना की है तथा अन्य बालसाहित्यकारों के ग्रंथों का प्रकाशन किया है। उनके प्रकाशन से प्रकाशित गीतिका गोयल की ‘चुनमुन की कहानियाँ’ पुस्तक पुरस्कृत भी हो चुकी है।

हसन जमाल छीपा, मालती जोशी, शीला इंद्र, यादराम रसेंद्र, मस्तराम कपूर ‘उर्मिल’ आदि कहानीकारों ने बालजीवन से संबंधित अनेक कहानियों की रचना की। हिंदी में भारतीय जीवन के तिथि, पर्व, ऋतु, उत्सव, त्योहार, देवपूजा, प्रकृति के सौंदर्य आदि से संबंधित अनेक बाल-कहानियाँ हैं। भारत वर्ष की सांस्कृतिक चेतना से बालकों को जोड़ने के लिए इन कहानियों की रचना की गई। धर्म, अध्यात्म तथा दर्शन-पक्ष के सरल-सुबोध स्वरूप की रोचक ढंग से झलक इन कहानियों में देखने को मिलती है। राष्ट्रीय एकता, राष्ट्रीयबोध, मानवीय नैतिक मूल्यबोध आदि इन कहानियों के प्रयोजन होते हैं। लगभग सभी बालकथाकारों ने बाल-सांस्कृतिक कहानियाँ लिखीं। हरि कश्यप की पुस्तकें— ‘मेरे देश के ऋषि मुनि’, ‘मेरे देश के संत महात्मा’, ‘मेरे देश के मंदिर’, सांस्कृतिक धरातल पर लिखी गईं। विजयकुमार ने ‘सांस्कृतिक पहेलियाँ’ लिखीं। अमितकुमार मिश्र की ‘हमारे जीवनमूल्य’, राजेंद्र की ‘सर्वधर्म समभाव’, श्यामचंद्र कपूर की ‘अपनी धरती अपना देश’ तथा ‘मित्रता की सच्ची कहानियाँ’ इसी कोटि की हैं। बालकों की अभिरुचि गीतकथाओं में अधिक होती है। वे ऐसे गीतों को अत्यंत शीघ्र कंठस्थ कर लेते हैं। हिंदी में राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने बालकों के लिए गीतकथाएँ लिखी थीं, जो ‘बालसखा’ में प्रकाशित हुआ करती थीं। बाद में निरंकारदेव सेवक, चंद्रपालसिंह यादव ‘मयंक’, डॉ० हरिकृष्ण देवसरे, विनोदचंद्र पांडेय ‘विनोद’, शकुंतला सिरोटिया, डॉ० राष्ट्रबंधु, नरेशचंद्र सक्सेना ‘सैनिक’ डॉ० मिथिलेश दीक्षित आदि ने कथात्मक गीत लिखे, जो पुस्तकों में तथा पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए। निरंकारदेव सेवक ने विभिन्न देशों की लोककथाएँ भी गीतात्मक शैली में लिखी हैं, जिनमें जर्मनी की लोककथाएँ बहुचर्चित हुईं। नरेशचंद्र सक्सेना ‘सैनिक’ की ‘बौड़म बंदर’ तथा ‘करामाती गधा’ बालकोपयोगी अच्छी

गीतकथाएँ हैं। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

दो दिन में ही चिड़ियों ने आ, यहाँ मचाया इतना शोर,
पके-पके फल कुतर-कुतरकर, थे फैलाते तोता-मोर।
बंदर उन्हें भगाते रहते, पेड़ों पर चढ़ करते चोट,
पक्षी भी चालाक बहुत थे, छिप जाते पत्तों की ओट।⁵

डॉ० मिथिलेश दीक्षित की 'जंगल की रानी' गीत-कथा भी लोकप्रिय हुई—
'सिंह को छलकर पूसी रानी करती है सारी मनमानी,
दूर बैठकर गुराती है, गाली दे-दे चिल्लाती है,
बैठ बगल में दाँत-निपोरे, पूँछ हिला बलि-बलि जाती है।' ⁶

आशारानी ब्होरा ने 'गीत-गीत में सुनो कहानी' पुस्तक लिखी। हिंदी में यह विधा सर्वाधिक लोकप्रिय हुई।

आजकल हिंदी-कहानियों में भी फंतासी का प्रयोग होने लगा है। अदृश्य को दृश्य बनाना ही फंतासी है। डॉ० हरिकृष्ण देवसरे ने लिलियन स्मिथ की पुस्तक 'एक क्रिटिकल एप्रोच टू चिल्ड्रेन्स लिट्रेचर' से उद्धृत करते हुए फंतासी का स्वरूप विवेचन इस प्रकार किया है— 'फंतासी सार्वलौकिक सत्य का लाक्षणिक ज्ञान कराने का माध्यम मानी गई है। यह एक ग्रीक शब्द है और इसका अर्थ है— किसी वस्तु को जो अदृश्य है, दृश्य बना दिया जाए। दूसरे शब्दों में फंतासी किसी वस्तु के ज्ञान की मानसिक पकड़ भी कही जा सकती है। यह कल्पना की वह क्रिया है, जो किसी अमूर्त वस्तु की क्रिया, स्थिति, रूप तथा आकार का बोध कराती है। ज्ञान की सीमा में कोई दृश्य वस्तुओं के आधार पर अमूर्त वस्तुओं को प्रस्तुत करने वाली क्रियाशील कल्पना का परिणाम फंतासी मानी गई है।'

फंतासी और कल्पना में अंतर है। डॉ० देवसरे के अनुसार कल्पना विगत-प्रत्यक्ष ज्ञानात्मक अनुभवों का बिंबों और विचारों के रूप में विवरणात्मक स्तर पर रचनात्मक नियोजन है। लेकिन यह एक अत्यंत जटिल मानसिक प्रक्रिया होने के कारण दो रूपों में विभाजित कर दी गई है— एक तो वह, जिसमें मानसिक उड़ानें आती हैं और मनुष्य काल्पनिक जगत् का निर्माण करता है, दूसरी वह, जो सृजनात्मक होती है, जिसके अंतर्गत साहित्यिक, वैज्ञानिक तथा कलात्मक सृजनशील विचारों को जन्म मिलता है। फंतासी इस दूसरे रूप में सत्य के अधिक निकट होती है। इसीलिए इसका स्वतंत्र अस्तित्व हो जाता है।⁸ इसमें केवल कल्पना ही नहीं होती। बल्कि लेखक का बाह्य ज्ञान तथा दूसरों के समक्ष अपने विचारों को प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त करने के लिए सशक्त भाषा-माध्यम भी होता है। इसीलिए फंतासी का लेखक बहुत कुछ आविष्कारक जैसा काम करता है। फंतासी वास्तव में वह शक्ति है जो मूर्त के आधार पर उत्पन्न अमूर्त को पुनः मूर्त रूप में बदलने की प्रेरणा दे।

हिंदीकाव्य और काव्यगाथाओं में 'चंदामामा' सर्वाधिक पुरानी फंतासी है। हिंदी के लगभग सभी बालकथाकारों ने चंदामामा से संबंधित कथा-फंतासी का लेखन किया है।

इस प्रकार हिंदी बालकहानी साहित्य की अत्यंत समृद्ध परंपरा है। विभिन्न संचार माध्यम, सूचना प्रौद्योगिकी, अत्याधुनिक प्रकाशन-मुद्रण की व्यवस्थाएँ, विज्ञान के विस्तृत

आयाम आदि ने इस विधा को आकर्षक, रोचक, द्रुतगामी और प्रभावशाली बना दिया है।

संदर्भ

1. हिंदी बालसाहित्य की रूपरेखा, डॉ० श्रीप्रसाद, पृ० 218
2. हिंदी बालसाहित्य : एक अध्ययन, डॉ० हरिकृष्ण देवसरे, पृ० 273
3. वही, पृ० 276-77
4. हिंदी बालसाहित्य की रूपरेखा, डॉ० श्रीप्रसाद, पृ० 225
5. बौद्ध बंदर, नरेशचंद्र सक्सेना सैनिक, पृ० 16
6. अस्मिता, डॉ० मिथिलेश दीक्षित, पृ० 31
7. हिंदी बालसाहित्य : एक अध्ययन, डॉ० हरिकृष्ण देवसरे, पृ० 280
8. वही, पृ० 280-81

□ डी-73, विश्व बैंक कॉलोनी
कानपुर (उ०प्र०)

निष्पक्ष कलम की धनी : डॉ० मिथिलेश दीक्षित नरेशचंद्र सक्सेना 'सैनिक'

मानवीय प्रकृति का मूल आधार है— अंतःकरण की पवित्रता, भावनाओं की निर्मलता और सद्बिचरों के अनुरूप जीवन को ढालना। ये गुण जब साहित्यकार के साथ तदाकार कर लेते हैं, तो उसका साहित्य लोकनायक तुलसी की भाँति (सुरसरि सम सब कहँ हित होई) स्तुत्य, पूज्य और ग्रहण करने योग्य हो जाता है। देश में मीडिया और पाश्चात्य प्रभाव ने भी विसंगतियाँ पैदा कर दी हैं और उनके प्रभाव से बचाने के लिए साहित्य-जगत् में जो भी प्रयास हो रहे हैं, उन साहित्यकारों में एक सशक्त कड़ी के रूप में उभरी हैं— डॉ० मिथिलेश दीक्षित— संघर्षों और संघातों से टकराता एक ऐसा व्यक्तित्व, जिसके स्वभाव में जैसी कोमलता और निर्मलता है, वैसी ही प्रांजलता। जब बड़वानल प्रज्वलित होता है, तो उनकी लेखनी अंगार उगलती है और जब नैतिकता के समतल धरातल पर चलती है, तो शारदीय निशा में प्रवहमान गंगा की धारा की तरह सृजन का मार्ग प्रशस्त करती है। कभी-कभी जब मैं उनसे मिलता हूँ, तो मुझे लगता है कि साहित्य उनका शरीर है— संस्कृति उनके प्राण, एक सुसंस्कृत सरल, सहज, भारतीय महिला, किंतु इंसानियत से भरपूर महामानवी।

डॉ० मिथिलेश ने बहुत सारा लिखा है— गद्य में निबंध, समीक्षा, संस्मरण, रेखाचित्र भेंटवार्ता, काव्य में गीत-कविता से नवगीत, क्षणिकाएँ, अद्यतन-हिंदी साहित्य में 'हाइकु' विधा तक, किंतु प्रकाशित ग्रंथ एक दर्जन तक ही हैं। देश की मान्य साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं में उनकी रचनाएँ आदरपूर्ण स्थान पाती हैं, सराही जाती हैं तथा उनकी साहित्य-सर्जना के लिए उन्हें अनेक पुरस्कार और सम्मान भी मिले हैं। उन्होंने जो भी लिखा है, उपादेय है, मानवीय मूल्यों से ओतप्रोत और समाज को संस्कार देनेवाला है। वे आध्यात्मिक कवयित्री हैं। सत्य साई बाबा के चरणों में समर्पित सेविका हैं। 'अक्षत' काव्य-संग्रह की भूमिका में वे लिखती हैं—

'सत्य, धर्म, शांति, प्रेम और अहिंसा— पाँच ऐसे आधार स्तंभ हैं, जिन पर संपूर्ण मानवता का उदात्त और विशाल भवन स्थित है। ऐसे महनीय तत्त्व की कृपा से व्यक्ति में ऐसे भाव जाग्रत होने लगते हैं, जो करुणा और आनंद की भाषा का सृजन करते हैं। बाबा के भक्ति-समुद्र की कुछ बूँदों की प्राप्ति मुझे भी हुई है— जिसके सत्य की झलक संकलन की रचनाओं में विद्यमान है।'

मानवीय आदर्शों के प्रति कृतसंकल्प मिथिलेश जी की एक ही आकांक्षा है—
जाति-वर्ग की खाई भर
मानवता भू समतल कर दो,
सिक्त करो आनंद-वारि से
शुष्क धरा उर्वर कर दो।
सत्य, धर्म और शांति-प्रेम का

भाव बता दो हे साई,
दीन-दुःखी की सेवा का
सन्मार्ग बात दो दे साई।¹

वस्तुतः विचार एक ऐसा दीपक है, जो हमारे आचरण को राह दिखाता है। यदि विचार का दीपक बुझा, तो आचार (आचरण) भी अंधा होकर भटकता रहेगा। अतः आवश्यक है कि सद्विचार व्यक्ति के व्यवहार में ढलकर अपनी सत्यता को प्रमाणित करे। डॉ० मिथिलेश का समग्र जीवन इन्हीं सद्विचारों की आधारभूमि पर खड़ा है। उनका मानना है, सद्विचारों के बीज बोने पर जो अंकुर फूटते हैं, वे एक दिन वटवृक्ष बनते हैं, तपती दोपहरी में भी बटोही को छाया देकर शीतलता प्रदान करते हैं। वे लिखती हैं—

मेरा रोपा हुआ पौधा है,
मुझे न सही
कल, औरों को छाँह देगा।²

डॉ० मिथिलेश ने विचारों को 'बम' से भी अधिक शक्तिशाली माना है, किंतु विचारों को व्यक्ति के आचरण में उतरना चाहिए। इससे भिन्न विचार का कोई प्रयोजन नहीं है। 'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः' के अनुसार चरित्र-संकट से उबरने के लिए सद्विचार को आचरण में उतारना आवश्यक है। कवयित्री की चेतना और प्रेरणा उच्च आदर्शों के प्रति आस्थावती है और श्रद्धाशील बनकर वे मानव-कल्याण के लिए अग्रसर हैं। 'वरदान' शीर्षक एक रचना में वे प्रभु से याचना करती हैं— **मृदु-मधुर बने/हर भाव लहर/इस शुभ दिन पर दो/हे प्रभुवर! /विकसें डर की उर्मियाँ विमल/पावन कर दें/यह जगती-तला।**³

साहित्य में लोक-मंगल और समष्टि-हित का विचार ही मानवता का पर्याय है। यह मानवतावादी चिंतन केवल भारतीय साहित्य में ही नहीं, अपितु पाश्चात्य साहित्य में भी अपनी प्रतिष्ठा रखता है। प्लेटो, अरस्तू बर्ड्सवर्थ, मैथ्यू अर्नाल्ड प्रभृति साहित्य-मनीषियों ने भी मानवीय आदर्शों, नैतिकता के सिद्धांतों और मानव-जीवन के मूल्यों— करुणा, दया, प्रेम, सत्य, अहिंसा आदि को साहित्य के लिए अनिवार्य बताया है। हिंदी साहित्य के विद्वान डॉ० हजारी प्रसाद दिवेदी ने 'साहित्य सामाजिक मंगल का विधायक है' कहकर तथा राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने 'उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए' कहकर साहित्य का मूल्यांकन किया है। डॉ० मिथिलेश दीक्षित समाज में व्याप्त विसंगतियों को देखकर क्षुब्ध हैं और चाहती हैं कि जहाँ दुःख, पीड़ा, दैन्य, गरीबी और नफरत है, वहाँ जाकर कलमकार को परस्पर प्रेम से रहने, परस्पर जोड़ने का कार्य करना है। निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

जिन घरों में दुःख के बादल उमड़ते
आँसुओं से उमड़ती जलधार में
तूफान की आँहों में जलते दीप बुझते
उन घरों में प्रेम के दीपक जलाओ
धूप से सुरभित समीरण को बहाओ।⁴

साहित्य में नैतिकता के अंतर्गत 'प्रेम' की प्रतिष्ठा सर्वत्र रही है। कवयित्री ने अति लघु विधा हाइकु के संग्रह में भी अनेक हाइकु इसी प्रेम की प्रतिष्ठा में लिखे हैं— देखिए निम्न

हाइकु—इस तन में/प्रेम वारिधि बहे/प्रभु की ओर।⁵ पकड़ लेते/एक दूजे की बाँह/धूप और छाँह।⁶

विश्व-मनीषा ने व्यक्ति और समाज में 'सत्य' की शक्ति को पहचाना, उसकी सामर्थ्य को समझा तथा समष्टि के हित के लिए उसकी भूमिका को स्वीकार किया। छायावादी कविवर पंत ने 'पर मानव को इष्ट रहेंगे सत्य, अहिंसा निश्चय' कहकर रेखांकित किया। डॉ० मिथिलेश दीक्षित ने भी प्रभु में चिंतन, मनन, आराधन को ही सत्य माना है और उसी सत्य के प्रति समर्पण का भाव व्यक्त करते हुए वे कहती हैं—तुम रहते तो, हल्की/बिना तुम्हारे भारी/कैसे बोझ उठाऊँ/खुद का/बिना तुम्हारे इस जीवन का।⁷

कवयित्री के हृदय में करुणा का अथाह सागर हिलोरें मार रहा है। दीन-दुःखी, दलितों की दशा देखकर उसका करुणा-भरा हृदय दर्द से व्यथित हो उठता है। यही करुणा तो मानवता की जननी है। मिथिलेश जी के हृदय में भी करुणा की विचार-स्रोतस्विनी प्रवहमान् है। दीन-दुखियों की दशा देखकर उनका विद्रोही हृदय रो पड़ता है। चीत्कार करता हुआ हृदय व्यक्त करता है उनकी दुर्दशा—

सत्य की पीठ पर कोड़ों की चोटें!
छलछलाती आँखें और छिलछिलाता खून
चोटों की स्याही, होंठ सिली चुप्पी
निर्बल की चीखें
ईमान के अंगारों पर झुलसी हुई लाशें
अनजानी, गंदी
बेमानी ज़िंदगी।⁸

कवयित्री के हृदय में करुणा का संसार वास कर रहा है। उसे आभास होता है मानो सारे विश्व की पीड़ा खरीदकर उसने अपने में समाहित कर लिया है। वह कहती है—

इस समूची ज़िंदगी को दर्द ने खरीदा है
इसकी मर्जी के खिलाफ़ हिल नहीं सकती,
दर्द की उँगली उठती है वृक्ष के नीचे
खेत की मेड़ पर, कभी फुटपाथ की ओर
झुग्गी-झोपड़ियों की टूटती खपच्ची के सहारे
फूटे भाग्य की धरोहर सजाए
बीमारों की ओर।⁹

समाज में सब समान हों, सभी को समान सुविधाएँ मिलें, उनमें कोई अभाव न हो, यही तो सच्ची मानवता है। डॉ० दीक्षित का संवेदनशील हृदय कह उठता है— एक सा हक़ हो/सभी को ज़िंदगी का/बात तब/पाबंगी ऐसा करे।¹⁰

पीड़ा से कराहता हृदय जब समाज की क्रूरता में पिसते हुए दीन-हीन-दलितों को देखता है, तो वे चेतावनी देती हैं—

मेरी पीड़ा जिस दिन प्राणों तक पहुँचेगी
उस दिन समझो उर विदीर्ण होगा धरती का,

प्रलय मचेगा इस भूतल पर।¹¹

डॉ० मिथिलेश के जीवन में भी अभाव रहे, संघर्ष और संघात रहे। वे दीन-दुखियों के दुख-भरे आँसुओं को पोंछकर राहत महसूस करती हैं। किसी की पीड़ा-भरी कराह उनके हृदय की ही टीस बन जाती है और दुख की गहराइयों में डूबकर भी उनके मुख पर साहस भरी मुस्कान दिखाई देती हैं। तब स्मरण आता है उनका पुरुषार्थ, पुरुषार्थ ही तो मानव-जीवन का संबल है।

आज का मानव अभाव और शोषण से मुक्ति चाहता है। उसका आत्मबल अँगड़ाई ले रहा है और जीवन की नई परिभाषा गढ़ने की तैयारी में लगा है। पुरुषार्थ की इस भाषा को मिथिलेश जी ने समझा है और 'अस्ति का संभ्रम' शीर्षक कविता में लिखा है—

काश, इस धरती की सौंधी गंध से तुम
ले सको ऊर्जा किसी निर्माण की
तुम नाश का व्रत तोड़
पीड़ा हर सको इंसान की
यह जगत् निश्चित ही बनेगा
शांति का निलयम्।¹²

आज मनुष्य के जीवन में ही संघर्ष नहीं, बल्कि संपूर्ण राष्ट्र का जीवन विसंगतियों की आग से सुलग रहा है। मानवीय आस्थाएँ टूट रही हैं, राजनीतिक आपाधापी के साथ शासन में बढ़ता भ्रष्टाचार, पदलोलुपता, अर्थ-पिपासा आदि दुष्प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन, पूँजीवाद और शासन के बीच राजनीतिक तालमेल ने कवयित्री डॉ० दीक्षित के मन में क्षोभ को जन्म दिया है। उन्होंने मानवता-विरोधी ऐसे तत्त्वों पर करार प्रहार किए हैं और उन्हें मानव का शत्रु कहा है। कवयित्री ने क्षणिकाओं के माध्यम से शासन और पूँजीपतियों पर कठोर प्रहार किए हैं। प्रस्तुत है एक क्षणिका—उल्लू माली बन गए हैं/बाज भी गाने लगे/मीठे तराने कोयलों के।¹³

यहाँ पूँजीवादी व्यवस्था में शोषक की मनोदशा और उसके द्वारा होने वाले शोषण पर व्यंग्य करते हुए कवयित्री का कंठ रोष से मुखर हो उठा है—इंसान के फौलाद के/सीने में अब रहने लगा शैतान/ले हाथों में खंजर/पत्थरों का वह पुराना युग/कभी का जा चुका है।¹⁴

जीवन के संघर्ष, वि श्रृंखलाएँ और समाज में टूटते हुए मानवीय आदर्श आज चुनौती के रूप में हमारे सामने हैं। जिंदगी भार बन रही है, सुख, आनंद, उत्साह समाप्त हो रहा है और समाज संवेदनाशून्य होकर केवल अपने तक ही सिमट गया है। कवयित्री डॉ० दीक्षित का संवेदनशील व्यक्तित्व द्रवित है, इस दशा के देखकर। उनकी गज़लों में मानवीय वेदना मुखर हुई है। नवगीत शैली में लिखे कितने ही गीत उनकी अंतःपीड़ा को व्यक्त करते हैं। देखिए एक गज़ल की निम्न पंक्तियाँ—

कितना सता रहे हैं हैवान मिल के सारे
चुपचाप सहती जाऊँ तो भी दरिंदगी होगी।

किंतु कवयित्री के हृदय में अनंत जिजीविषा है और वह ऊर्जा-भरे कंठ से कह उठती हैं—

रोशन हमेशा होगी उस नूर से ये शम्मा
आँधी के दिए जैसे मेरी न जिंदगी होगी।¹⁵

अपनी दैहिक नश्वरता को स्वीकारते हुए भी मानव पुरुषार्थ करता है। यह पुरुषार्थ जब

लोककल्याण के लिए, परहिताय और सर्वसुखाय होता है, तब मानवता फूलती-फलती है, समृद्ध बनती है और पुरुष देवता की संज्ञा पाता है। आज बदलते युग का मानव इस तथ्य को पहचाने और 'सर्वभूतेषु हिते रतः' की भावना से कार्य करे— यह भावना समाज में जाग्रत करना ही साहित्यकार का दायित्व है। कवयित्री डॉ० दीक्षित ने सृजन के ऐसे ही गीत गाए हैं। उनके गीत लोकजीवन में मानवीय ऊर्जा का स्पर्दन करते हैं। देखिए एक कविता की निम्न पंक्तियाँ—

सृजन के गीत
तेरा ध्यान कर, ओ मीत
लिखती जा रही हूँ,
अमरता की कसौटी पर खरी उतरूँ अनिश्चित है,
प्रखरता की बुलंदी को भी छू लूँ यह अनिश्चित है,
मगर नैराश्य की लहरों को पल में शांत कर, ...
गहन करुणा में सजा आनंद,
अमृत बिंदु पी ओ मीत
खिलती जा रही हूँ।¹⁶

साहित्यकार 'सत्यं शिवं सुंदरम्' का उपासक होता है। इसलिए उसकी दृष्टि व्यापक और अध्ययन सर्वांग होना चाहिए। ऐसा होने पर ही उसके चिंतन, मनन और लेखन का सार्वजनीन और सार्वभौम होना संभव है। डॉ० मिथिलेश जी की दृष्टि व्यापक और कार्यक्षेत्र बहुआयामी है। वे एक ओर तो साहित्य-सर्जकों के मध्य चिंतन-चर्चा करती हैं, साहित्य में वे मानवीय आदर्शों की स्थापना के लिए आकुल और प्रयासरत हैं, वही उनका कार्यक्षेत्र भी दीन दुखी-दरिद्रों के बीच सेवा करना, रोगी-अपंग, निराश्रितों के आँसू पोंछना भी है। श्री सत्य साई बाबा समिति के माध्यम से आपके अपने सेवा-क्षेत्र को अनुप्राणित किया है। वे इस कार्य को एक आध्यात्मिक कार्य मानती हैं और सेवा को मानव का धर्म कहकर परिभाषित करती हैं।

यह सत्य है कि साहित्य का धर्म मानवीय आदर्शों— करुणा, प्रेम, दया, सत्याचरण आदि की स्थापना करके एक स्वस्थ और प्राणवान जागरूक समाज की स्थापना है। डॉ० दीक्षित का समग्र लेखन इस दिशा में किया गया प्रयास है। यदि वे हँसती हैं तो उनके सामने सत्य का प्रकाश है, क्षोभ प्रकट करती हैं तो भी यथार्थ के दर्शन करके समाज की विसंगतियों को देखकर और यदि कभी पीड़ा-भरी कराह-सी निकलती है, तो भविष्य के अँधेरे पक्ष को देखकर। वे एक सच्ची साहित्यधर्मी हैं। एक निष्पक्ष कलम की धनी। उनका हर क्षण मानवीय जीवनमूल्यों के चिंतन और उनकी स्थापना में लगा है। एक गीत की निम्न पंक्तियाँ देखिए—

सत्यता की तूलिका से, प्रेम के रंगों में,
अनुपम कर्म का आचार लाओ,
धर्म की राहों पर अपने पग बढ़ाओ,
साई के संसार का आनंद पाओ।
दिव्य सुंदर गान गा मंगल मनाओ
प्रणव के अक्षर बना हलचल जगाओ।¹⁹

कवयित्री के आराध्य श्री साई बाबा हैं। उन्हीं के श्रीचरणों के प्रसाद का प्रतिफल है

उनका समग्र लेखन और इसीलिए उन्होंने अपनी हर कृति में उनका स्मरण किया है, श्रद्धा और समर्पण के भाव व्यक्त किए हैं। अपने 'हाइकु' जैसी लघुसुविधा में भी स्थान-स्थान पर उन्हें स्मरण करती जाती हैं, जिससे कहीं हाथ से भक्त का भगवान छूट न जाए। देखिए निम्न हाइकु—

केवल तुम
खुशबू के रूप में
हो मेरे संग।
तुम ही हो माँ
तुमसे ऊँचा कौन
नहीं उपमा।
यदि तुम हो
तो स्वर्ग नरक की
चाह नहीं है।

साहित्य में मानवीय मूल्यों की चर्चा, उसका विस्तारीकरण, विश्वजनीन और सार्वभौमिक और सर्वमान्य दृष्टि है। इसे कभी नकारा नहीं जा सकता। यदि मनुष्य समाज में रहेगा, धर्मों का पालन करेगा और एक मान्य आचार-संहिता को अपनाएगा, तो साहित्य को उनसे कैसे अलग किया जा सकता है? साहित्य तो मानव के आत्मोद्धार का मार्ग प्रशस्त करता है और इसीलिए कवयित्री डॉ० मिथिलेश ने मानवीयता को प्रभु-सेवा की संज्ञा दी है। वे कहती हैं—मेरे शब्दों में/शब्दायित हुए हैं/प्रभु के भाव।²⁰

सत्य तो यह है कि कोई विचार, जो उपादेय है, लोकमंगल के हित में है, और शुद्ध अंतःकरण से लोककल्याण के लिए है, तो उसे साहित्य में स्थान मिलना चाहिए। डॉ० मिथिलेश एक विचारवान महिला हैं, विदुषी शिक्षिका और संवेदनशील साहित्यकार हैं। उनकी प्रतिभा की ऊष्मा से विचार जब शब्द का रूप ग्रहण करता है तो लोकजीवन के लिए हितकर और आनंददायक दोनों होता है। उनका मानवतावादी दृष्टिकोण किसी 'वाद' के विवाद के घेरे में बँधकर नहीं रहा और न उन्होंने साहित्यधर्मिता में कभी किसी सम्मोहन-कला को ही प्रश्रय दिया। सीधी-सच्ची दो-टूक बात कहना उनकी आदत में शामिल है। मुझे अनेक अवसरों पर उनके साहित्य-चिंतन को परखने और निकटता से देखने का अवसर मिला है। वे कभी किसी अन्याय या ग़लत बात के साथ समझौता नहीं करतीं। वे पत्रकार भी हैं— 'ऋता: साहित्यिक संचेतना' त्रैमासिक पत्रिका की संस्थापक, प्रधान संपादिका। कितनी निर्भीक, निष्पक्ष और निर्वेद दृष्टि है उनकी! स्वाभिमान का दृढ़ शिखर, किंतु अभिमान-अहंकार से नितांत दूर! अंतःकरण से निर्मल, उदार, स्नेहशील, किंतु अपने आदर्शों, जीवन-मूल्यों के प्रति शिला के समान कठोर! उनको तोलने का कौनसा पैमाना है, यह तय करना कठिन है!

मैंने जब-जब उनसे बात की है अथवा उनकी रचनाओं को पढ़ा है, मुझे लगा कि उनका लेखन उदात्त तत्त्वों से युक्त ऐसा साहित्य है, जो समस्त मानव-जाति के लिए, समस्त कालखंडों में, शाश्वत आनंद की सृष्टि करने वाला है और स्वस्थ, सुंदर मानव बनने की प्रेरणा देने वाला है।

संदर्भ

1. अक्षत, डा० मिथिलेश दीक्षित, पृ० 16
2. जले सुधि के दीप, डा० मिथिलेश दीक्षित, पृ० 47
3. अस्मिता, डा० मिथिलेश दीक्षित, पृ० 11
4. अक्षत, डा० मिथिलेश दीक्षित, पृ० 21
5. स्वर विविध क्षण बोध के, डा० मिथिलेश दीक्षित, पृ० 410
6. वही, पृ० 76
7. अक्षत, डा० मिथिलेश दीक्षित, पृ० 41
8. दूर्वा, डा० मिथिलेश दीक्षित, पृ० 90
9. अस्मिता, डा० मिथिलेश दीक्षित, पृ० 19
10. वही, पृ० 47
11. वही, पृ० 35
12. वही, पृ० 73
13. अस्मिता, डा० मिथिलेश दीक्षित, पृ० 18
14. जले सुधि के दीप, डा० मिथिलेश दीक्षित, पृ० 41
15. वही, पृ० 42
16. अक्षत, डा० मिथिलेश दीक्षित, पृ० 79
17. दूर्वा, डा० मिथिलेश दीक्षित, पृ० 17
18. सार्थक संवाद, डा० मिथिलेश दीक्षित, पृ० 81
19. अक्षत, डा० मिथिलेश दीक्षित, पृ० 22
20. स्वर विविध क्षण बोध के, डा० मिथिलेश दीक्षित, पृ० 20

□ 204, चौथियाना, मैनपुरी 205001

दलित चेतना : उत्तराखंड के रचनाकार दयानंद अनंत के उपन्यास 'निशांत' के परिप्रेक्ष्य में सरिता दीक्षित

आज हिंदी उपन्यास-साहित्य की एक सुदृढ़ परंपरा स्थापित हो चुकी है। 'परीक्षा गुरु' से आरंभ हुई इस विकास-यात्रा के दौरान उपन्यास के रूप में परिवर्तन अवश्य आया है, फिर भी उसकी मूल चेतना अक्षुण्ण बनी रही है। आधुनिक युग में उपन्यास अपने प्राचीन रूप से विलग नहीं हुआ है। अभी भी वह समाज का दर्पण ही है। बदला है। तो केवल समाज और उसके मूल्य। अतः उपन्यास का लक्ष्य युग की आवश्यकताओं के अनुरूप बदल गया है। उपन्यासकार समाज के इस परिवर्तित दृष्टिकोण को देखते हुए ही अपने कथ्य को आकार दे रहे हैं। उपन्यासों के क्षेत्र में अनंत जी ने सराहनीय योगदान दिया है। उनके उपन्यासों में व्यक्ति और देशकाल की समस्याएँ चित्रित हुई हैं।

'निशांत' एक सामाजिक उपन्यास है। सामाजिक वैषम्य को इस उपन्यास का मुख्य आधार बनाया गया है। यह अनंत जी का पहला उपन्यास है, जो कि विशेष रूप से हरिजनों की समस्याओं से जूझता हुआ आगे बढ़ा है। इस उपन्यास का केंद्र-बिंदु सवर्ण और अछूतों के बीच संघर्ष को बनाया गया है। अनंत जी इस भेद को मिटाना चाहते हैं— 'वह मनुष्य है, उसे अधिकार है कि वह किसी भी मनुष्य से समता कर सके। जात-पाँत का भेद दुर्बलता-जनित कल्पना है।' उन्होंने उच्च व निम्न जातियों के लोगों के बीच की खाई को पाटने पर विशेष जोर दिया है। वस्तुतः यह एक सामाजिक उपन्यास है। उपन्यासकार किसी भी तरह से प्रस्तुत जीवन-दशा के प्रति पाठकों में असंतोष को जगाता है और उसे सुधारने के लिए उसमें आवेग उत्पन्न करता है। अनंत जी ने स उपन्यास में व्यक्ति के भीतर के मानव को जगाकर, उसे स्वार्थी वृत्तियों से ऊपर उठाकर समष्टि के हित-चिंतन में प्रवृत्त करने का प्रयास किया है।

'निशांत' उपन्यास का कथानक इस प्रकार है— इस उपन्यास का नायक गोपी दिल्ली से आकर गढ़वाल के एक गाँव में शांति की खोज में भटकते हुए पहुँच जाता है, जहाँ प्रधान जी के घर में उसका आतिथ्य होता है। प्रधान जी की एक बेटी पुन्नी है, जिसकी आयु पंद्रह-सोलह वर्ष है। गोपी अछूत है, वह अपनी निम्न जाति की वजह से कई संकटों से गुजर चुका है, इसलिए ग्राम प्रधान के पूछने पर वह अपने को ब्राह्मण बताकर उनके घर में रहने लगता है। पुन्नी की माँ गोपी के सामने पुन्नी से शादी की बात रखती है। धीरे-धीरे पुन्नी की माँ प्रधान को भी इस बात के लिए राजी कर लेती है और दोनों का विवाह हो जाता है। दोनों सुखमय जीवन बिताने लगते हैं, लेकिन कुछ दिनों बाद गोपी का मन फिर अशांत रहने लगता है। एक बार उसका जी चाहा कि वह इस जाल को तोड़ दे, लेकिन दुर्बलताएँ हिचककर रह गईं। कहीं जाल के साथ वह किसी का जीवन भी न तोड़ बैठे।² इस आशंका से वह अपना

हृदय नहीं खोल पाता और तिल-तिलकर जलता रहता है।

उपन्यास में उस समय एक नया मोड़ आता है, जब गाँव वालों के अनुरोध पर गोपी गाँव का सरपंच बन जाता है। गाँव के हित में अनेक कार्य करते हुए फिर कुछ दिन बीत जाते हैं। अनेक अवसरों पर स्कूल निर्माण व सभाओं के अधिवेशनों में उसे बुलाया जाने लगा, लेकिन उसका मन फिर भी अशांत बना रहता है।

एक बार लोगों ने केंद्रीय पंचायत के अधिवेशन का आयोजन किया। यह आयोजन गोपी के गाँव से दो मील दूर एक बड़े गाँव में किया गया, जहाँ गोपी को भी आमंत्रित। वहाँ भाषण देते समय गोपी भावुकता में बह गया और कहने लगा— 'मेरी आप लोगों से प्रार्थना है कि आप लोग शपथ लीजिए कि गाँव-गाँव में स्कूल खोलेंगे। लोगों में ज्ञान का प्रसार करेंगे। आपस के भेदों का अंत कर देंगे और अपने मस्तिष्कों को स्वतंत्र रखेंगे।' ³ वह फिर आगे कहता है— 'हमें अपने को उठाना है। हम लोग अंधकार में हैं। हमारे पैरों में संस्कार की बेड़ियाँ हैं।.... हमें आज अछूतों को गले लगाना है। उन्हें अपने में मिलाना है।' ⁴ ये बातें सुनकर पंचायत में विवाद उठने शुरू हो जाते हैं और वह अपने गाँव में लौट आता है। घर लौटने पर भी उसके हृदय में उठते झंझावत कम नहीं होते वह पुन्नी को भी 'सत्य' बताने का फैसला कर लेता है। वह पुन्नी को बताता है कि 'पुन्नी, मैं अछूत हूँ।.... मैंने तुमको धोखा दिया.... गाँव वालों को धोखा दिया.... थोड़े से अपमान ने और सुख की पागल कामना ने मुझे अंधा कर दिया।' ⁵ प्रत्युत्तर में पुन्नी की तरफ से उसे अपने समर्थन में ही जवाब मिलता है— 'तुम मेरे लिए वही गोपी हो.... संसार में सबसे अच्छे पति हो। लेकिन तुमने मुझ पर विश्वास नहीं किया, मुझे इसका दुख है।' ⁶

गोपी अगले दिन मंगरू (अछूत जाति के युवक) के घर जाता है और उसे भी अपने अछूत होने की बात बताता है। वह उसके यहाँ चाय भी पीता है। धीरे-धीरे यह बात पूरे गाँव में फैल जाती है। प्रधान उसे बहुत समझाते हैं, लेकिन वह इस निश्चय पर अडिग है कि 'आज तो आवश्यकता समाज के रूप को बदलने की है, समाज के झूठे भेदों को मिटाने की अपेक्षा है ताकि जीवन में प्रत्येक को उठने का अवसर प्राप्त हो।' ⁷ प्रधान जी के कथनानुसार प्रायश्चित्त न करने पर वे उसे घर से निकाल देते हैं। पुन्नी द्वारा गोपी के साथ जाने के अनुरोध को न मानकर वे उसे एक कमरे में बंद कर देते हैं।

धीरे-धीरे जब यह बात पूरे गाँव में फैल जाती है कि गोपी अछूत है गाँव के लोग उसे जान से मारने पर उतारू हो जाते हैं। उधर गोपी डूमणों की सभा में उनको जागरूक बनाने का प्रयत्न करता है— 'समाज ने जानबूझकर हमें अछूत बनाया है ताकि हम कभी उठने का साहस न कर सकें और समाज के ऊँचे कहलाने वाले लोग हमसे हीन काम लेते रह सकें.... हमारा शोषण करते रह सकें।' ⁸ और फिर वह उनसे संगठित होने और अपने अधिकारों के प्रति सचेत होने की बात कहता है। तभी गाँव वालों की भीड़ में से पत्थर आने शुरू हो जाते हैं। मंगरू और गोपी दोनों को चोटे लगती हैं। मंगरू गोपी को उठाकर घर ले आता है और उसकी मरहम-पट्टी करता है।

अगले दिन गाँव में बैठक होती है और लोग इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि गोपी को मार-पीटकर गाँव से बाहर निकाल दिया जाए। सारे गाँव की सामूहिक शुद्धि हो। यह भी निश्चय किया गया कि जो डूमणा गोपी का साथ दे, उसे भी बेदखल कर दिया जाए। लेकिन इससे पहले कि गाँव वाले गोपी को मारते, मंगरू उसे गाँव के बाहर पहुँचा आया। गोपी गाँव छोड़कर

उदास मन से आगे बढ़ने लगा। सहसा उसे पीछे से आती पगध्वनि सुनाई देती है उसने पीछे मुड़कर देखा तो पुन्नी चली आ रही थी। पुन्नी उसे मंगरू द्वारा गाँव में ही रहकर अपना काम पूरा करने की बात बताती है और दोनों साथ-साथ आगे बढ़ जाते हैं।

इस प्रकार इस उपन्यास का गठन एक संघर्ष को लेकर हुआ है। यह संघर्ष समाज के रूढ़िवादियों, पूँजीपतियों, पुरातनपंथियों तथा नई पीढ़ी के युवकों के बीच है। गोपी का विद्रोह अपने और अपने समाज के ऊपर लादी गई अमानवीय व्यवस्था के विरुद्ध है। दलित समाज को उनकी गुलामी से अवगत कराना और सवर्ण समाज के समक्ष अपनी व्यथा और वेदनाओं का बखान करना इस उपन्यास के नायक का उद्देश्य है। इन नवयुवकों के अंदर समाज में व्याप्त पुराने ढाँचे के प्रति आक्रोश है, जिसे दूर करने की इनमें उत्कट चाह है। यह संघर्ष आदि से अंत तक चला है। उपन्यास में दलित युवकों की भावनाओं, आकांक्षाओं और संघर्ष का सविस्तर वर्णन किया गया है, जिसके अनुसार इस समाज के अनुभवों और व्यथाओं की अनदेखी नहीं की जा सकती, क्योंकि ये अनुभव और व्यथा हजारों-लाखों मनुष्यों के हैं और उनकी हजारों पीढ़ियाँ समाज का अन्याय सहन करती हुई जीने को मजबूर हैं। उपन्यासकार ने बड़ी सहानुभूति से इस वर्ग के युवकों की हृदयगत भावनाओं को समझा और परखा है। जब गोपी खुलेआम अपने को निम्न जाति का स्वीकार कर लेता है तो गोपी प्रधान जी के कहने पर भी प्रायश्चित्त नहीं करता। संघर्ष के अंत में यद्यपि उसकी स्पष्ट विजय नहीं होती, क्योंकि भारतीय समाज और मानस का यथार्थ अभी तक यथावत् है। लेकिन फिर भी लेखक यह दिखाना चाहता है कि यह तो केवल एक पड़ाव-मात्र है, मंजिल तो अभी आगे है।

अनंत जी के इस उपन्यास को चरित्र-प्रधान उपन्यास माना जा सकता है। इस उपन्यास का मुख्य पात्र गोपी है। वह नवयुग के जागरण से प्रेरित है और मानवता से दीप्त पुरुष है। वह मानव-समाज में व्याप्त विषमताओं और संकीर्णताओं को दूर कर समाज में एकरूपता लाना चाहता है। वह ग्राम-प्रधान से झूठ बोलता है और अपने को ब्राह्मण बतलाता है। वहाँ उसे सब तरह की सुख-सुविधाएँ प्राप्त हैं, फिर भी 'गोपी के हृदय में रह-रहकर यह खटक रहा है कि फिर क्यों उसने असत्य का मुलम्मा अपने विश्वासों पर लगाया? क्यों उसने इन ऊँचें लोगों के निकट आने की आकांक्षा की, जबकि वह उन्हें ऊँचा नहीं मानता था.....?'⁹

पुन्नी उसकी पत्नी है और वह उसे बहुत प्यार करता है। वह पुन्नी को जरा भी अस्वस्थ देखकर छोटे बच्चों की तरह उदास हो जाता है। वह अपने हृदय की सारी बातें उसे बता देता है, यहाँ तक कि अपने अछूत होने की बात भी उससे नहीं छिपाता। उपन्यास के अंत में जब वह गाँव छोड़कर जाने लगता है, तब भी उसे पुन्नी की चिंता लगी रहती है। जब पुन्नी गाँव के बाहर आकर उससे मिलती है, तब वह बहुत खुश हो जाता है और उसके साथ गाँव छोड़ चला जाता है।

वह मंगरू आदि सभी डूमणों से भातृवत् स्नेह करता है। मंगरू की पत्नी व पिता की मौत के समय उसकी सहायता न कर पाने का उसे बड़ा दुख है। समाज से भयभीत न होते हुए वह मंगरू के घर जाता है और चाय पीता है।

उसमें एक नेता बनने के सभी गुण हैं। वह ग्राम पंचायत का प्रधान भी चुना जाता है और अपने कर्तव्यों को भली-भाँति निभाना जानता है। वह आस-पास के सभी गाँवों में स्कूल

खोलने की इच्छा रखता है ताकि सभी बच्चों को शिक्षा प्राप्त हो सके।

सबसे बड़ी बात यह कि गोपी के हृदय में यह भावना है कि वह अछूतोद्धार कर सके। उनमें चेतना जगा सके ताकि वे हीन-भावना से उबर जाएँ। वह लोगों को समझाता है— 'आप लोगों के डरने का कोई कारण नहीं है। उच्चवर्ग वाले तो सदैव ही से हम लोगों को दबाते आए हैं, लेकिन हमें भी उठने का अधिकार है। हमें मनुष्य बनने का अधिकार है। हम जानते-बूझते स्वयं को कुचलने नहीं देंगे। हम भी मनुष्य हैं... हमें भी जीने का... सम्मान से जीने का अधिकार है...।'¹⁰ गोपी इस जातिगत वैषम्य से उत्पन्न विभीषिका से बहुत परेशान है।

गोपी की पत्नी पुन्नी इस उपन्यास की नायिका है। वह कर्मनिष्ठ महिला और पतिव्रता स्त्री है। गोपी के अछूत होने की बात सुनकर उसे ज़रा भी ग्लानि और शिकायत नहीं होती। वह कहती है कि उसके अछूत होने से उसे कोई फ़र्क नहीं पड़ता। उपन्यास में अंत में भी वह गोपी का साथ देने के लिए अपने माता-पिता, अपनी बच्ची और सारे गाँव को छोड़कर गोपी के साथ खुशी-खुशी चली जाती है।

इस उपन्यास में अन्य पात्र— प्रधान जी, उनकी पत्नी, मंगरू आदि सभी कथा को आगे बढ़ाने के लिए उपयुक्त पात्र हैं। अनंत जी ने अपने पात्रों का चयन जीवन के यथार्थ से किया है और उसका विकास यंत्रात्मक रूप में न होकर सहज स्वाभाविक रूप से ही हुआ है।

इस उपन्यास में अनंत जी ने समाज की ज्वलंत समस्या को उठाया है और उसका समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास भी किया है ताकि सदियों के अन्याय को खत्म करने की मुहिम को तेज़ किया जा सके। समाज में सभी को समान अधिकार प्राप्त हैं, इस तथ्य को समझते हुए जब निम्न जाति के लोग स्वयं अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए संघर्ष करेंगे तभी उनके लिए विकास के द्वार खुल सकेंगे। शताब्दियों पुरानी जाति-प्रथा को हटाने के कार्य में उन्हें भी आगे आना होगा ताकि समाज से जातिगत वैषम्य को पूरी तरह से समाप्त किया जा सके। हज़ारों वर्षों से चली आती यह विषम व्यवस्था इतनी शीघ्र नष्ट नहीं होगी। इस व्यवस्था को समूल नष्ट करने के लिए अभी और प्रयत्न करने होंगे।

संदर्भ

1. निशांत (पांडुलिपि), अनंत दयानंद, पृ० 11
2. वही, पृ० 77
3. वही, पृ० 109
4. वही, पृ० 109
5. वही, पृ० 115
6. वही, पृ० 117
7. वही, पृ० 130
8. वही, पृ० 136
9. वही, पृ० 11
10. वही, पृ० 136

□ हिंदी विभाग, डी०एस०बी० परिसर, कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल

हिंदी की प्रगतिशील आलोचना : दशा और दिशा

विद्यासागर त्रिपाठी

शोध छात्र (हिंदी), वीरबहादुर सिंह पूर्वांचल विश्वविद्यालय, जौनपुर

साहित्य में आलोचना का अपना विशेष महत्त्व है। हिंदी साहित्य के कबीर, जयशंकर प्रसाद, निराला, महादेवी वर्मा की अभिव्यक्तियों में ऐसे अनेक स्वर मिलते हैं, जिनमें प्रगतिशील चेतना के अनेक तत्त्व बिखरे पड़े हैं। अठारहवीं सदी के अंत तक भारतवर्ष में अँग्रेजों की सत्ता अपना रूप धारण कर चुकी थी। उस समय इस देश की स्थिति भयावह एवं कष्टप्रद थी। विपन्नता की ओर बढ़ता भारतीय समाज अपनी सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति की भयावहता से परस्त था। मुस्लिम काल की भयावह स्थिति अँग्रेजी काल में भी यथावत् बनी रही। यही कारण था कि देश में आर्थिक दृष्टि से समाज तीन वर्गों में विभाजित हो गया था। पहले वर्ग के अंतर्गत उद्योगपति, पूँजीपति एवं जमींदार थे। दूसरे वर्ग में मध्यम श्रेणी के व्यक्ति, जो सामान्य रूप से शिक्षित होकर शासकीय सेवा में लगे थे और तीसरा वर्ग उन श्रमिक किसानों का था, जिन पर उपर्युक्त दोनों वर्गों का नियंत्रण था। साम्राज्यवाद एवं सामंतवाद का आतंक निम्न एवं मध्यम दोनों वर्गों पर था। परिणामतः मध्यम वर्ग तो अपने संस्कारगत अवगुंठन की लपेट में अधिक सक्रिय न हो सका, किंतु निम्न वर्ग शोषित, मजदूर एवं कृषक वर्ग ने बड़ी तीव्रता से आंदोलन एवं संघर्ष के मार्ग को अपना लिया।¹

लार्ड डलहौजी द्वारा रियासतों पर विजय एवं उनके विलीनीकरण किए जाने के कारण राजाओं एवं नवाबों के मन में भी आक्रोश पैदा हो गया था। परिणामतः आंतरिक आक्रोश एवं असंतोष ने 1857 की महान क्रांति को जन्म दिया, जिसके फलस्वरूप भारतीय समाज एवं राजनीति के संक्रमणकाल का रूप परिवर्तित होने लगा और इस परिवर्तन का प्रभाव भारतीय साहित्य पर पड़ा। 1905 ई० में बंगभंग आंदोलन स्वदेशी एवं स्वराज्य आंदोलन, 1908 ई० में बालगंगाधर के कारावास के कारण हुआ मजदूरों का विरोध, 1917 से 1918 ई० तक प्रथम विश्वयुद्ध और 1917 की सफल रूसी क्रांति ने भारतीय विचारधारा को एक नया मोड़ दिया। 1920 में श्री गणेशशंकर विद्यार्थी के नेतृत्व में मजदूर संगठनों की जनचेतना और ठाकुर रवींद्रनाथ की रूस-यात्रा ने भी भारतीय चिंतनधारा को एक नई दिशा दी।

इस प्रकार भारत की तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक परिस्थितियाँ 'प्रगतिशील विचारधारा' के उदय के लिए एक प्रशस्त वातावरण एवं पृष्ठभूमि पैदा कर चुकी थीं। राजनीतिक संस्थाओं में समाजवादी अवधारणाओं एवं मार्क्सवादी विचारधाराओं का प्रमाण स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ने लगा था। किसानों, मजदूरों के अनेक संगठन बन चुके थे। पत्र-पत्रिकाएँ भी मार्क्सवादी विचारधारा, प्रगतिवादी काव्य एवं समीक्षा के प्रचार-प्रसार में अग्रसर हो चुकी थीं। इन परिस्थितियों में प्रगतिवादी विचारधारा का उत्स हिंदी-साहित्य के क्षेत्र में सहज ही फूट पड़ा था। साहित्य की विविध विधाओं में भी इसका प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ने

लगा था।²

1936 ई० में प्रेमचंद की अध्यक्षता में होनेवाला लखनऊ के प्रथम अखिल भारतीय प्रगतिवादी लेखक संघ का अधिवेशन इस विचारधारा की पहली किरण थी। इसके पश्चात् चाँद, माधुरी, जागरण, विशाल भारत, रूपाभ, साहित्य संदेश, मतवाला, आज, सोशलिस्ट भारत आदि अनेक पत्र-पत्रिकाओं ने प्रगतिवादी चेतना को एक नया मार्ग दिया। आचार्य नंददुलारे बाजपेयी के अनुसार सन् 1935 के आस-पास हिंदी-साहित्य के रचनात्मक क्षेत्र में जो निराशा एवं सामाजिक अनुत्तरदायित्व की एक लहर आई थी, जिसने रचना और समीक्षा के क्षेत्र में भी अपना अनिष्टकारी प्रभाव दिखाया था, उसी की प्रतिक्रियास्वरूप साहित्य के सामाजिक आदर्श का अनुग्रह करती हुई नई समीक्षा पद्धति हिंदी-क्षेत्र में आई। साहित्य किसके लिए? यह प्रश्न उठाया गया। उत्तर देते हुए नव्यतर समीक्षकों ने कहा— 'साहित्य जनता के लिए, साहित्य पूँजीवादी सभ्यता को समाप्त करने के लिए, साहित्य समाजवाद की प्रतिष्ठा के लिए।'³

प्रगतिवादी समीक्षा की इस नई किरण का दर्शन सन् 1936 ई० से होता है। जब प्रगतिवादी धारणा से न केवल हिंदी-साहित्य वरन् भारत के सामाजिक, राजनीतिक जीवन को भी अपने आलोक से भर दिया था। साहित्य में इसे प्रगतिवाद कहा गया जो राजनीति में समाजवादी विचारधारा के नाम से जाना जाता है।

हिंदी में प्रगतिवाद के उद्भव का वर्ष सन् 1936 ई० को ही माना जा सकता है। इसी वर्ष लखनऊ में होनेवाले काँग्रेस-अधिवेशन में अध्यक्ष पद से पंडित जवाहरलाल नेहरू ने घोषणा की थी कि भारत की राजनीतिक, आर्थिक और अन्य अनेक समस्याओं का समाधान समाजवाद के माध्यम से ही हो सकता है।⁴ दूसरी ओर इसी वर्ष लखनऊ में ही प्रगतिशील लेखक संघ के प्रथम अधिवेशन में अध्यक्ष पद से मुंशी प्रेमचंद ने साहित्य और समीक्षा को प्रगतिवादी दिशा का निर्देशन किया। डॉ० शिवकुमार मिश्र ने भी इसी वर्ष को नए युगारंभ का सूचक माना है। उनके अनुसार— 'यही वह वर्ष है, जब साहित्य और राजनीति दोनों में ही आदर्शवादी भावुकता और आध्यात्मिकता के स्थान पर यथार्थवादी, बौद्धिकता और मौलिकता को प्रश्रय मिला, दोनों ही दक्षिणपंथी से वामपंथी बने, राष्ट्रीयता ने नवीन रूप धारण किया, अंतर्राष्ट्रीयता उससे अधिक महत्त्व की पात्र बनी और दोनों के ही सम्मिलन ने राष्ट्र और जनजीवन को नवीन चेतना से समन्वित किया।'⁵ इसी वर्ष पंत ने भी 'युगांत' की रचना द्वारा छायावादी युग के अंत और 'युगवाणी' द्वारा प्रगतिवादी युग-चेतना के नवजागरण का आह्वान किया।

प्रगतिशील संघ का दूसरा अधिवेशन 1938 ई० में विश्व कवि रवींद्रनाथ टैगोर की अध्यक्षता में हुआ। इस अधिवेशन में प्रथम अधिवेशन की प्रगतिवादी चेतना को और विस्तार तथा बल प्राप्त हुआ।⁶

द्वितीय अधिवेशन की घोषणा ने 'प्रगतिक्रियाशील' और 'प्रगतिशील' दोनों के अंतर को साफ शब्दों में उद्घाटित करते हुए लेखकों और साहित्यकारों के मस्तिष्क में प्रगति का एक स्पष्ट चित्र खींचकर उन्हें सही-सही अर्थों में प्रगतिशील बनने को प्रेरित किया।'⁷

इस संबंध में मुंशी प्रेमचंद के विचार भी मार्क्स के चिंतन एवं रूसी साहित्य के नए आलोक को व्यक्त करते हुए दिखाई पड़ते हैं— जिन आदर्श को हमने सभ्यता के आरंभ से

पाला है, जिसके लिए मनुष्य ने ईश्वर जाने कितनी कुर्बानियाँ की हैं, जिसकी परिणति के लिए धर्मों का आविर्भाव हुआ, मानव-समाज का इतिहास जिस आदर्श की प्राप्ति का इतिहास है, उसे सर्वमान्य समझकर हमें उन्नति के मैदान में कदम रखना है। हमारे साहित्य को उसी आदर्श को अपने सामने रखना है।⁸

प्रगतिशील संघ के तीसरे अधिवेशन 25 अप्रैल 1943 ने प्रगतिवादी आलोचना को एक नई दिशा दी इनमें संयुक्त प्रांत अधिवेशन राहुल सांकृत्यायन एवं नरोत्तम नागर की अध्यक्षता में काशी प्रगतिशील लेखक संघ का अधिवेशन पं० अंबिकाप्रसाद वाजपेयी की अध्यक्षता में तथा नंददुलारे वाजपेयी के सभापतित्व तथा विश्वनाथप्रसाद मिश्र का वक्तव्य इस दिशा की महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं। 17 अक्टूबर 1945 में हैदराबाद में मौलाना हसरत मोहानी की अध्यक्षता में संपन्न उर्दू प्रगतिशील लेखकों का सम्मेलन तथा केरल में जनवरी 1944-45 में संपन्न प्रगतिशील लेखक संघ में आए वक्तव्य भी प्रगतिवादी आलोचना की दशा को गति देने में बड़े सार्थक रहे हैं। 1937 में बंगीय प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना 'प्रगति' नामक महत्वपूर्ण संकलन का प्रकाशन हिंदी-आलोचना के मील का पत्थर साबित हुए।

इन विभिन्न सम्मेलनों एवं सभाओं के साथ ही प्रगतिशील लेखक संघ के तृतीय अधिवेशन से स्वतंत्रता तक की अनेक महत्वपूर्ण समीक्षाएँ भी 'विशाल भारत' व हंस में प्रकाशित हुईं, जिनमें 'प्रगतिशील काव्य'⁹ रससिद्धांत और प्रगतिवाद,¹⁰ प्रगतिशील साहित्य परंपरा,¹¹ प्रगतिवाद और हिंदी पर उसका प्रभाव,¹² प्रगतिवाद और चंद्रगुप्त विद्यालंकार¹³ प्रगतिवादी दृष्टि में रचनात्मक साहित्य आलोचना का मार्क्सवादी आधार¹⁴ प्रगतिवादी काव्य और युगधर्म¹⁵ आलोचना का मार्क्सवादी आधार¹⁶ आदि निबंध प्रगतिवादी समीक्षा के संबंध में व्याप्त अनेक विभ्रान्तियों, समस्याओं और उलझनों को स्पष्ट करने एवं सुलझाने की दृष्टि से बड़े ही महत्वपूर्ण हैं। इन निबंधों में कुछ के द्वारा मार्क्सवादी साहित्य चिंतन पर अनेक गंभीर प्रश्न उठाए गए हैं और कुछ के द्वारा प्रश्नों का सम्यक् निराकरण प्रस्तुत किया गया है।

अपने दो निबंधों के माध्यम से डॉ० मल्ल ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि मार्क्सवादी आलोचना कुछ कारणों में अपूर्ण और एकांगी है। मल्ल जी का कहना है कि आलोचना कला कोई शुष्क विचारधारा-मात्र न होकर एक तड़पती हुई कामकाजी वस्तु के रूप में कला को ग्रहण करती है। मार्क्सवादी केवल मार्क्स के ऐतिहासिक, भौतिकवाद और द्वंद्वत्मक भौतिकवाद के आधार पर ही साहित्य का परीक्षण करते हैं। उनका कहना है कि मार्क्सवाद के अनुसार सामान्य मानवता नाम की कोई वस्तु नहीं है। अतएव इस समय के साहित्य को स्पष्टतः श्रमिक वर्ग के हित का पूर्ण ध्यान देना चाहिए। जो भी हो मार्क्सवाद का आधार लेकर चलनेवाली आलोचना साहित्य कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं स्वीकारा करती और उसे समाज के विकास में एक अस्त्र के रूप में ग्रहण करती है। उनकी धारणा है कि कतिपय विशेषताओं से युक्त होते हुए भी उसमें मार्क्सवादी मान्यताओं के विश्लेषण की प्रवृत्ति अधिक है।¹⁷ अपने दूसरे निबंध प्रगतिवादी काव्य और युग-धर्म में उन्होंने प्रगतिवादी साहित्यकारों को वर्गवादिता, राजनीति एवं सांप्रदायिक प्रचारवादिता के संकुचित घेरे में निकालकर साहित्य के संबंध में विचार करने के लिए प्रेरित किया है। उनका कहना है कि साहित्यकार विदेशी प्रभावों को स्वीकार करते समय यह भी देख लें कि वह उनकी संस्कृति के अनुकूल पड़ता है या नहीं।

बाहरी प्रभाव हमारी संपूर्ण सांस्कृतिक मर्यादा को पराभूत करके हमारे साहित्यकारों की वास्तविक उद्भावना-शक्ति को कहीं पंगु न बना दे।¹⁸ हंस के दो-तीन अंकों में अमृतराय ने डॉ. मल्ल के द्वारा प्रगतिवादी समीक्षा के बारे में उठाए गए कतिपय प्रश्नों एवं उनकी आशांकाओं का समाधान प्रस्तुत किया है।

हिंदी-आलोचना की दशा और दिशा के संदर्भ में उपर्युक्त विवेचन में हमने यह देखा कि प्रगतिवादी आलोचना अन्याय, विषमता एवं शोषण के विरुद्ध निर्भीक उद्बोधन और अभिव्यक्त का एक ऐसा रूप है, जो हिंदी-आलोचना को एक सामाजिक एवं राजनीतिक दर्पण के रूप में प्रस्तुत करता है।

इस संबंध में शिवदानसिंह चौहान, डॉ. रामविलास शर्मा, श्री प्रकाशचंद्र गुप्त, डॉ. रांगेय राघव, चंद्रवली सिंह, अमृत राय, मनुन्मथनाथ गुप्त, गजानन माधव मुक्तिबोध, डॉ. नामवर सिंह, डॉ. विश्वंभरनाथ उपाध्याय, डॉ. शिवकुमार मिश्र, डॉ. रमेश कुंतल 'मेघ', डॉ. मैनेजर पांडेय, डॉ. भगवतशरण उपाध्याय, डॉ. रणजीत, डॉ. कमलाप्रसाद, डॉ. सुरेंद्र चौधरी, डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी, डॉ. कुँवरपाल सिंह, आनंदप्रकाश, ओमप्रकाश ग्रेवाल, कर्णसिंह चौहान, शंभूनाथ सिंह, राजेश्वर सक्सेना आदि आलोचकों का हिंदी प्रगतिवादी आलोचना में महत्वपूर्ण योगदान है।

संदर्भ

1. काँग्रेस का इतिहास भाग-2, पट्टाभि सीता रमैया, पृ० 73
2. हिंदी की प्रगतिवादी समीक्षा और समीक्ष्य, डॉ. शोभनाथ तिवारी, पृ० 9
3. नया साहित्य : नए प्रश्न, आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, पृ० 21
4. काँग्रेस का इतिहास भाग-2, डॉ. पट्टाभि सीता रमैया, पृ० 76
5. नया हिंदी-काव्य, डॉ. शिवकुमार मिश्र
6. प्रगतिवाद, डॉ. शिवकुमार मिश्र, पृ० 18
7. हंस, अक्टूबर 1944 वर्ष-15 अंक 1, पृ० 58
8. हंस, जुलाई 1936, पृ० 85-86
9. भगीरथ मिश्र, विशाल भारत, जनवरी 1946, पृ० 163
10. वैजनाथ सिंह विनोद, विशाल भारत अप्रैल 1946, पृ० 263
11. प्रकाशचंद्र गुप्त, हंस अक्टूबर 1946 वर्ष 16, अंक-1
12. चंद्रगुप्त विद्यालंकार, हंस अप्रैल 1946, पृ० 391
13. हंसराज रहवर, हंस मई 1946 वर्ष 16, अंक-8
14. डॉ. विजयशंकर मल्ल, हंस जनवरी 1945, पृ० 245-46
15. डॉ. विजयशंकर मल्ल, हंस फरवरी-मार्च 1945, पृ० 319
16. अमृत राय, हंस अप्रैल 1945, पृ० 358
17. डॉ. विजयशंकर मल्ल, हंस जनवरी 1945, पृ० 245-46
18. डॉ. विजयशंकर मल्ल, हंस फरवरी-मार्च 1945, पृ० 320



समकालीन हिंदी-कहानी में नारी की सामाजिक स्थिति

राजेंद्रप्रसाद यादव

शोध-छात्र, वीरबहादुर सिंह पूर्वांचल, विश्वविद्यालय, जौनपुर

समाज में नारी को विभिन्न दृष्टियों से देखा जाता है। नारी एक है, परंतु उसके स्वरूप अनेक हैं। नारी को हम माँ, बहन और पत्नी के रूप में देखते हैं, परंतु नारी एक ही है। प्राचीन काल से नारी मनुष्यता के इतिहास की जननी मानी गई है। सदैव राष्ट्रों का उत्थान और पतन, धर्मों का अभ्युदय और पराभव, मानव का हास्य और रुदन उसके आँचल से बँधा रहा है। यदि उसकी एक मुस्कान ने चराचर को विमुग्ध किया है तो उसकी बंकिम दृष्टि ने (रौद्र रूप में) सृष्टि में प्रलय की भूमि का भी निभाई है। यदि यह कहा जाए कि एक ओर वह सृष्टि है, तो दूसरी ओर प्रलय का स्रोत भी है, तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है। पुरुष स्त्री के बिना अधूरा है। स्त्री के अस्तित्व से ही पुरुष-समाज का अस्तित्व है।

समाज में नारी की स्थिति में उत्तरोत्तर परिवर्तन होते रहे हैं। कभी नारी को सम्मान की दृष्टि से देखा गया है तो कभी हेय दृष्टि से। नर-नारी के प्रसंग में यदि कोई अनहोनी घटना होती है तो पुरुषों का लाख दोष होते हुए भी नारी ही लाँछित की जाती है, क्योंकि एक धोबी-मात्र के लाँछन से बचने के लिए मर्यादापुरुषोत्तम रघुकुल शिरोमणि श्री रामचंद्र जी को माता सीता को गर्भ की अवस्थाएँ भी घर से निष्कासित करना पड़ा, जबकि वे विषम परिस्थितियों में रहते हुए भी अपने पतिव्रता धर्म के प्रति पूर्णरूपेण निष्ठावान रहीं और अग्नि-परीक्षा देकर उन्होंने अपने सतीत्व को समाज के सामने प्रस्तुत किया। नारी हमेशा से ही अपने कर्तव्य के प्रति समर्पित रही है। उसने विषम-से-विषम परिस्थितियों में भी अपने साहस और वीरता का परिचय दिया है।

नारी पुरुष-जाति के अनुचित बंधनों से हमेशा ही त्रस्त रही है। इसके अतिरिक्त नारी को परिवार का सर्वोपरि या सर्वेसर्वा भी माना गया है। उसके द्वारा किया गया हुक्म पूरे परिवार को मानना पड़ता है। समकालीन कहानीकारों ने तलाकशुदा नारी की उस स्थिति का निरूपण भी बड़े कलात्मक ढंग से किया जो तलाक लेने के बाद पुनः शादी के बंधन में बँध जाती हैं, लेकिन संतुष्ट नहीं हो पाती है। मन्नू भंडारी की कहानी 'बंद दरवाजों के साथ' इसी मानसिक स्थिति की कहानी है। पति-पत्नी आपसी तनाव एवं मनमुटाव के कारण तयशुदा रिश्ते से हटकर नई ज़िंदगी जीने के लिए नए रिश्ते में बँध जाते हैं, परंतु भावुकता के वशीभूत होकर वहाँ भी स्वयं को समायोजित नहीं कर पाते। मंजरी विपिन की मेज़ की दरार में पड़े पत्रों के कारण शंकाकुल हो जाती है और इसी संशय के कारण विपिन से तलाक लेकर दिलीप के साथ पुनः शादी के बंधन में बँध जाती है। लेकिन दिलीप की गृहस्थी में भी तनाव उभर आता है। लेखिका लिखती है कि 'बाहर से कहीं कुछ नहीं था... न बातचीत में, न व्यवहार में पर अनजाने और मनचाहे ही भीतर से जैसे मन पट गए थे, ज़िंदगी बँट गई थी, इस बार प्रसंग और स्थिति दूसरी थी, पर बँटने की पीड़ा वैसे ही थी।'¹

मुस्लिम समाज में नारी की स्थिति और भी चिंतनीय है। मुगलशासन-काल में नारी का नैतिक पतन सबसे ज्यादा हुआ है। ये शासक विलासी प्रवृत्ति के थे। ये सुंदर नारियों को बलपूर्वक पकड़कर उठवा लेते थे और अपनी काम-वासना की तृप्ति करते थे। कुछ स्त्रियाँ तो शर्म के मारे मर जाती थीं और कुछ वेश्यावृत्ति को अपनाकर अपनी जीविका चलाती थीं। पर्दाप्रथा भी मुस्लिम समाज में ही पाई जाती है। यह भी नारी-जाति पर एक अनचाहा बंधन है। परिस्थितियों ने नारी को विकास-पथ से रोका है। जब भी नारी ने इस दलदल से अपने-आपको उठाने की चेष्टा की, तत्कालीन परिस्थितियों ने उसे इसमें ही लिप्त रहने को विवश कर दिया। परिणाम यह हुआ कि नारी अपना उत्थान करने में असफल रही, जिसका चित्रण मन्नू भंडारी के 'बिना दीवारों के घर' में नायक-नायिका के निम्नलिखित कथनों द्वारा किया गया है-

अजीत : कौन कहता है कि औरत से नौकरी करे? छोड़ दे नौकरी। अब उसकी नौकरी के पीछे यह तो होगा नहीं कि पति, बच्चे बेचारे घर-घर मारे-मारे फिरें।

शोभा : क्यों, बीच में और कोई रास्ता ही नहीं है जैसे? विदेशों में इतनी औरतें काम करती हैं, वहाँ क्या सब मारे-मारे फिरते हैं?

अजीत : आपफोह! विदेश की बात तुम अपने देश में तो किया ही मत करो।

शोभा : क्योंकि वह तुम्हें माफिक नहीं आती, इसलिए?²

वेश्या नारी-समाज का एक ऐसा अंग है, जिसे समाज अपना मानने में हिचकिचाता है। नारी की यह भूमिका सामाजिक भूमिका होते हुए भी सामाजिक संबंधों के समान चौखटों में नहीं आ पाती। विडंबना यह है कि वेश्या एक प्रकार से अपने नारी-समाज से कटकर रह जाती है। इसी प्रकार कमलेश्वर की मांस का दरिया³ में उस नारी तथा समाज का चित्रण है, जहाँ लोग खुद अबला जानकर नारी को पथभ्रष्ट करते हैं और बाद में 'रंडी' संबोधन प्रदान करते हैं।

नारी ने अपने गुणों के आधार पर पुरुष से भी ज्यादा नाम कमाया है। इन्हीं गुणों के आधार पर नारी का नाम पुरुष से पहले लिया जाता है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम एक महापुरुष थे, परंतु सीता का नाम उनके नाम से भी पहले जोड़ा जाता है। जैसे- सीता-राम, राधा का नाम भी श्रीकृष्ण से पहले ही लिया जाता है। जैसे- राधा-कृष्ण। इसलिए यह मानने में कोई आपत्ति नहीं है कि नारी अपने सतीत्व की वजह से पुरुष से ज्यादा समाज में अपना महत्त्व रखती है।

समकालीन समाज में नारी ने अपना चहुँमुखी विकास कर लिया है। यदि हम कहें कि नारी, पुरुष के बिना अधूरी है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं है, क्योंकि नर और नारी एक ही गाड़ी के दो पहिएँ हैं, जिनका समानांतर चलते रहना अति आवश्यक है। जीवन रूपी धारा में एक के रुक जाने पर दूसरे का जीवन निरर्थक हो जाता है। समकालीन युग में नारी अपने कर्तव्यों और अधिकारों के प्रति स्वयं जागरूक है। इसके साथ-साथ सरकार भी नारी-उत्थान के लिए नई-नई योजनाएँ, प्रणालियाँ और नारी-उत्थान का मार्ग-प्रशस्त कर रही है।

नारी समाज में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। प्राचीनकाल में नारी की स्थिति काफी सम्मानजनक थी, परंतु मध्यकाल में नारी की अवस्था में परिवर्तन अवश्य आया और उसे

चहारदीवारी तक ही सीमित समझा गया। उसे विलास की वस्तु मात्र भी इसी काल में माना गया और उसकी स्थिति काफ़ी दयनीय हो गई। वर्तमान काल में नारी की सामाजिक दशा में संतोषजनक सुधार हुआ है। नारी अब स्वतंत्रता का जीवन व्यतीत कर रही है। उसे अब गुलामों और दासों जैसा जीवन नहीं बिताना पड़ रहा है।

प्राचीन काल से ही नारी को मानव के इतिहास की जननी माना गया है। किसी भी समाज का उत्थान और पतन, धर्म का अभ्युदय और पराभव मनुष्य का हास्य और रुदन नारी के आँचल से बँधा है। निःसंदेह, जहाँ नारी की मुस्कान ने चराचर को विमुग्ध किया है, वहीं उसकी बंकिम दृष्टि ने रौद्र रूप में मानव-जगत् को प्रलय के कगार पर भी लाकर खड़ा कर दिया है। इतिहास इस बात का भी साक्षी है कि मनुष्य की विजय और पराजय के पीछे भी नारी का हाथ रहा है।

समाज में रहने वाले सभी सदस्यों का एक प्राकृतिक विभाजन हुआ है, जिसका एक पथ है पुरुष वर्ग तो दूसरा वर्ग है नारी वर्ग। जिस प्रकार एक सिक्के के दो पहलू होते हैं, उसी प्रकार नर-नारी जीवन रूपी गाड़ी के दो पहिए हैं। जीवन में पारिवारिक एवं सामाजिक विकास हेतु दोनों का परस्पर सहयोग नितांत आवश्यक है। जहाँ तक नारी की त्याग-भावना का प्रश्न है, वह पुरुष से भी कई गुना अधिक है। नारी सदैव पुरुष के लिए अपनी जान की आहुति देने के लिए तत्पर रहती है। प्रसव का समय तो नारी के लिए इतना संकट का समय होता है कि जिसमें वह अपने प्राणों की बाज़ी लगाकर भी पुरुष के लिए संतान उत्पन्न करती है। उसका यह योगदान किसी से कम नहीं है।

समकालीन कहानी में नारी के पुरुष के प्रति कर्तव्यों को विशेष महत्त्व प्रदान किया गया है। नारी को पुरुष का प्रेरणा-स्रोत माना गया है। जहाँ नारी ने पुरुष को सामान्य समय में सहयोग दिया है, विषम परिस्थितियों में तो और भी अधिक अग्रसर रही है। जैसे 'जिंदगी में केवल एक बार जीना होता है और उसे उसके अलावा कोई नहीं जियेगा।'⁴ इससे स्पष्ट है कि वह विषम परिस्थितियों में हिम्मत हारने के बजाय पुरुष को आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित करती है। हमारे देहाती समाज में एक कहावत प्रचलित है कि घर की इज़्जत दो बातों के सहारे ही होती है, रोटी और बेटी।

पुरुष के प्रति नारी को कर्तव्यों का चित्रण मन्नू भंडारी ने अपनी कहानी तीन निगाहों की एक तस्वीर में किया है। दशनी के पति को छूत की बीमारी है अतः सगे भाई-बहन उससे नफ़रत करने लगे हैं, परंतु असली घृणा उनके भीतर उसके पति के पत्र से ही उत्पन्न हुई है। क्योंकि उसमें उसने अपनी मानसिक द्विविधा के कारण लिखा है कि दर्शना के संबंध हरीश से है। वास्तविकता यह है कि उसके और हरीश के मध्य ऐसा कुछ भी नहीं है, वह तो दर्शना के प्रति सहानुभूति मात्र रखता है। तभी वह सोचता है— एक बार उचित-अनुचित का ज्ञान भूलकर बड़ी जोर से इच्छा हुई कि उस रोती, बेबस नारी को जाकर अपनी बाहों में भर लूँ, अपने लिए नहीं, उसके संतोष के लिए उसकी सांत्वना के लिए।⁵ दूसरी तरफ़ दर्शना को जब पति की मार का भागी बनना पड़ता है तो वह यहीं सोचती है 'इनकी बीमार लातों ने भी मेरी कमर तोड़ दी, तो जब ये टाँगें पुष्ट होंगी, कितना जोर रहा होगा इनमें। हजारों बार मैंने गुलतियाँ कीं, कितना अच्छा होता

उस समय भी ये मुझे मारते कम-से-कम फिर इतनी बड़ील गलती तो नहीं करती।⁶

जहाँ तक नारी के प्रति पुरुष के कर्तव्यों का संबंध है, उसमें यह मानना बिल्कुल उचित है कि प्राचीन काल में पुरुष ने नारी को भोग-विलास की वस्तु से ज़्यादा कुछ नहीं समझा है। इतिहास के पृष्ठ पलटने पर पता चला है कि पहले राजाओं के हरम में कई-कई हजार रानियाँ तथा पटरानियाँ हुआ करती थीं। वे उसने चाहे-अनचाहे अपनी इच्छा-पूर्ति करते थे। परंतु समकालीन कहानियों में नारी का प्रति पुरुष के अनेक कर्तव्यों का चित्रण देखने को मिलता है। नारी की सुरक्षा का दायित्व पुरुष के कंधों पर ही है। वह नारी के हर दुख को दूर करने के लिए वचनबद्ध है। परंतु ऐसा कहानियों में देखने को नहीं मिलता है। जैसे-‘उसकी जरूरतें पूरी करो, पर रखो अपने काबू में। मारपीट बुरी बात है, पर यह भी नहीं कि औरत को मर्द का डर ही न रहे।’⁷

नारी की सुरक्षा हेतु पुरुष अनेक कुरीतियों का उन्मूलन करता है। नारी-शिक्षा पर भी पुरुष ने बल दिया है। समकालीन समाज में पुरुष ने नारी को कुछ सीमा तक स्वतंत्रता प्रदान की है। जैसे- ‘नारी पुरुष समान धरातल पर हैं, दोनों जीवन-दिशा के चुनाव में स्वतंत्र है।’⁸ राजेंद्र यादव की लंबी कहानी ‘कुलटा’ में मेजर तेजपाल की पत्नी अपने बँधे-बँधाए ढर्रे से छटपटाती हुई कहती है- मुझे क्या करना है। वही सुबह उठो ब्रेकफास्ट तैयार करके दो, ये परेड से आँए तो साथ बैठकर खाओ और दोपहर भर बैठे-बैठे मक्खियाँ मारो। शाम को वही सिनेमा या वहीं आर्डनेंस क्लब, या उसके रिटर्न बिजिट... मन नहीं लगता तो बीनू के साथ मार्केटिंग-बार्केटिंग पर चले गए, नहीं तो गुड्डी से गप्पे लगाते रहे। ... वही बधी-बधाई जिंदगी, वही बँधे-बधाएँ लोग।’⁹

नारी को आर्थिक दृष्टि से खुश रखना भी पुरुष का कर्तव्य है। यदि नारी की प्रत्येक जरूरत की पूर्ति होती रहे तो वह खुश व प्रसन्न महसूस करेगी। जहाँ पर स्त्रियों को पर्याप्त सम्मान मिलता है, वहाँ पर पारिवारिक व्यवस्था सुदृढ़ होती है। कहने को इतना भी कहा जाता है कि जहाँ नारी को सम्मानीय दृष्टि से देखा जाता है, वहाँ पर देवताओं का निवास होता है। भले ही प्राचीनकाल में स्त्रियों की दुर्दशा हुई है, परंतु आजकल वे हर तरह से प्रसन्न हैं।

डॉ० बालकृष्ण गुप्त ने लिखा है कि- ‘अभी तक नारी मात्र एक दासी के रूप में समझी जाती थी, किंतु उसने अब यह अनुभव किया है कि वह दासी न होकर पुरुष के समकक्ष है। समाज में पुरुषों के समान ही उसे अधिकार मिलना चाहिए। उसने उन सामाजिक बंधनों को त्याज्य समझा जो उसकी स्वच्छंता में बाधक थे।’¹⁰ पुरुष ने नारी की खुशी और स्वतंत्रता हेतु अपने कठोर व्यवहार में कुछ हद तक कमी की है।

कुल मिलाकर पुरुष के नारी के प्रति अनेक कर्तव्य हैं। पुरुष नारी की रक्षा व भरण-पोषण के लिए अनेक कष्ट सहन करता हुआ भी प्रसन्न रहता है। क्योंकि इसे वह अपने कर्तव्य से ज़्यादा कुछ नहीं समझात पुरुष ने नारी को सामाजिक, आर्थिक व धार्मिक कार्यों में बहुत कुछ सुविधा प्रदान की है। पुरुष ने जहाँ नारी को भोगा, शोषण किया, वहीं आज पुरुष ने नारी को शिक्षित करके समानाधिकार प्रदान किया है। अब नारी पुरुष के ऊपर पूर्णरूपेण निर्भर नहीं है। अर्थात् वह अब आत्मनिर्भर हो चुकी है। पुरुष ने नारी के कल्याण हेतु अनेक योजनाएँ शुरू की हैं, ताकि समकालीन नारी को शोषण के दलदल से निकालकर मुक्त किया जा सके।

संदर्भ

1. बंद दरवाजों का साथ, मन्नू भंडारी, पृ० 37
2. बिना दीवारों के घर, मन्नू भंडारी, पृ० 32
3. कमलेश्वर, मांस का दरिया, पृ० 29
4. निर्मल वर्मा, प्रतिनिधि कहानियाँ, पृ० 69
5. मन्नू भंडारी, तीन निगाहों की एक तस्वीर, पृ० 22
6. वही, पृ० 22
7. इंद्रनाथ मदान, कहानी : नई कहानी, पृ० 56
8. डॉ० बालकृष्ण गुप्त, हिंदी-उपन्यास सामाजिक संदर्भ, पृ० 51
9. राजेंद्र यादव, कुलटा, पृ० 47
10. डॉ० बालकृष्ण गुप्त, हिंदी उपन्यास सामाजिक संदर्भ, पृ० 45

□ ग्रा० फतेहगढ़,
पो० पहीनरेंद्रपुर, जौनपुर (उ०प्र०)

दसवें दशक के हिंदी-नाटकों में सामाजिक उच्चवर्ग की स्थिति डॉ० सुनीलकुमार कौशिक

1947 से पहले जब हमारा देश आजाद नहीं था, तब हमारे देश में सामंती प्रथा का प्रचलन था, जिसके अंतर्गत देश की कृषि-योग्य भूमि चंद लोगों के हाथों में थी। वे ही उसके स्वामी होते थे तथा उनके अनुसार ही उस पर ज़मींदार खेती करते या करवाते थे। वामपंथी इसका खंडन करते हुए कहते हैं कि अब यह प्रथा समाप्त हो चुकी है। लेकिन इस प्रथा का सजीव रूप वर्तमान युग में भी दिखाई देता है। यह तो सर्वमान्य है और सत्य है कि अब भारत में औद्योगिक एवं तकनीकी प्रगति के फलस्वरूप पूँजीवाद अत्यधिक समृद्ध हुआ है, फिर भी यह मान लेना कि इसने सामंतवाद को नष्ट कर दिया है, सत्य को नकारने के समान होगा। सामंती रूढ़ियाँ, विश्वास और उसका प्रभाव केवल ग्रामीण-क्षेत्रों में ही नहीं, शहरी क्षेत्रों में भी दृष्टिगत होता है। यहाँ के समाज ने पूँजीवाद को आत्मसात करते हुए भी सामंतवाद को निष्कासित नहीं किया है। वह मरणासन्न होते हुए भी मर नहीं रहा है। यहाँ के गाँवों में अभी भी ज़मींदारी तत्त्वों का वर्चस्व बना हुआ है। हाँ जाति-व्यवस्था शिथिल अवश्य हुई है। देश के पिछड़े प्रदेशों में सामंती-राज्य की विद्यमानता के कारण उनके द्वारा जन-जातियों का शोषण निर्बाध रूप से चल रहा है।

स्वतंत्रता के पश्चात् देश के बहुमुखी विकास के लिए भारत सरकार ने जिस नवीन औद्योगिक अर्थ-प्रणाली को स्वीकार किया। उसमें श्रम-विभाजन की प्रक्रिया जटिल और विस्तृत हो गई। फलतः समाज-व्यवस्था में पूर्णतः नवीनता आ गई। समाज में व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों का प्राधान्य हो गया है। डॉ० मोहिनी शर्मा लिखती हैं— 'आधुनिक शिक्षा, औद्योगिकरण तथा व्यक्तिवादिता की विचारधारा के विकास के कारण परंपरागत जाति-व्यवस्था में परिवर्तन की परिस्थितियाँ तेज़ी से बढ़ने लगी हैं।'¹

वर्तमान समय में पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के प्रभाव-स्वरूप भारतीय संस्कृति में परिवर्तन हो रहा है। धर्म और नैतिकता पर दृष्टि डालने पर पता चलता है कि दसवें दशक के समाज में धार्मिकता के स्तर में निम्नता आई है और यह सतत रूप से बढ़ते-बढ़ते अब 21-वीं सदी तक नैतिक पतन के साथ प्रस्तुत हो रही है। हेतु भारद्वाज लिखते हैं— 'धर्म और नैतिकता के बंधन भी समाज में ढीले हुए। लोगों को अध्यात्म ढकोसला लगने लगा।² नगरों और महानगरों में वैज्ञानिक प्रगति के परिणामस्वरूप तार्किक दृष्टिकोण को बढ़ावा मिला है। नगरीय और महानगरीय सभ्यता कृत्रिमता, फैशन और बाहरी सौंदर्य को महत्त्वपूर्ण माना जाता है। शहरी व्यक्ति सैक्स और अर्थ इन दोनों भौतिक मूल्यों को महत्त्व देता है। उच्चवर्ग की सभ्यता में काम और अर्थ के झूठे मूल्यों के पीछे पवित्रता, नैतिकता, आदर्शवाद आदि उच्च जीवनमूल्यों के प्रति आस्था मिटती जान पड़ती है। पढ़ा-लिखा नौजवान इन सब उच्च जीवन-मूल्यों को दाकियानूसी अथवा 'थर्ड-क्लास'

की वस्तुएँ मानता है, 'आदर्शवाद' नैतिकता आदि शब्दों को खोखले व पुस्तकीय 'शब्द मानता है। दसवें दशक के नाटकों में हम जब दसवें दशक के सामाजिक दृष्टिकोण पर अपनी नज़र डालते हैं तो पाते हैं कि इस काल में नगरीय जीवन को अजनबीपन, अलगाव, तनाव और कुंठा ने ग्रस लिया है। इससे मानव-संबंधों में विघटन की स्थिति उत्पन्न हो गई है।

वर्तमान युग में पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के प्रभाव-स्वरूप भारतीय संस्कृति में परिवर्तन आए हैं, जिनके फलस्वरूप युवक धर्म और नीति से विमुख होते जा रहे हैं। उनकी दृष्टि में पारंपरिक रीति-रिवाज मान्यताएँ और आदर्श सभी निरर्थक हो गए हैं। एक ओर युवा-वर्ग पाश्चात्य सभ्यता का अंधानुकरण करने में लीन है तो दूसरी ओर परिवार की पुरानी पीढ़ी युवा-वर्ग के नए विचारों से संतुष्ट नहीं है। इस प्रकार बदलते हुए युग में दो पीढ़ियों का संघर्ष भी पारिवारिक विघटन को जन्म दे रहा है।

अब अगर हम संयुक्त परिवार-प्रथा पर प्रकाश डालें तो पाते हैं कि 1960 के पश्चात् से ही औद्योगीकरण एवं नगरीकरण का विकास हुआ है, तबसे व्यक्तिवादिता और आधुनिकीकरण के प्रसार के फलस्वरूप संयुक्त परिवार-प्रथा का विघटन एकल परिवार में हो रहा है। अब संयुक्त परिवार वैमनस्य, द्वेष और कलह के घर बनकर रह गए हैं। अब समाज एकल परिवार प्रणाली की ओर अग्रसर है। डॉ॰ ओ॰पी॰ सारस्वत ने एकल परिवार को परिभाषित करते हुए कहा है— 'आणविक परिवार का ढाँचा माँ-बाप और उसकी संतति पर आधारित है।³ पाश्चात्य देशों की व्यक्तिवादी चेतना का प्रभाव भारतीय जन-जीवन पर पड़ा। व्यक्ति-स्वातंत्र्य का संयुक्त परिवार से मेल नहीं बैठता। हर कोई अपने परिवार के साथ अलग रहना चाहता है। भाई-भतीजा, चाचा-चाची, ताऊ-ताई ये सब दूर के रिश्ते बनकर रह गए हैं। स्त्री भी अपने पति व बच्चों के साथ अलग घर में रहना चाहती है। उसे अपने पति के माता-पिता, भाई-बहन पसंद नहीं हैं। वह स्वतंत्रता चाहती है। यदि उसे आज्ञादी नहीं मिलती तो वह छटपटाती है और सास-ससुर के साथ प्रतिदिन झगड़ा करती है। जिसके परिणामस्वरूप परिवार का बँटवारा या उस स्त्री द्वारा आत्महत्या तक हो सकती है। आज किसी को भी अपनी स्वतंत्रता में हस्तक्षेप पसंद नहीं है। हर कोई बंधन-मुक्त होने के लिए तब तक छटपटाता है, जब तक उसे मुक्ति या मुक्ति (मृत्यु) न मिल जाए। वैसे तो यह समस्या मूलतः मध्यम परिवार की है, लेकिन उच्च वर्गीय परिवार भी इस समस्या से जूझते रहे हैं।

उपेंद्रनाथ 'अशक' कृत नाटक 'अलग-अलग रास्ते' में त्रिलोक एक संयुक्त परिवार में रहता है। वह लंपट और धूर्त है, जो केवल पैसे, मकान तथा मोटर के लोभ में पंडित ताराचंद की पुत्री रानी से विवाह कर लेता है। वह पैसे की संस्कृति (उच्च वर्ग) में पला है। इसलिए पैसा ही उसके लिए सबकुछ है। वह उस वर्ग का प्रतीक है, जिसकी नींव खोखली हो चुकी है, जिसके भवन के मीनार किसी भी झटके से धराशायी हो सकते हैं और जो केवल झूठी प्रतिष्ठा और ऊपरी दिखावे के बल पर ही जी रहा है। इसलिए वह दहेज न लाने के कारण रानी से तलाक़ ले लेता है। वह फिर से दहेज पाने के लालच में अपने संयुक्त परिवार को छोड़कर पृथक् गृहस्थी बसाने के लिए तैयार हो जाता है। इस पर रानी का भाई पूरन संयुक्त परिवार के महत्त्व को समझाते हुए परिवार के महत्त्व से कहता है—

पूरन : सम्मिलित परिवार से निकलने के ही लाभ नहीं रहने के भी बड़े-बड़े लाभ

हैं, वकील साहब। यह ठीक है, कई भावुक इसके ढूँढ को व्यर्थ ही पानी दिया करते हैं, परंतु...।⁴

विष्णु प्रभाकर कृत नाटक 'टूटते रिश्ते' से भी हमें इसी तरह संयुक्त परिवार की टूटन दृष्टिगोचर होती है। नाटक का पात्र विश्वजीत कहता है— 'बचपन में मैंने 40-40 लोगों के बीच बैठकर पूजा की है। पुरोहित का जोर-जोर से वह मंत्र-पाठ करना मुझे आज भी याद है...।'⁵

परंतु विश्वजीत का यह 40 सदस्यों का परिवार सात आठ सदस्यों तक सीमित होकर रह गया है। पहले विश्वजीत के भाई अलग हुए, फिर बेटे भी अलग हो गए। बेटे तो ऐसे अलग हुए कि जैसे इस घर से उनका कोई संबंध ही न था। दीपावली के दिन लक्ष्मी-पूजन के समय वे उन दिनों की याद ताजा करते हुए कहते हैं—

विश्वजीत : कैसा वक्त आ गया है। एक वह हमारा ज़माना था, कितना प्यार, कितना मेल, एक कमाता था, दस खाते थे।⁶

इन्हीं मानवीय संबंधों की टूटन के कारण समाज में अनेक विसंगतियाँ जन्म लेती हैं। वस्तुतः समाज सामाजिक संबंधों के कारण ही समाज बनता है। सामाजिक एकता और मातृत्व भाव इन्हीं संबंधों पर आधारित होते हैं। मानवीय मूल्यों की स्थापना यही होती है। दसवें दशक में ये सभी स्थितियाँ उभरकर सामने आईं। इन समस्त स्थितियों को दृष्टिगत रखकर लेखक लाल जी वर्मा ने 'दुविधा' की रचना की है। इस नाटक के पात्र ही आधुनिकता व प्राचीनता के प्रतीक हैं। उनके नाम से ही हमें यह आभास हो जाता है कि आदिकाल और आज के औद्योगिक युग में कितना अंतर आ गया है। इसका पात्र 'आदिकाल' एक परंपरावादी व्यक्ति का प्रतीक है, जो अपनी प्राचीन परंपराओं का निर्वाह आज के युग में भी करना चाहता है। लेकिन 'प्रगति' (पात्र) उसको दफ़न कर चुका है। वह उन परंपराओं से छुटकारा पाना चाहता है। वह अब 'आदिकाल' को ज़िंदा देखकर हैरान है। आदिकाल अर्थात् प्राचीन परंपराएँ अपने अस्तित्व के लिए सिसक रही हैं, लेकिन 'प्रगति' अर्थात् आधुनिकता उसे दफ़न कर देना चाहती है। इस संवाद से यह तथ्य अधिक सार्थक सिद्ध होता है—

प्रगति : अरे! तुम्हें तो मैं काल-सिंधु में गहरा दफ़ना आया था। तुम भला कैसे निकल आए।

आदिकाल : क्यों, तुम्हें आश्चर्य हो रहा है न! पर तुम विधाता तो हो नहीं। मेरी रचना तो सृष्टि के साथ हुई थी। आदि में पैदा हुआ, अनादि तक मेरी आयु...।⁷

भारतीय संस्कृति की आस्थावादी भावधारा भौतिकवाद के उन्मादी शिकंजे में एक विशेष प्रकार की घुटन अनुभव कर रही है। व्यक्ति, परिवार और समाज की मूलभूत संकल्पनाओं में गहरी दरारों के कारण नित नया विस्फोट हो रहा है। भीषण और विकराल जीवन परिस्थितियों से लोहा लेने की क्षमता और शक्ति का आम आदमी में अभाव हो रहा है। 'सनातन सत्य' नाटक की रचना-प्रक्रिया के मूल में कुछ ऐसी ही चुनौतियाँ आकार लेकर परिणाम का कारण बनी हैं। इसे 'सनातन सत्य' का आम व्यक्ति स्वीकार कर चुका है। बदलते हुए वक्त ने उसे स्वीकार कर लिया है तथा चुनौतियों के स्वर में अपना जीवन-राग ढूँढने पर विवश है। उसने समय के साथ समझौता कर लिया है। कुछ इस तरह—

लक्ष्मी : हमारा समय कुछ और था, पगली! तब घर देखा जाता था, खानदान देखा

जाता था।⁸

दसवें दशक का मनुष्य भले ही औद्योगिक युग में जी रहा है, भले ही स्वयं को आधुनिकता से पूरिपूर्ण मान बैठा हो, लेकिन भाग्यवाद आज भी उसके घर और मन में जड़ जमाए बैठा है, यही दर्शाया है सनातन सत्य की कांता ने इस संवाद में—

कांता : बस, मेरा मतलब भी यही है। भाग्य ने साथ दिया तो सब कुछ ठीक हो जाएगा और यदि भाग्य ही ख़राब हुआ तो अधिक पढ़ने-लिखने से भी क्या होनेवाला है।⁹

जीवन की सफलता, असफलता भाग्य पर ही आधारित है, ऐसा ही सनातन सत्य की सविता कह रही है—

सविता : तुम ठीक कहती हो कांता। मेरे भाग्य में ही कुछ ऐसा विधान है। जाने क्या-क्या सपने सजोएँ थे मैंने? कल्पना को साकार करने की प्रबल इच्छा आज जाने घोर अंधकार में कहाँ खो गई? कभी-कभी सोचती हूँ इस जीवन में बसंत अब नहीं लौटेगा।¹⁰

जीवन संघर्ष तो कठिन था ही, उसका सामाजिक पखवाड़ा और भी अधिक तनावपूर्ण होता जा रहा है। हर किसी को मानसिक-तनाव की बीमारी लगी हुई है। जैसा कि इस संवाद से स्पष्ट हो जाता है—

डॉ० ज्योति : आप ऐसा प्रयास करें कि जिस कारण इसे मानसिक दबाव बढ़ता है, टाला जा सके।

लक्ष्मी : यही तो संभव नहीं हो पा रहा, डॉक्टर।

डॉ० ज्योति : फिर तो 'डिप्रेशन' बढ़ता जाएगा और केस बिगड़ भी सकता है।¹¹

दसवें दशक के परिवारों का विघटन व संघर्षशीलता के विषय में तो हम लिख ही चुके हैं। बढ़ते जीवन-संघर्ष से डिप्रेशन जैसी बीमारियाँ फैल रही हैं, जिससे स्त्री-पुरुष के संबंधों में भी काफ़ी बदलाव आए हैं। दसवें दशक के समाज में आए परिवेशगत बदलाव को नाट्य विधा में एक उचित स्थान मिला है और लेखकों ने इसे ख़ूब उभारा है ताकि यह जन-मानस की चेतना को जाग्रत करे और इस समस्या का समाधान ढूँढा जा सके। अजय शुक्ला ने अपने नाटक 'दूसरा अध्याय' में स्त्री-पुरुष संबंधों के परस्पर बदलाव को दर्शाया है। दांपत्य जीवन की नैतिकता तथा संस्कारों की जकड़ इतनी ढीली पड़ चुकी है कि स्त्रियाँ शादी जैसे बंधन को तोड़कर स्वतंत्रता पा लेना चाहती हैं।

दांपत्य जीवन में मानवीय संबंधों के बीच की दुविधा और कटोचने वाली पीड़ा का चित्रण है। 'दूसरा अध्याय' नाटक में। देखा जा सकता है। इस नाटक में भारतीय नारी की दसवें दशक की स्थितियों पर प्रकाश डाला गया है कि किस तरह वह अपनी इच्छाओं को मारकर जी रही है और भारतीय नारी के गुणों को ढो रही है। वह स्वतंत्रता के लिए छटपटा रही है—

अभय : नीरजा। मैं बताऊँ... मुझे आज तक समझ में ये नहीं आया कि इन सामाजिक बंधनों को बंधन क्यों कहते हैं। बंधन इज बोन्डेज। स्लेवरी।

नीरजा : तुम कहना क्या चाहते हो, मैं दिवाकर को छोड़ दूँ।

अभय : मैं कह रहा हूँ, तुम वो करो, जिससे तुम्हें शांति मिले, जिसमें तुम्हें आस्था हो

किसी को दिखाने के लिए झूठा जीवन मत जिओ बस।

नीरजा : अभय! तुमसे मिलकर... अब मन से तो मैं कभी दिवाकर के साथ नहीं रह सकती। शायद पहले भी नहीं रही। पर जो भी हुआ अब ये... बच्चे... वो मेरी एक वास्तविकता है और उनके बारे में मेरे मन में कोई मतभेद नहीं है।¹²

दसवें दशक की नारी अपने कैरियर के विषय में पूरी तरह से जागरूक है वह हर कार्य सोच-समझकर करने लगी है। उदाहरण प्रस्तुत है—

लक्ष्मी : यही तो तुम्हारी जिद हमारे लिए संकट है।

कांता : कोई संकट-वंकट नहीं है मम्मी। मैं छोटी जरूर हूँ, परंतु समझती सब हूँ। समझ-सोचकर ही मैंने आगे न पढ़ने का निर्णय लिया है।¹³

इतना ही नहीं वक्त आने पर वह बड़े-से-बड़ा फैसला करने के लिए तत्पर रहती है। अब वह हर जगह उचित स्थान व सम्मान पाना चाहती है। यदि उसे उसकी इच्छित वस्तुएँ नहीं मिलती तो वह उसे छोड़ देने में बिल्कुल नहीं सकुचाती। यदि दूसरी स्त्री उसे कमजोर बनने के लिए कहे तो भी वह कमजोर नहीं बनना चाहती। 'सनातन सत्य में कांता के द्वारा कुछ ऐसा ही देखने को मिलता है। उसकी बहन सविता तीन साल से अमेरिका में रह रहे अपने पति पद्मनाथ का इंतजार कर रही है। वह उसे हर पत्र में वापस लौटने के झूठे आश्वासन दे रहा है, लेकिन कांता अपनी बहन को उसे भूल जाने के लिए कहती है—

कांता : बस, उसे भूल जाओ।

सविता : किसे?

कांता : जिसने तुम्हें धोखा दिया है। हर तरह से ठगा है।

सविता : भाग्य!

कांता : नहीं दीदी! भोली मत बनो। पद्मनाथ को भूल जाओ। अपने पतिदेव को भूल जाओ उसी तरह जैसे भयंकर स्वप्न को कोई याद नहीं करता।

सविता : मेरे लिए यह संभव नहीं है। शायद तुम भी ऐसा न कर पातीं।¹⁴

स्त्रियाँ कितनी भी सुदृढ़ और आत्मनिर्भर हो जाएँ, लेकिन भारतीय समाज की प्राचीन परंपराएँ उसे अपनी जकड़न से बाहर नहीं निकलने देती। हाँ, यह सत्य है कि वह छटपटा जरूर रही है और कभी-कभी उसकी छटपटाहट भी इतनी संकीर्ण होती है कि वह अंदर-ही-अंदर तो छटपटा लेती है, परंतु उसकी यह छटपटाहट बाहर नहीं निकल पाती। इसका कारण है सामाजिक बंधन। यह समाज के बंधनों में इतनी बँधी हुई है कि अपनी आकांक्षाओं यदि दबा नहीं सकती तो उसके पास एक मात्र साधन है— आत्महत्या। 'सुरेश वशिष्ठ के नाटक 'रेत के ढेर' में।

कुछ ऐसा देखने को मिलता है— 'रीतु की शादी एक अपूर्ण व्यक्ति के साथ हो जाती है। वह इस अपूर्णता को अन्य किसी के समक्ष प्रकट नहीं कर पाती। स्वयं उसकी अपूर्णता की वजह से अपनी जवानी की आग बुझाने के लिए अपने अवयस्क देवर का सहारा लेती है, लेकिन कब तक वह उसके वयस्क होने का इंतजार करती और अंत में एक मात्र साधन मृत्यु या आत्महत्या ही नज़र आया और वह आत्महत्या कर अपने को तो मार लेती है, लेकिन सामाजिक बंधनों को नहीं तोड़ पाती।¹⁵

ऐसा नहीं है कि मात्र स्त्री ही इन बंधनों के साथ समझौता कर रही है, बल्कि पुरुष

भी समझौता करता आया है। उसे भी सामाजिक बंधनों के कारण आत्महत्या करनी पड़ती है। 'आत्महत्या की दुकान' में आशा वर्मा ने इसी विषय पर प्रकाश डाला है— जब एक व्यक्ति अपनी बेटी की शादी करने के लिए दहेज नहीं जुटा पाता तो आत्महत्या करना चाहता है ताकि बीमा-राशि से इसकी बेटी के लिए दहेज जुटाया जा सके।'¹⁶

निष्कर्षतः दसवें दशक की सामाजिक स्थितियाँ बड़ी ही नाजुक थीं। स्त्री-पुरुष दोनों ही आधुनिकता की दौड़ में शामिल हो चुके थे, लेकिन उन पर सामाजिक बंधनों का गुरुभार रखा था, जो उनके हटाए भी न हट रहा था। प्राचीन परंपराएँ सामाजिक बंधन व उनकी संस्कृति उनके लिए बोझ बन चुकी थी। वे इस बोझ से मुक्ति पाना चाहते थे लेकिन उनके अंदर का आदमी टूट चुका था। बाहर से छटपटाना तो कहीं-कहीं ही से दिखाई पड़ रहा था। लेकिन अंदर-ही-अंदर स्त्री-पुरुष दोनों ही इन बंधनों से मुक्ति चाहते थे। इन सभी विषयों पर भारतीय समाज को आइना दिखानेवाले लेखकों ने अपनी कलम की रोशनी में अपने नाटकों को माध्यम बनाकर उकेरने की कोशिश की है। पाठक भी इस उच्चवर्गीय छटपटाहट से जागरूक हुआ और उसने महसूस किया है कि यह छटपटाहट मात्र उच्चवर्गीय चेतना का ही बिगुल नहीं बजा रही, बल्कि यह चेतना तो मध्यमवर्गीय चेतना के साथ ही निम्नवर्गीय चेतना को भी साकार रूप दे रही है।

संदर्भ

1. हिंदी उपन्यास और जीवन मूल्य, डा० मोहिनी शर्मा, पृ० 146
2. स्वातंत्र्योत्तर हिंदी-कहानी में मानव-प्रतिभा, हेतु भारद्वाज, पृ० 45
3. बदलते मूल्य और आधुनिक नाटक, डा० ओ० पी० सारस्वत, पृ० 135-136
4. अलग-अलग रास्ते, उपेंद्रनाथ 'अशक', पृ० 95
5. टूटते रिश्ते, विष्णु प्रभाकर, पृ० 33
6. वही, पृ० 33
7. दुविधा, लालजी वर्मा, पृ० 14
8. सनातन सत्य, देवराज पथिक, पृ० 13
9. वही, पृ० 13-14
10. वही, पृ० 17
11. वही, पृ० 21
12. दूसरा अध्याय, अजय शुक्ला, पृ० 22
13. सनातन सत्य, देवराज पथिक, पृ० 12
14. वही, पृ० 28
15. रेत के ढेर पर, सुरेश वशिष्ठ
16. आत्महत्या की दुकान, आशा वर्मा

□ पठानिया पब्लिक स्कूल, रोहतक (हरियाणा)

हरियाणवी संस्कार गीत

डॉ० हरिशरण वर्मा

‘संस्कार’ का साधारण अर्थ है, किसी वस्तु को ऐसा रूप देना, जिसके द्वारा उसे उपयोगी बनाया जा सके। हमारी भारतीय संस्कृति का मुख्य ध्येय है— मनुष्य के विचारों का परिष्कार करके जीवन को आदर्श रूप देना। इस कार्य में निमित्त भिन्न-भिन्न संस्कार भिन्न-भिन्न अवसरों पर किए जाते हैं। भारतीय जनमानस संस्कार को सर्वोपरि स्थान देता है, अतः हमारे जीवन के सभी कार्य सदाचार एवं सुसंस्कार के अनुगामी होते हैं। उनका प्रमुख लक्ष्य मंगलमय जीवन होता है। भारतीय धर्मशास्त्रों में षोडश संस्कारों का उल्लेख किया गया है। आदिकाल में ये संस्कार मनुष्य के पथ-प्रदर्शन का महत्त्वपूर्ण कार्य करते थे तथा प्रत्येक भारतीय के अनिवार्य अंग होते थे।

संस्कार गीतों के संबंध में विद्वानों ने अपने-अपने विचार भिन्न-भिन्न ढंग से व्यक्त किए हैं। डॉ० सत्या गुप्ता का मत है कि संस्कार और मानवीय कार्यकलाप, विश्वास तथा दर्शन द्वारा निर्मित दो किनारे हैं, जिनसे होकर जीवनधारा प्रवाहित रहती है। यही दो किनारे धारा को मर्यादित, संतुलित तथा नियमित होने में सहायता करते हैं। इनका अतिक्रमण साधारण रूप से नहीं होता, यदि होता है तो उसको सामाजिक, धार्मिक तथा ऐसी ही किसी क्रांति के नाम से पुकारा जाता है।¹ डॉ० श्रीधर मिश्र का कथन है कि परिवार ही मानव की प्रथम पाठशाला है। यहीं से शिक्षा प्रारंभ होती है और परिवार से ही हमारे संस्कार प्रारंभ हाते हैं।² डॉ० बैरिस्टर सिंह यादव का मत है कि संस्कार की दृष्टि से हमारे यहाँ जन्म-पूर्व से लेकर मृत्यु के पश्चात् तक संस्कारों का विधान है। जीवन-भर, अवस्था और अवसर के अनुसार, कोई-न-कोई संस्कार होता ही रहता है।³ सोहनदास चरण के मतानुसार— हिंदुओं की धार्मिक मान्यताओं के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति जन्मना शूद्र होता है पर संस्कारों के द्वारा वह ब्राह्मणत्व प्राप्त कर सकता है।⁴ महार्पाडित राहुल सांकृत्यायन के विचार में, हमारा समस्त जीवन धर्म के ताने-बाने से बुना हुआ है। जन्म के पहले से लेकर मृत्यु के बाद तक हिंदू-जीवन विभिन्न संस्कारों से संबद्ध है। संस्कारों के अवसर पर स्त्रियाँ अपने कोमल कंठ से गीत गा-गाकर जनमन का अनुरंजन करती हैं।⁵ श्यामचरण दूबे का कथन है कि मानव की प्रायः प्रत्येक संस्कृति में व्यक्ति की जीवन-यात्रा के विभिन्न संक्रमण कालों का विशेष महत्त्व होता है। जन्म, विवाह एवं मरण इस प्रकार की तीन मुख्य स्थितियाँ हैं, जिनके आस-पास मानव-समूह विश्वासों, रीति-रिवाजों और व्यवहारों का एक ऐसा जटिल ताना-बाना बुन लेता है कि उनके वास्तविक स्वरूप को समझे बिना उस संस्कृति का पूर्ण चित्रण प्राप्त ही नहीं किया जा सकता। इनके अतिरिक्त नामकरण, वयःसंधि, रजोदर्शन आदि की स्थितियाँ भी महत्त्वपूर्ण होती हैं और अनेक संस्कृतियों की समाज-व्यवस्था में उन्हें पार करने में व्यक्ति भी सामाजिक स्थिति एवं उसके अधिकारों और कर्तव्यों में मूलभूत परिवर्तन हो जाते हैं। समाज-संगठन का यह पक्ष मानव के उत्तरोत्तर परिवर्तित होनेवाले उत्तरदायी एवं कार्यों की दिशा निश्चित करता है।⁶

पूर्णिमा श्रीवास्तव का विचार है— ‘संस्कार-गीतों के कारण ही बहुत से संस्कार जीवित हैं। जब तक ये संस्कार से संबंधित लोकगीत रहेंगे, तब तक संस्कार भी जीवित रहेंगे। चाहे सामाजिक व्यवहार में इन संस्कारों का प्रचलन समाप्त हो जाए, परंतु व्यक्ति के सामने कुछ-न-कुछ संस्कारों की रूप-रेखा तो रहेगी। संस्कार-गीत भूले-भटके मनुष्यों को याद दिलाते रहेंगे कि हम क्या थे और क्या हो गए?’⁷ संस्कार-गीत, ‘विभिन्न अवसरों पर समवेत रूप में गाए जाते हैं। इनके कारण उन संस्कारों की पवित्रता और महत्ता को चार-चाँद लग जाते हैं। इसीलिए इनमें रस हैं, भाव-प्रवणता है, करुणा है, विचारोत्तेजकता है, आह्लादित एवं विभोर कर देने की अद्भुत क्षमता है। सारे-के-सारे गीत एक विचित्र प्रकार की रसमयता से ओतप्रोत हैं।’⁸

संस्कारों से ही संस्कृति बनती है और इन संस्कार-गीतों को सुनकर किसी भी संस्कृति को जाना जा सकता है।⁹ आज भी सामान्य जीवन में संस्कारों का महत्त्व है। इन संस्कारों को जीवन प्रदान करनेवाले तथा उन्हें सरस बनानेवाले संस्कार-गीतों की हम उपेक्षा नहीं कर सकते।¹⁰

डॉ० सत्या गुप्ता ने लिखा है— ‘संस्कार-गीतों में नारी-जीवन की संपूर्ण व्याख्या, सभ्यता-संस्कृति, आचार-विचार, रीति-रिवाज आदि का उल्लेख मिलता है, जो कि अक्षरशः सत्य होता है। उसमें असत्यता, अतिरंजना तथा अस्वाभाविकता का तो कहीं स्थान भी नहीं होता। इन गीतों में न कला है न भाषा-सौष्ठव और न गीतकारों ने इनकी रचना बंद कमरों में ही की है।¹¹ गीतों में वर्णित संस्कारों और लोकाचारों के अतिरिक्त बहुत-सी प्रचलित प्रथाओं और धारणाओं के भी उल्लेख मिलते हैं।¹² लोकगीतों का संस्कार से अनिवार्य संबंध है। गीतों के बिना कोई संस्कार संपन्न ही नहीं होता।¹³ संस्कार-गीत कवित्व की दृष्टि से भी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, यह बात अनुष्ठान के समय गाए जानेवाले औपचारिक गीतों के संबंध में नहीं कही जा सकती। औपचारिक गीतों के अतिरिक्त अन्य समस्त संस्कार-गीत, रस, लय, मर्मस्पर्शिता सभी दृष्टियों से बहुत समृद्ध हैं।¹⁴ इन संस्कारों को संपन्न करने में वेद-वर्णित विधान ब्राह्मणों का व्यापार रहा है, तो लोक-प्रचलित मान्यताओं और अनुष्ठानों का उत्तरदायित्व गृहणियों पर रहता है। नारी-समुदाय द्वारा संपन्न किया जानेवाला यह महत्कृत्य लोकगीतों की मधुर स्वर-योजना से गुंजरित रहता है।¹⁵ संस्कारों के सुअवसर पर महिलाएँ अपने कोकिल कंठ से हृदय का उल्लास और उछाह प्रकट करती हैं। नारियाँ कोमल और मधुर स्वर में हर्ष-आह्लाद में विभोर हो नाच-गाकर जन-मन का अनुरंजन करती हैं। जन्म और विवाह के गीतों में उल्लास और आह्लाद की पावस-सरिता उमड़ती दिखाई पड़ती है।¹⁶ धर्म भारतीय लोगों का प्राण है। धर्म का उनके जीवन में प्रमुख स्थान है। भारतीय मानव जन्म से मृत्युपर्यंत जीवन-संस्कारों से बँधा हुआ है। भारतीय धर्म में सोलह संस्कारों का विधान है। इन विभिन्न संस्कारों पर स्त्रियाँ गा-गाकर जन-मन का अनुरंजन किया करती हैं। मृत्यु के अवसर पर अत्यंत हृदयविदारक गीत गाया करती हैं। ऐसे गीत संख्या में अधिक नहीं हैं।¹⁷

डॉ० कृष्णदेव शर्मा के मतानुसार— ‘लोकगीतों का संबंध देश-विदेश की सामाजिक मनोभूमि से निकट का होता है। सच तो यह है कि उसका निर्माण ही सामाजिक मनोवृत्ति की पृष्ठभूमि पर होता है। लोकगीतों में वहाँ की सामान्य जनता की रीति, परंपरा, विश्वास आदि का प्रतिफलन होता है। जहाँ तक भारतीय लोकगीतों की बात है, क्षेत्रीय वैभिन्य होते हुए भी उनमें देश की संस्कारगत विशेषताएँ सर्वत्र सुरक्षित हैं।¹⁸ केवल मृत्यु-संस्कार के अतिरिक्त सभी अवसरों पर

स्त्रियाँ अपने मधुर कंटों से गीत गाकर अपने हृदय का उल्लास और आनंद प्रकट करती हैं। जहाँ इन संस्कारों के गीतों में उल्लास और प्रसन्नता की भावना हिलोरें लेती है, वहीं मृत्यु के गीतों में विषाद की अमिट रेखा रहती है।¹⁹ पावरा जनजाति में सोलह संस्कारों में से केवल पुत्र-जन्म, विवाह, गौना और मृत्यु ही प्रधान संस्कारों के रूप में सुसंपन्न किए जाते हैं। मृत्यु को छोड़कर उक्त सभी संस्कारों के अवसर पर स्त्रियाँ सुमधुर गीत गाकर अपने हृदय का उल्लास तथा आनंद प्रकट करती हैं।²⁰ जीवन के मांगलिक पक्ष और संस्कारों से संबद्ध सभी लोकगीत कभी गढ़वाल में माँगल कहलाते थे। इस दृष्टि से सोलहों संस्कारों के गीत माँगलों के अंतर्गत आते हैं, किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि धीरे-धीरे अन्य संस्कारों के गीत विस्मृत होते गए और बाद में माँगल शब्द केवल विवाह-गीतों के लिए ही रूढ़ हो गया। हिंदी और उसकी बोलियों में भी माँगल अथवा मंगल शब्द में यही अर्थ-संकोच हुआ है। इसका मुख्य कारण यह प्रतीत होता है कि धीरे-धीरे कई संस्कार केवल अनुष्ठानिक बन गए और उनके साथ सन्निहित उल्लास-भाव लोक में लुप्त होता गया। अतः केवल उन संस्कारों की ही महत्ता लोकगीतों में बनी रही, जो आत्माभिव्यक्ति और उल्लास के माध्यम थे। यही कारण है कि अन्य गीतों की अपेक्षा शिशु-जन्म और विवाह के गीत ही अधिक मात्रा में सुरक्षित रह पाए। यह ठीक है कि संस्कार हिंदुओं के जन-जीवन में अनिवार्य अंग बनकर रहे हैं, किंतु देश-काल की परिस्थितियों के अनुसार— उनकी वास्तविक आत्मा लुप्त होती गई। फलतः उनका कर्मकांडी रूप केवल व्यावसायिक रूप में ब्राह्मणों तक ही सीमित रह गया। लोक के पास केवल इन संस्कारों से संबद्ध हर्ष, उल्लास और विषाद की अनुभूति और अभिव्यक्ति-मात्र अवशिष्ट रही।²¹ संस्कारों की एक विशेषता यह है कि उनके साथ मूल्य-गर्भित विश्वास और विचार लगे रहते हैं। इन्हीं के लिए मनुष्य जीना चाहता है। इन संस्कारों से संबद्ध लोकगीतों में समाज और व्यक्ति की आशाओं, आकांक्षाओं, जीवन की समस्त विचारधाराओं एवं गतिविधियों की अभिव्यक्ति को पूर्ण अवकाश प्राप्त होता है।²²

उक्त मान्यताओं से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारतीय धर्म-शास्त्रों में सोलह संस्कारों का विधान है, किंतु जन्म, उपनयन, विवाह और मृत्यु-संस्कार ही आजकल प्रधान रूप से मनाए जाते हैं। वैसे जीवन-भर अवस्था और अवसरानुसार कोई-न-कोई संस्कार होता ही रहता है। इस प्रकार से भारतीय मानव का संपूर्ण जीवन ही संस्कारों से बँधा हुआ है।

ये संस्कार-गीत सुख या प्रसन्नता के अवसर पर खुशी उत्पन्न करते हैं, तो दुख के वातावरण में शोकातुर हो करुण्य का दृश्य भी उपस्थित करते हैं। इस प्रकार से संस्कार-संबंधी गीतों में जन्म से मृत्युपर्यंत तक समस्त संस्कारों का उल्लेख हमें मिलता है तथा इनके लोक-महत्त्व का भी पता चल जाता है। इन संस्कार-गीतों में जीवन का पूर्णरूपेण यथातथ्य-चित्रण अंकित रहता है।

प्रत्येक देश-प्रदेश व समाज के संस्कार-गीतों में उस समाज की संस्कृति व सभ्यता स्पष्ट रूप से झलकती रहती है, क्योंकि इनके बिना गीत का निर्माण होना असंभव है। इस प्रकार से संस्कार-गीतों के माध्यम से जिस प्रदेश व समाज के द्वारा निर्माण किए जानेवाले गीत हैं, उनमें वहाँ के समाज के जीवन, रीति-रिवाज आदि का वास्तविक चित्रण देखने को मिलता है। परंपरा से चली आ रही प्रथाएँ स्वभाव या लोकाचार बन जाती हैं, यह सत्य भी संस्कार-गीतों के माध्यम से प्रकट होता है।

संस्कार-गीत भावाभिव्यक्ति का एक साधन है। अतः इन गीतों का मूल प्रेरणास्रोत वही

है, जो अभिव्यक्ति की अन्य विधाओं का। 'मनुष्य की अंतरात्मा अपने चारों ओर व्याप्त सृष्टि को जिस रूप में ग्रहण करती है, उसी रूप में उसको अभिव्यक्त करना चाहती है।'²³ संस्कार-गीतों की पृष्ठभूमि के रूप में अभिव्यक्ति की उन्हीं मूल प्रेरणाओं को स्वीकार करना उचित प्रतीत होता है। सुविधा के लिए इन मूल प्रेरणाओं को परिस्थितियों के आधार पर चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—

1. पारिवारिक परिस्थितियाँ :

मनुष्य जन्म लेने के उपरांत सबसे पहले अपने परिवार के अच्छे-बुरे वातावरण से ही प्रभावित होता है। यही प्रभाव आजीवन उसके साथ रहता है। संस्कार-गीतों में इन्हीं अच्छे-बुरे तत्वों के प्रभावों की अभिव्यक्ति रहती है। पारिवारिक जीवन का वास्तविक चित्र समय-समय पर मनाए जानेवाले संस्कारों के अवसर पर गाए जानेवाले गीतों में प्रतिबिंबित रहता है। संस्कार-गीतों के गीतकारों का परिवार, घर-बाहर सर्वत्र इनके गीतों में विद्यमान रहता है। इसीलिए पारिवारिक जीवन की व्यापक अनुभूति उन्हें अपेक्षाकृत अधिक होती है और उन्हीं अनुभूतियों के कारण उनके मधुर स्वरों में ये गीत गूँजने लगते हैं। इन गीतों में माता और पुत्र का अटूट प्रेम, पिता और पुत्र की आत्मीयता, सास-बहू संबंध, नंद-भावज की आपसी बात-चीत, पति-पत्नी के प्रेमालाप, देवर-भाभी का सहज प्रमोद, देवरानी-जिठानी का बहन जैसा संबंध, जीजा-साली का हास्य-व्यंग्य, भाई-बहन का पवित्र प्यार आदि समस्त पारिवारिक सद्भावनाओं का परिचय इन संस्कार-गीतों में प्राप्त हो जाता है। संतान उत्पन्न होने के समय स्त्री असह्य प्रसव-पीड़ा से छटपटाने लगती है। प्रसूता नारी इस प्रसव-पीड़ा से व्याकुल होकर परिवार की अन्य स्त्रियों अर्थात् सास, जिठानी, देवरानी आदि का स्मरण करती है। पुत्र उत्पन्न होने के उपरांत संपूर्ण परिवार आनंदोत्सव मनाया है। परिवार के एक सदस्य के सुख का दायित्व समस्त व्यक्तियों पर होता है। पति-पत्नी के आदर्श प्रेम, मिलन आदि का वर्णन भी इन संस्कार-गीतों में वर्णित रहता है। पति ही पत्नी का सर्वस्व होता है। उसके सान्निध्य में ही उसे समस्त सुखों की प्राप्ति होती है। एक नवयुवती अपने पति को हज़ारों में भी पहचान लेती है। पति भी अपनी गुलाब जैसी पत्नी को अनेक सहेलियों के बीच में पहचान लेता है—

पत्नी : पिया तोहे पिछान लूँ,
मैं तो भरी कचहरी बीच,
जैसे आभा बिजली
चमकै काला बादल बीच
पति : गोरी तोहं पिछान लूँ
सात सेहेलियन बीच।
जैसे फूल गुलाब को
रह्यों केसर क्यारी बीच।²⁴

जहाँ पति-पत्नी का एक-दूसरे के प्रति इतना अधिक प्यार हो और पति महोदय बाहर नौकरी पर जाए, वहाँ से वे छह मास बाद वापस आने पर भी पत्नी से न बोले तो भला पत्नी पर क्या बीतेगी। पर यह सब नखुरा व गुस्सा दिखावटी होता है, जो क्षणिक में रती हो जाता है। संयुक्त परिवारों में प्रेम का क्षेत्र विशाल और विस्तृत होता है। समस्त संबंध उसमें समाविष्ट रहते

हैं। भाभी-ननद के संबंध बड़े ही मधुर होते हैं, जब कोई युवती पति-प्रेम में पागल हो जाती है तो वह अपनी ननद से ही कहती है और ननद ही उसे दिलासा देती है।

भाभी : ननदी ऐसा खत लिखवाओ, मेरे प्रीतम को बुलाओ।

ननद : भाभी मेरा बीर नहीं आवै, वह तो पहुँचा जिला मुलतान में।²⁵

ननद के अतिरिक्त ग्रामीण वधू की परिवार के अन्य सदस्यों के प्रति भी अनेक जिम्मेदारियाँ होती हैं, जिनको वह लोक-लाज से निभाती रहती है। उसका पति चाहे भारत की राजधानी दिल्ली में नौकरी करता हो, परंतु हरियाणवी ग्रामीण वधू को गाँव में रहकर ही प्रातः से सायं तक परिवार की अनेक जिम्मेदारियों को निभाना पड़ता है। परिवार का प्रत्येक सदस्य साधिकार उसको आदेश देता है और वह उन आदेशों की पालना करती रहती है। परिवार में माँ-बहन का स्नेह भी संस्कार-गीतों में सर्वत्र देखा जा सकता है। माँ पुत्र को बचपन में अपना दूध पिलाकर बड़ा करती है, तो बड़ी बहन उसे गोद खिलाती है और विवाह होते समय उसे इन सब बातों की स्मृति दिलाती है।

दूध की धार मारूँ, माता नै कदै सूँ गुमानी भूल नहीं जा।

याद दिलाऊँ सूँ अक आवैगी इब नई बहूँ राणी बेटा भूल नहीं जा।

भाई का सुखी हो शरीर, जुग-जुग जीवो मेरा बीर,

याद दिलाऊँ सूँ अग मां जाई की या सै निसानी बीरा भूल नहीं जा।²⁶

इस प्रकार से माता-पुत्र का वात्सल्य-प्रेम अटूट है। प्रत्येक माता का हृदय अपनी संतान के प्रति आजीवन असीम आत्मीयता से आप्लावित रहता है। जीजा-साली का रिश्ता हास-परिहास का होता है। विवाह के अवसर पर साली जीजा से हँसी-ठिठोली करती रहती है।

मैं तेरी साली तू मेरा जीज्जा, जीज्जा रे साली सूँ बतलाइये हो जीज्जा।

जे तेरी साली घरां नै पावै, आंगणियां में फिर जाइये, हो जीज्जा।

साली सूँ मिल जाइये, हो जीज्जा। साली सूँ मिल जाइये, हो जीज्जा।

सेर मिठाई रोग रूपया, आले में धर जाइये हो जीज्जा।

जै तेरी साली मरी सुणी जै, आंखों में डकराइये हो जीज्जा।²⁷

परिवारों के प्रेममय वातावरण में भाभी-देवर का प्रेम सबसे अधिक माना जाता है, जो हरियाणवी संस्कार-गीतों में देखा जा सकता है।

संस्कार-गीतों में इन सुंदर तत्त्वों की परिवारों के प्रेममय वातावरण के द्वारा अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है। एक ओर सर्वगुण संपन्न, शीलवती-कुलवधू परिवार के सुख-शांति की विधायिका बनकर चौबीसों घंटे अपने कंधों पर बोझ ढोती रहती है तो दूसरी ओर परिवार के अन्य सदस्य उसके सुख-दुख का ध्यान न रखकर मशीन की भाँति उससे काम लेते रहते हैं। एक-न-एक दिन इस प्रकार की परिस्थितियों में परिवार के समस्त संबंध विकृत हो टूट जाते हैं। सास-बहु, भाभी-देवर, साली-जीजा, पति-पत्नी आदि संबंधों का वर्णन इन संस्कार-गीतों में मिलता है।

2. सामाजिक परिस्थितियाँ :

‘लोक’ शब्द मनुष्य-समाज की उस मौलिक स्थिति का परिचायक है, जो अभिजात्य संस्कार, शास्त्रीय और पांडित्य की चेतना और उसके अंहकार से शून्य है और जो एक परंपरा के

प्रवाह में जीवित रहता है। ऐसे लोक की अभिव्यक्ति में जो तत्त्व मिलते हैं, वे लोकतत्त्व कहलाते हैं।²⁸ अपनी समग्रता से मानव सामाजिक, आध्यात्मिक एवं नैतिक सभी तत्त्वों से संबद्ध होता है। इस प्रकार से लोक के साथ समाज का अभिन्न संबंध निर्विवाद है। समाज मानव-निर्धारित व स्वीकृत वह जीवन-पद्धति है, जिसके द्वारा प्रत्येक मनुष्य जीवन-पर्यंत संचालित होता है। अतः लोक को समाज का पर्याय नहीं मानना चाहिए। कभी लोक समाज में रूपांतरित होता है और कभी समाज लोक में। दोनों में जनक और जन्य का संबंध है। किसी भी काल में समाजरहित लोक एवं लोकरहित समाज की कल्पना नहीं हो सकती। 'लोक' समाज का अति व्याप्त भाव रूप है। उसमें समाज एवं असमाज दोनों तत्त्व साथ-साथ विद्यमान रहते हैं। समस्त सामाजिक एवं असामाजिक तत्त्वों से युक्त होकर कला एक अद्वैत सत्ता है, जिसमें भेदात्मकता एक विराट् अभेदमयी स्थिति में परिणत हो जाती है।²⁹

संस्कार-गीतों का रचयिता एक सामाजिक प्राणी होता है, जो अपनी वाणी द्वारा समाज में व्याप्त सभी संस्कारों की क्रिया-प्रतिक्रियाओं एवं भावनाओं को गीतों द्वारा अभिव्यक्त करता है। लोक-मानस अपनी सामूहिक स्थिति के कारण समाज से निकट का संबंध रखता है। समाज एक समूहवाचक शब्द है, जिसमें मनुष्य की सामूहिकता का बोध होता है और इस समूह का प्रभाव हर प्रकार से प्रत्येक मनुष्य पर छाया रहता है। संस्कार-गीतों के निर्माण में यह समूह एक विशाल पृष्ठभूमि का कार्य करता है। समाज में प्रचलित संस्कारों के अवसर पर संपूर्ण मानवीय भावनाएँ, विश्वास और मान्यताएँ, रीति-रिवाज, प्रथाएँ आदि संस्कार-गीतों की प्रेरक परिस्थितियाँ हैं। मानव जन्म से सामाजिक बंधनों से बँध जाता है और प्रत्येक संस्कार के अवसर पर परंपरागत विश्वास एवं मान्यताओं के अनुकूल आचरण करता है। इसी कारणवश संस्कार-गीतों में भी विभिन्न सामाजिक प्रथाओं, रीति-रिवाजों एवं तत्कालीन परंपराओं का उल्लेख प्राप्त होता है।

हिंदू-समाज में प्रत्येक संस्कार के अवसर पर गीत गाए जाने की प्रथा है। इस प्रकार से जीवन के आरंभ से अंत तक होनेवाले कार्य-व्यापारों का सृजन करने में इन गीतों का विशेष योग होता है। कोई भी व्यक्ति अपना संस्कार अकेला रहकर संपन्न नहीं कर सकता। चाहे वह जन्म-संस्कार हो या विवाह-संस्कार या फिर मृत्यु-संस्कार ही क्यों न हो। संस्कार को मानने के लिए उसे समाज के अन्य वर्गों की आवश्यकता पड़ती है। शिशु जन्म पर समाज में रह रही दाई की आवश्यकता पड़ती है।

दाई आवै होलड़ जनावै वानै बी नेग दिवावती फिरै।

जच्चा हाय मैयूया, हाय दैयूया करती फिरै।³⁰

शिशु को पहनने के लिए कंठला, खेलने के झुँझना, पहनने के लिए टोपी आदि भी चाहिए। वह भी समाज के वर्गों द्वारा ही लाए जाते हैं। इन सबका प्रभाव संस्कार-गीतों में रहता है। विवाह-संस्कार के अवसर पर मानव को समाज में रह रहे अनेक वर्गों व जातियों की आवश्यकता पड़ती है, जिनकी अनुपस्थिति में विवाह-संस्कार संपन्न नहीं हो पाता। इनमें पंडित, नाई, कुम्हार, तेली, खाती और सुनार आदि सभी अपनी-अपनी भूमिका को निभाते हैं—

कहिये री उस खाती के लड़के नै खाती के लड़के नै

चौकी तै ल्वायै म्हारै लाल ने

कहिये री उस कुम्हरे के लड़के नै, कूंडा तै ल्यावै म्हारै लाल नै।

कहिये री उस चमरे के लड़के नै, जूते तै ल्यावै म्हारै लाल नै।

कहिये री उस दर्जी के लड़के नै, कपड़े तै ल्यावै म्हारै लाल नै।³¹

इस प्रकार से समाज के विभिन्न वर्गों में व्याप्त विभिन्न रीतियों एवं प्रथाओं का वर्णन संस्कार-गीतों में प्राप्त होता है। भिन्न-भिन्न व्यवसायों और उद्योगों, विभिन्न जातियों के क्रिया-व्यापारों का उल्लेख संस्कार-गीतों में उपलब्ध होता है। उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि समाज का संपूर्ण स्वरूप संस्कार-गीतों में स्थान पाता है।

3. धार्मिक परिस्थितियाँ :

‘धर्म’ भारतीय संस्कृति की आत्मा है। धर्म की सुदृढ़ आधारभूमि पर ही भारत का समस्त गौरव एवं संपूर्ण महत्त्व टिका हुआ है। भारतीय लोक-जीवन में ‘धर्म’ शब्द बड़ा ही व्यापक है। धर्म के इस व्यापक रूप को समझने की शक्ति सामान्य जनता में नहीं है, किंतु फिर भी सामान्य जनता में धर्म ही समस्त कार्य-व्यापारों का संबल है। उनमें धर्म के प्रति असीम आस्था तथा अटूट विश्वास समाहित रहता है। इसीलिए वह देवी-देवताओं की पूजा तथा उनका स्मरण करता है और अनेक व्रतों को रखना ही अपना परम धर्म समझता है। धर्म के इसी रूप को देखकर यह कहने में संकोच नहीं होगा कि भारतीय जन-जीवन धर्ममय है। भारतीय जन-मानस प्रत्येक संस्कारों के अवसर पर अपने इष्टदेव को नहीं भूलते। अपने-अपने इष्टदेवों का भजनों तथा संस्कार-गीतों के द्वारा स्मरण अवश्य किया जाता है। जन-जीवन में प्राणों के समान संचरित होनवाला यह धर्म संस्कार-गीतों के निर्माण में पृष्ठभूमि का कार्य करता है। मानव-जीवन के संपूर्ण संस्कार धार्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत हैं।

संस्कार-गीतों में पंचदेवोपासना का उल्लेख मिलता है। किसी मांगलिक संस्कार का आरंभ करने से पूर्व पंचदेवोपासना अवश्य की जाती है। भारतीय जीवन में 33 करोड़ देवी-देवताओं की संख्या बताई जाती है। बेचारी ग्रामीण जनता उनका नाम तक नहीं जानती। इसलिए वह प्रत्येक संस्कार पर एकसाथ सभी देवी-देवताओं का स्मरण करके काम चला लेती है—

सबो को हम गावै, सबी नै मनावै सबी कै नै जानै हम नाम।³²

ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि के अतिरिक्त प्रत्येक ग्राम का अपना एक अलग ग्राम देवता होता है और अपने उस देवता के प्रति इन लोगों की असीम आस्था होती है। इसलिए प्रत्येक संस्कार से पूर्व उससे आशीर्वाद लेना अनिवार्य समझा जाता है। भूमियाँ को ये लोग ग्रामदेवता मानते हैं—

काहे की तेरी ओबरी, काहे का जड़ाए किवाड़, सच्चा हनुमान बली।

अगड़ चंदन की ओबरी, चंदन जड़ाए किवाड़, सच्चा हनुमान बली।

केरै चढ़ै तेरै देहरै, केरै तुम्हारी भेंट, सच्चा हनुमान बली।³³

यहाँ पर हनुमान को वीर मानकर उनकी पूजा की जाती है, जो सबके मंगलकार्यों को पूर्ण करने की शक्ति रखते हैं। भगवान श्रीकृष्ण के प्रति इनकी असीम श्रद्धा और आस्था है। इसीलिए प्रत्येक भारतीय नारी अपने नवजात शिशु को कृष्ण रूप में प्राप्त करना चाहती है। भगवान सबकी रक्षा करता है, अतः प्रत्येक भारतवासी भगवान को स्मरण रखता है। ये श्रीराम का नाम भी स्मरण करते हैं।

इस प्रकार से संस्कारों के अवसर पर भारतीय जन-मानस अपने स्वाभाविक हित और मंगल-कामना से धार्मिक अनुष्ठानों में प्रवृत्त होता है। वह प्रकृति के हर अवयव की पूजा करता

है, क्योंकि प्रति-क्षण प्रकृति उसकी सहचरी है। ईश्वर के समस्त रूपों के प्रति उसकी दृढ़ आस्था है, चाहे वह कोई वृक्ष, सरिता, टीला, पत्थर, मिट्टी का ढेर, सर्प, फूल हो, वह निष्ठापूर्वक उसकी पूजा करता है। गणेश, राम, कृष्ण, शंकर, हनुमान, ब्राह्मण, गौरी और पार्वती के समान ही मंदिरों में पूजा-स्थलों पर रखे हुए कंकड़-पत्थर, पेड़-पत्ते आदि सभी उनके भगवान बन जाते हैं और समस्त मनोकामनाओं को पूर्ण करने की इच्छा लिए हुए उन्हें ईश्वरीय शक्ति से संपन्न मानते हैं। अधिकांश ग्रामीण लोग अशिक्षित होते हैं, अतः वे लोग भूत-प्रेत, जादू-टोना में भी विश्वास रखते हैं तथा इनसे भयभीत रहते हैं। इसी कारण से विवाह संस्कार के अवसर पर 'खोड़िया' नाट्य विवाह को निर्विघ्न रूप में संपन्न हो जाने के लिए खेला जाता है।

उक्त तथ्यों के आधार पर हम देखते हैं कि भारत में प्रत्येक संस्कार को धार्मिक व जीवन का एक अंग माना गया है। संस्कारों के अवसर पर किए जानेवाले आचारों तथा संस्कार-गीतों में धार्मिकता का पुट विद्यमान रहता है। इन गीतों में धार्मिक भावनाएँ प्रायः सभी आलंबन ध्वनि वाले होते हैं। यदि सूक्ष्मता से देखा जाए तो ग्राम्य जनता का प्रत्येक पल, विशद धार्मिक भावना से ओत-प्रोत रहकर संस्कारों के अवसर पर मंगल-गीतों का सृजन करता है।

4. राजनीतिक परिस्थितियाँ :

सभ्यता के विकास के साथ-साथ मानव अनुशासनप्रिय बनता चला गया, जो मानव कभी जंगली पशुओं की भाँति विचरण करता था। सभ्यता और अनुशासन में रहकर वही आज संगठनों अथवा संघों में रहने लगा। ये समस्त संगठन सुनिश्चित नियमों के नियंत्रण में रहते हैं। राज्य भी एक संगठन है, जिसके द्वारा प्रत्येक मनुष्य की सुरक्षा और जीवन के सुचारु रूप से चलाने के लिए व्यवस्था की जाती है। 'राज्य' सभ्य जीवन की पहली आवश्यकता है। प्राचीनकाल से ही संसार के प्रत्येक भाग में 'राज्य' का अस्तित्व व्याप्त है। राज्य के शासन का सुचारु रूप से संचालित करने के लिए अधिकारियों की नियुक्ति होती है। समयानुसार शासनाधिकार बदलता रहता है, परंतु राज्य अक्षुण्ण रहता है।

शासन को चलाने के लिए प्रत्येक शासनाधिकारी की अलग-अलग नीतियाँ होती हैं, जिसके कारण राजनीतिक परिस्थितियों में परिवर्तन होता रहता है। राजनीतिक परिस्थितियों का प्रत्येक परिवर्तन जनता पर प्रभाव डालता है। यही कारण है कि प्रत्येक काल की जनता ने अपनी राजनीतिक परिस्थितियों के प्रति अभिभूत होकर अपने भावोद्गारों को प्रकट किया है। राजनीति का प्रत्येक परिवर्तन और आंदोलन तत्कालीन जनता को प्रभावित करता है। लोक-मानस के हृदय और मस्तिष्क पर इसका प्रभाव अवश्य पड़ता है। संस्कार-गीतों के सृजन में भी राजनीतिक प्रभावों ने एक पृष्ठभूमि का काम किया है। यद्यपि राजनीति और राष्ट्रीयता को लेकर हमारे देश में संस्कार-गीत कम संख्या में रचे गए हैं, फिर भी कुछ गीतों में उसकी समयुगीन राजनीतिक परिस्थितियों की झलक स्पष्ट दिखाई देती है। इस प्रकार के संस्कार-गीतों के द्वारा उनके रचनाकाल का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। उदाहरणार्थ मुगलकाल का शासन बड़ा ही क्रूर था। किसी की प्रतिष्ठा सुरक्षित नहीं थी। मार्ग में चलनेवाली स्त्रियों पर मुगल लोग आक्रमण करते थे और उन्हें अपने अंतःपुर में ले जाते थे। गृहस्थों के घर पर भी मुगल लोग कन्याओं को छीनकर उनसे विवाह कर लेते थे। स्त्रियों के साथ इस प्रकार के दुर्व्यवहार के अनेक संस्कार-गीत मिलते हैं। एक गीत में निहालदे की सगाई के संबंध की चर्चा की गई है।

धर्म एवं लोक-लाज की रक्षा, निहालदे के प्रमुख कर्तव्यों के रूप में प्रदर्शित हुई है। वह अपनी चिता स्वयं जलाकर उसमें भस्म हो जाना चाहती है, परंतु हिंदू कन्या मुगल परिवार में विवाह करके अपना धर्म नष्ट करना नहीं चाहती—

क्या रे मुगल के तुम लड़ोगे, क्या रे चढ़ोगे चढ़ाई हो राम?
नारी नवलदे लड़े लड़ाई, नारी चढैंगें चढ़ाई हो राम।
थारे तै घरा मैं कन्या जो कहिये, उसकी लेंगे सगाई हो राम।
क्यारे बेटी तुम राज करोगी, और बनों मुगलानी हो राम।
ना रे बाबा हम राज रजैंगी, ना रे बनें मुगलानी हो राम।
गहरा सा झंझर (गढ़स) खुदाये मेरे बाबा, उसमें ठीक समाइयाँ हो राम।
आले-गीले चंदन कटाओ, मेरे बाबा,
उनमें ठीक जलाइयाँ हो राम।³⁴

एक अन्य गीत में महात्मा गांधी ने देश को स्वतंत्रता दिलाने के लिए तिरंगा झंडा हाथ में उठाकर आंदोलन आरंभ किया है। उनके साथ देश के हजारों, लाखों नर-नारी साथ हो लिए हैं। इसी अवसर पर एक बहन के घर उसके पुत्र का विवाह है और वह भाई से भात भरने तथा दूध पीने का अनुरोध कर रही है, परंतु वह उसे समझाता है कि भात तो मेरे छोटे बच्चे भी भर आएंगे। और दूध भी वही पी लेंगे। परंतु देश की स्वतंत्रता के लिए मेरा जाना आवश्यक है—

अम्मा तो रोवै रे वीरा आपनी कौन भरेगा भात, गांधी नै झंडा ठा लिया।
तू क्योँ रोवै री भैना याणसे भरैंगे भात, गांधी नै झंडा ठा लिया।
कौन पीवैगा म्हारे दूध, गांधी ने झंडा ठा लिया।
याणे सै पीवैगे री भैना दूध, गांधी ने झंडा ठा लिया।³⁵

विवाह संस्कार के अवसर पर एक गीत की नायिका का पति सेना में रहकर देश की सेवा कर रहा है। पाकिस्तान और भारत के बीच युद्ध आरंभ हो गया। वह पति के आगमन की प्रतिक्षा करती है। युद्ध छिड़ने की सूचना मिलने पर नायिका युद्ध-भूमि का वर्णन करती है। इस देश की नारी पतिव्रता है, परंतु अपने पतियों को देश की रक्षा करने के लिए भेजने में भी नहीं हिचकती। इसके अतिरिक्त वे वीर नारियाँ देश-रक्षा के लिए अपने वस्त्र और आभूषण तक दे देती हैं।

इस प्रकार से राजनीति के क्षेत्र में घटित होनेवाली समस्त घटनाओं का उल्लेख (चाहे वह कोई युद्ध हो या संधि, प्रिय नेता हो या उसका जलसा, आंदोलन हो या शांति) संस्कार-गीतों के लिए प्रेरक पृष्ठभूमि का कार्य करता है।

अतः संस्कार-गीतों की मूल प्रेरणाएँ पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक व राजनीति परिस्थितियों पर आधारित होती हैं। हम इन्हीं परिस्थितियों को संस्कार-गीतों की पृष्ठभूमि मानकर चले हैं।

संदर्भ

1. खड़ीबोली का लोकसाहित्य, पृ० 31
2. भोजपुरी लोकसाहित्य, सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० 88
3. हिंदी लोकसाहित्य में हास्य और व्यंग्य, पृ० 99

4. राजस्थानी लोकसाहित्य का सौद्धांतिक विवेचन, पृ० 28
5. हिंदी-साहित्य का बृहत् इतिहास, पृ० 52
6. राजबली पांडेय, हिंदू संस्कार, पृ० 26
7. लोकगीतों में समाज, पृ० 58
8. राजरानी वर्मा, संस्कार गीत, (भूमिका) पृ० 07
9. लोकगीतों में समाज, पृ० 59
10. वही, पृ० 59
11. खड़ीबोली का लोकसाहित्य, पृ० 112
12. वही, पृ० 111
13. कन्नौजी लोकसाहित्य, डॉ० संतराम अनिल, पृ० 51
14. वही, पृ० 51
15. राजस्थानी लोकसाहित्य का सौद्धांतिक विवेचन, पृ० 29
16. हिंदी लोकसाहित्य में हास्य और व्यंग्य, पृ० 99
17. लोकसाहित्य के प्रतिमान, पृ० 67
18. लोकसाहित्य समीक्षा, पृ० 86-87
19. वही, पृ० 88
20. लोकसाहित्य और पावरी भाषा, पृ० 96
21. गढ़वाली लोकगीत : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० 93
22. मगही लोकसाहित्य, पृ० 93
23. भारतीय लोकसाहित्य, पृ० 53
24. कृष्णादेवी, गा० पो० सोहना (गुड़गाँव)
25. रूपली देवी, गाँव व पो०, सिंधरासली (गुड़गाँव)
26. हरियाणा प्रदेश का लोकसाहित्य, पृ० 159
27. हरीशरण वर्मा, वार्ता, हरियाणा लोकगीतों में भाव-वैविध्य, आकाशवाणी रोहतक से 21 अप्रैल 1982 को प्रसारित
28. हिंदी साहित्य कोश, भाग एक, पृ० 247
29. लोकगीतों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, पृ० 80
30. हरियाणा प्रदेश का लोकसाहित्य, पृ० 134
31. वही, पृ० 134
32. मीनाकुमारी, सैनीपुरा, रोहतक।
33. हरियाणा प्रदेश का लोकसाहित्य, पृ० 148
34. धूलि-धूसरित मणियाँ, पृ० 18
35. आचार्य मनुदेव शास्त्री, हरियाणवी गीतों में राष्ट्रीय भावना, लेख, जनसाहित्य, अक्टूबर-नवंबर, 1965, पृ० 242

□ 710/35 जनता कालोनी, रोहतक (हरियाणा)

पुनर्जागरण के पुरोधे-भारतीय संस्कृति के प्राख्याता :

मैथिलीशरण गुप्त

डॉ० (श्रीमती) अनिल कुमारी

वर्तमान में तुम अतीत के एक श्लोक थे, एक छंद थे,
तुम थे 'जय जयकार' हमारे,
शुभ 'साकेत' विहार हमारे।
वहाँ-वहाँ गतिमान रहे तुम,
जहाँ-जहाँ हम मंद-मंद थे।

हिंदी के श्रेष्ठ गीतकार गोपालदास 'नीरज' की यह यह काव्यांजलि मैथिलीशरण गुप्त के विराट् व्यक्तित्व और उनके बहुआयामी काव्य-कृतित्व को चंद शब्दों में बड़े कलात्मक ढंग से उद्घाटित करती है। गुप्त जी एक व्यक्ति नहीं, एक साथ अनेक पीढ़ियाँ हैं। एक सर्जक नहीं, राष्ट्रीय संघर्ष की प्रतिध्वनि हैं। एक कवि नहीं, कविता का इतिहास हैं।

बीसवीं शताब्दी का उत्तर भारत साहित्यिक और सांस्कृतिक चेतना के लिए यदि किसी एक व्यक्ति का ऋणि है, तो वह व्यक्ति है-मैथिलीशरण गुप्त। बीसवीं शती सांस्कृतिक जागरण की शती है। राष्ट्रीय आंदोलन के माध्यम से महात्मा गांधी ने जो व्यापक उद्बोधन राष्ट्र को दिया था, वैसा ही उद्बोधन गुप्त जी की काव्य-कृतियों के द्वारा साहित्यिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में दिया जा रहा था। साहित्य द्वारा राष्ट्रीय चेतना जाग्रत करने में रवींद्रनाथ ठाकुर, सुब्रह्मण्यम भारती और मैथिलीशरण गुप्त की गणना की जाती है।

गुप्त जी के बारे में एक बार राष्ट्रपति राजेंद्रप्रसाद ने कहा था, 'गुप्त जी एक साथ तीन पीढ़ियों के कवि हैं। मैंने, मेरे पुत्र और मेरे पौत्र ने गुप्त जी की कविता से हिंदीभाषा का संस्कार पाया है।' कवि रामधारीसिंह दिनकर ने कहा था, 'गुप्त जी अतीत में झाँककर वर्तमान को उद्घाटित करनेवाले कवि हैं।' महीयसी महादेवी वर्मा ने गुप्त जी को श्रद्धांजलि देते हुए कहा था कि 'गुप्त जी की कविता ऋजु रेखा है और उनकी भाषा आकाशगंगा है, जिसमें असंख्य नक्षत्र देदीप्यमान हैं।'

गुप्त जी ने सन् 1909 में 'रंग में भंग जैसी महत्त्वपूर्ण रचना से अपनी काव्य-यात्रा का प्रारंभ किया, जो 55 वर्षों तक निरंतर चलती रही। सन् 1912 में 'भारत-भारती' के प्रकाशन के बाद तो वे साहित्य-क्षितिज पर प्रखरता से चमकने लगे। उसके पश्चात् उन्होंने भारतीय संस्कृति के उन पात्रों को अपने काव्य में नए प्रतिमानों के साथ सँजोया, जो हमारी गौरवशाली संस्कृति के प्रतिनिधि थे, द्रष्टव्य है-

1. वैष्णव संप्रदाय का प्रतिनिधित्व :

(क) रामायण पर आधारित : साकेत, पंचवटी, प्रदक्षिणा।

- (ख) महाभारत पर आधारित : जयद्रथ-वध, शकुंतला, सैरंध्री, तिलोत्तमा, वक-संहार, वन-वैभव, हिडिम्बा, जय-भारत, युद्ध आदि।
 (ग) भागवद् पुराण तथा अन्य पुराणों पर आधारित : चंद्रहास, द्वापर, पृथिवी-पुत्र, नहुष।
 (घ) मध्यकालीन राजपूत संस्कृति पर आधारित : रंग में भंग, विकटभट, सिद्धराज।
 (ङ) मध्यकालीन भक्ति-चरित्र पर आधारित : विष्णुप्रिया।

2. बौद्ध संप्रदाय का प्रतिनिधित्व : यशोधरा।
3. शाक्य संप्रदाय का प्रतिनिधित्व : शक्ति।
4. मुसलिम संप्रदाय का प्रतिनिधित्व : काबा और कर्बला।
5. सिक्ख संप्रदाय का प्रतिनिधित्व : गुरुकुल, गुरु तेगबहादुर।
6. आधुनिक व्यक्तियों एवं अन्य समस्याओं से संबंधित काव्य कृतियाँ : भारत-भारती, स्वदेश-संगीत, अर्जन और सिर्जन, अनघ, अजित, हिंदू, किसान, मंगलघर, राजा-प्रजा, अंजलि और अर्घ्य।

उपर्युक्त वर्गीकरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि गुप्त जी ने अपने काव्य में सभी धर्मों और संप्रदायों को पूर्ण प्रतिनिधित्व दिया है। यह भी सही है कि वे वैष्णव संप्रदाय को मानने वाले थे, इसी कारण इस संप्रदाय का सर्वाधिक प्रतिनिधित्व हुआ है, परंतु उन्होंने इतर संस्कृतियों को भी अपने काव्य में आत्मसात् किया और उन्हें पूर्ण सम्मान देकर उन्होंने भारतीय संस्कृति का अद्यतन विकास प्रस्तुत किया है।

राष्ट्रीय चेतना के अमर गायक

यूँ तो गुप्त जी ने बीसियों काव्य-ग्रंथों का सृजन किया है, परंतु उनकी लोकप्रियता राष्ट्रीय चेतनापरक काव्य-कृतियों से जितनी हुई है, उतनी शायद अन्य किसी से नहीं।

राष्ट्रीय चेतना को जगाने के लिए गुप्त जी अपनी प्रचीन संस्कृति के गौरव का गुणगान करते हैं, कहीं वे आधुनिक ह्रास पर क्षोभ व्यक्त करते हैं, तो कभी वे गांधीवाद की जय बोलते हैं, तो कहीं जनशक्ति का उद्बोधन करते हैं। मातृ-वंदना से वे अपने देश के प्रति आदर, गर्व एवं प्रेम की भावना जगाते हैं—

नीलांबर परिधान हरित पट पर सुंदर है,
 सूर्य-चंद्र युग मुकुट, मेखला रत्नाकर है,
 नदियाँ प्रेम-प्रवाह, फूल तारे मंडन हैं,
 बंदीजन खगवृंद, शेषफन सिंहासन है,

साथ ही, वे हमें बताते हैं कि हम जनसंख्या में 30 करोड़ हैं, पर हमारे हाथ उससे दुगुने हैं। हम कौनसा कार्य नहीं कर सकते? हमारी जनशक्ति क्या नहीं कर सकती—

जन तीस करोड़ हुए जिनके,
 कर साठ करोड़ हुए जिनके।
 जग में वह कार्य मिला किसको,
 यह देश न साध सके जिसको?

और कभी वर्तमान पर उन्हें विक्षोभ है और जनसामान्य को ललकारते हैं—
हम कौन थे, क्या हो गए हैं और क्या होंगे अभी,
आओ, विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी।
सांस्कृतिक उत्थान के लिए पूर्वजों से प्रेरणा ग्रहण करते हैं—
सबकी नसों में पूर्वजों का पुण्य रक्त प्रवाह हो,
हमको तुम्हारी चाह हो, तुमको हमारी चाह हो।

वैसे जयद्रथ-वध, स्वदेश-संगीत, युद्ध आदि कविताओं में राष्ट्रीय चेतना मुखरित हुई है। परंतु उन्हें जितनी सफलता और प्रसिद्धि 'भारत-भारती' से मिली है, उतनी अन्य कृतियों से नहीं मिल सकी।

सन् 1912 में मैथिलीशरण गुप्त ने हिंदी को और भारतीय साहित्य को 'भारत-भारती' रूपी वस्तुपरक एवं यथार्थवादी काव्य उस समय दिया, जब देश में विदेशी वस्तुओं की होली जलाई जा रही थी और उसकी आग कविता में भी लग चुकी थी। बंगाल में राष्ट्रीय आंदोलन का उग्र रूप फैल रहा था और बंगला में रहस्यवादी तर्ज पर हवाई कविता लिखी जा रही थी या अँग्रेजी और बंगला की धुन पर हिंदी में छायावाद के स्वप्नलोक में कवि विचरण कर रहे थे, ब्रजभाषा में अभी भी कवि रीतिकालीन और शृंगारपरकता से ऊबे नहीं थे। 'भारत-भारती' ने इतनी लोकप्रियता पाई कि न केवल लोगों ने इसे कंठ से लगाया, वरन् कंठस्थ कर लिया था।

इस काव्य-कृति में प्रबंधात्मकता को स्वीकार किया है, क्योंकि हमारा जीवन भी तो प्रबंधात्मक है और कविता, यथार्थवादी कविता, जीवन से ही निःसृत होती है। इसके तीन खंड हैं— अतीत, वर्तमान और भविष्यगत। इसी से कवि का इतिहास-बोध ज्ञात होता है। इतिहास के काल-क्रम का विकास प्रबंधात्मक काव्य-रचना से ही मिल सकता है। कविता में प्रतीकों की योजना उसे महज एक पद्यबद्ध इतिहास से ऊपर उठा देती है। इसीलिए 'भारत-भारती' में प्रतीक हैं, पौराणिक मिथ।

यह काव्य सामान्य जन-जीवन का काव्य है। चौंक बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में लोगों में जो क्रोध, दैन्य था, जीवन-मूल्यों का हास हो रहा था, हम अपने अतीत के गौरव को भूलते जा रहे थे— इसी की अभिव्यक्ति 'भारत-भारती' में है। इसके लिए ऐसे पात्रों का चुनना अभीष्ट हो जाता है, जो जन-मानस में गहरे तक व्याप्त हों और अतीत के गौरव के प्रतिनिधि हों। इसीलिए गुप्त जी ने राम, कृष्ण तथा युधिष्ठिर आदि पौराणिक पात्रों का माध्यम चुना है।

यह काव्य-कृति अपनी उपेक्षा पर विक्षोभ की प्रतिध्वनि है। हमने अपनी कितनी उपेक्षा की है तथा विदेशियों ने हमारी कितनी उपेक्षा की है, इस पर जो हमें विक्षोभ हुआ, उसी को गुप्त जी ने इस काव्य में प्रतिध्वनित किया है।

इस प्रकार 'भारत-भारती' ने अपनी गौरवशाली संस्कृति के पुनरुत्थान और अपनी वर्तमान दशा पर क्षोभ प्रकट करके, पौराणिक कथा, मिथकों तथा आधारों के द्वारा एक राष्ट्रीय थाती हमें दी है।

गुप्त जी के काव्य में छुआछूत, बाल-विवाह, स्त्री-शिक्षा, स्त्री-गौरव आदि के विचार जानने पर लगता है कि उनकी सोच कितनी मानवीय धरातल पर थी। वे तथाकथित शूद्रों को

नीच नहीं कहते—

उत्पन्न हो तुम प्रभु-पदों से जो सभी की ध्येय है।

वर्णाश्रम व्यवस्था और प्राचीन संस्कृति में इतना विश्वास रखने वाले गुप्त जी कहीं भी मदांधता, संकीर्णता से ग्रस्त नहीं हैं। स्त्री शिक्षा के प्रति वे निर्भ्रांत थे कि जब तक उनकी शिक्षा नहीं हो जाती, तब तक पुरुषों की विद्या का कोई महत्त्व नहीं है—

विद्या हमारी भी न तब तक काम में कुछ आएगी

अर्द्धांगिनियों को भी सुशिक्षा दी न जब तक जाएगी।

इसी प्रकार बाल-विवाह, बेमेल विवाह को भी वे धिक्कारते हैं और बाल-विवाह को वात्सल्य से किया गया वैर बतलाते हैं—

वात्सल्य है या वैर है यह, हाय! कैसा कष्ट है?

परिपुष्टता के पूर्व ही बल-वीर्य्य होता नष्ट है!

संस्कृति एवं संप्रदायों के समन्वय की गुप्त जी बात करते हैं। इसीलिए वे स्वदेश, स्वदेशी, स्वभाषा को आवश्यक मानते हैं—

अब तो उठो, हे बंधुओ! निज देश की जय बोल दो,

बनने लगे सब वस्तुएँ, कल-कारखाने खोल दो।

जावे यहाँ से और कच्चा माल अब बाहर नहीं—

हो 'मेडइन' के बाद बस अब 'इंडिया' हो सब कहीं।

सांस्कृति जागरण के अग्रदूत :

प्राचीन संस्कृति और नवीन आदर्शों को मिलाने के लिए गुप्त जी ने कोई आंदोलन नहीं किया, इनको टकराहट के धरातल पर नहीं आने दिया, लेकिन अपनी काव्य-कृतियों में सहज रूप से ही इन्हें आने दिया है। यह समन्वय का समीकरण, जो धर्म, दर्शन और राजनीति में असंभव हो रहा था, लेकिन गुप्त जी के काव्य में यह सरलता से प्रवाहित हो गया। उन्होंने महावीर, बुद्ध, अशोक तथा गांधी— सभी के विचारों का अपनी वैष्णवी भावना में समन्वय कर एक स्तुत्य कार्य किया है। जिस एकता की बात आज अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर बड़ा जोर देकर कहीं जा रही है, वही गुप्त जी ने अपनी कला से एक कोने में बैठकर कह दी।

अपनी कृतियों में उन्होंने पौराणिक पात्रों को सामान्य धरातल पर उतार दिया है। राम उनके आराध्य हैं और रामायण उपजीव्य है। फिर भी उनके राम नए रूप में चित्रित हुए हैं तथा उपेक्षित पात्रों का उन्होंने अपनी मर्मभेदी सूक्ष्म दृष्टि से उद्धार कर दिया है। उनके राम, कृष्ण, युधिष्ठिर सामान्य व्यवहार करते दिखाए गए हैं।

गुप्त जी का व्यक्तित्व, 'धर्म, संस्कृति, साहित्य, कला और मानवता' इन पाँच तत्त्वों मिलकर बना था। इन्हीं तत्त्वों की उन्होंने अपने जीवन में, काव्य में और आचरण में सर्वत्र और सर्वदा रक्षा की। इन्हीं तत्त्वों के कारण ही वे इस 'भूतल को स्वर्ग' बना देना चाहते थे। हर तरह ये ही तत्त्व मुखरित होते नजर आते थे।

नारी-गरिमा के प्रतिष्ठापक :

शेक्सपीयर ने 'किंगलीयर' में नारी के लिए क्या-क्या अपमानजनक बातें नहीं कहीं

हैं; जयशंकर प्रसाद ने नारी को 'श्रद्धा' की दृष्टि से देखा, परंतु उन्होंने रखा उसे 'रजत पग नग तल' में ही और वह भी 'पीयूष स्रोत-सी' बहने के लिए ही; रामधारीसिंह दिनकर ने 'नारी को पुरुष को उद्वेलित करने वाली' कहा।

परंतु गुप्त जी ने नारी को इस संकुचित दृष्टि से नहीं देखा। उसे गरिमा प्रदान की और कहा कि यदि नारी का शोषण होता रहा, तो समाज कभी भी सुधर नहीं सकता है। उनके नारी-पात्रों ने जो जनमानस में स्थान बना लिया है, यह उन्हीं के कारण है। कैकेयी जैसी घृणित पात्रा को भी पश्चात्ताप की अग्नि में जलाकर गुप्त जी ने उसे सोने की तरह से चमका दिया है और वह सभी की सहानुभूति की पात्रा हो गई—

पागल-सी प्रभु के साथ सभा चिल्लाई—

'सौ बार धन्य वह एक लाल की माई।'

'पंचवटी' की शूर्पणखाँ मुक्त यौनाचार करनेवाली नारी है। गुप्त जी मुक्त यौनाचार को हेय और सामाजिक पतन का कारण समझते हैं। पर वह यह भी कहते हैं कि यदि नारी अराजक हो जाएगी और साथ ही पुरुष भी नारी के प्रति अराजक हो जाएगा, तो दोनों ही कारणों से समाज का पतन होगा। इसीलिए लंका-पतन शूर्पणखा के मुक्त यौनाचार के कारण हुआ तथा रावण का सीता पर कामुक दृष्टि थी।

हिडिंबा का चरित्र उन्होंने बहुत उच्च बताया है, इसीलिए वह राक्षसी होते हुए भी कुंती और युधिष्ठिर की अनुमति पा लेती है और भीम का वरण कर लेती है।

गुप्त जी नारी की वर्तमान दुर्दशा पर दुःखी होते हैं—

अबला-जीवन, हाय! तुम्हारी यही कहानी—

आँचल में है दूध और आँखों में पानी!

यशोधरा को पति के चले जाने का दुःख नहीं है, केवल इतना दुःख है कि वह उससे कहकर क्यों नहीं गए; वह तो उन्हें अच्छे कार्य के लिए सहर्ष स्वयं ही जाने की अनुमति दे देती—

सिद्धि हेतु स्वामी गए, यह गौरव की बात
पर चोरी-चोरी गए, यही बड़ा व्याघात
सखी, वे मुझसे कहाकर जाते
कह, तो क्या मुझको वे अपनी पथ बाधा ही पाते

हिंदी के उन्नायक व अप्रतिम काव्य-शिल्पी :

गुप्त जी ने हिंदीभाषा को काव्यभाषा के रूप में प्रतिष्ठित कर एक ऐतिहासिक भूमिका अदा की है। हिंदी में उन्होंने तत्सम शब्दावली तथा प्रांतीय शब्दों को लेकर उसको विचार वहन करने की सामर्थ्य दी है। वे जब प्राचीन गौरव की बात करते हैं, तो तत्सम शब्दावली का प्रयोग करते हैं और जब मजदूर-किसान की बात करते हैं, तो तरल-सरल शब्दावली का प्रयोग करते हैं—

दुर्भिक्ष मानो देह धर के घूमता सब ओर है,
हा! अन्न! हा! हा! अन्न! का रव गूँजता घनघोर है।

हिंदी को जन-जन तक पहुँचाने में मैथिलीशरण गुप्त का नाम सदा स्मरण किया जाता रहेगा। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भाषा के जिस आदर्श रूप की कल्पना की थी, उसे गुप्त जी ने अपनी कृतियों में निखारा ही नहीं, वरन् उसको काव्य-भाषा के रूप में भी प्रतिष्ठित किया। कबीर, नानक, दादू, भारतेन्दु हरिश्चंद्र और महावीरप्रसाद द्विवेदी की यह भाषा गुप्त जी में अपने पूर्ण उन्नत रूप में थी। यही भाषा बाद में राष्ट्रभाषा बन गई।

अक्षय प्रासंगिकता : समन्वयवादी दर्शन :

गुप्त जी संस्कृति के पुनराख्यान और भारतीय साहित्य के पुनरुत्थानकर्ता थे। जो कार्य राजा राममोहन राय, दयानंद सरस्वती, स्वामी विवेकानंद तथा महात्मा गांधी आदि कर रहे थे, वही कार्य गुप्त जी ने साहित्य द्वारा कर दिखाया।

अतीत में वर्तमान को पा लेना और अपनी अंतर्दृष्टि से प्राप्त सत्य को उसके साथ जोड़ देना ही समन्वयवादी दृष्टिकोण है। यह हमें पूर्ण रूप से गुप्त जी में मिलता है। उन्होंने अपने वैष्णववाद को आधुनिकता से जोड़ा और यही वैष्णववाद उनकी मूल प्रेरक शक्ति रही है, तो यह अन्य धर्मों से भी बड़ा है। गुप्त जी कहीं भी मदांधता, संकीर्णता, अमानवता को नहीं अपनाते, वरन् समन्वय की दृष्टि से सर्वत्र नाता जोड़ते हैं।

वे पौराणिक रचना की पीठिका पर चलते हैं, पर पुराणपंथी होकर नहीं, अतीत का गुणगान करते हैं, पर अतीत-जीवी होकर नहीं। उनमें जो नया है, वह पुराने मेरुदंड पर खड़ा है और जो पुराना है, उस पर नया रंग-रोगन, पॉलिश कर, उसको समसामयिकता तथा आधुनिकता से जोड़ दिया जाता है। साहित्य में यही समन्वयवादी दृष्टि रचनाकार को महान् बनाती है और इसीलिए वे राष्ट्रकवि हैं।

जो कुछ उन्होंने तब कहा था, वह आज भी उतना ही प्रासंगिक है। क्या आज ग़रीबों-अछूतों पर अत्याचार नहीं हो रहे? स्त्रियों का शोषण नहीं हो रहा? बाल-विवाह और बेमेल विवाह नहीं हो रहे? इन सब पर प्रहार उन्होंने तब किया है, जब हमें आजादी मिलनी बहुत दूर की बात थी। पर आज भी दशा बहुत सुधरी नहीं है। इन संदर्भों में ही नहीं, उन्होंने सुनहरे भविष्य की भी कामना की थी, जो हम हमेशा ही करते रहेंगे चाहे, भविष्य कितना ही सुखद होता जाए।

□ वरिष्ठ प्रवक्ता, हिंदी विभाग
मेरठ कालिज, मेरठ 250001

निराला-साहित्य में राष्ट्रीयता और इतिहास-बोध

रामबिलास यादव

शोध-छात्र, वीरबहादुरसिंह पूर्वांचल विश्वविद्यालय, जौनपुर (उ०प्र०)

निराला वस्तुतः नवजागरण के कवि हैं, इसीलिए उनके काव्य में राष्ट्र का समग्र स्वरूप ऐतिहासिक एवं प्राकृतिक वैभव के साथ अभिव्यक्त हुआ। अनेकशः कविताओं में उनका यह राष्ट्र-बोध नए युग की राष्ट्रीयता बन गया है। एक ओर कवि आधुनिक काल के नवजागरण का अभिनंदन करता हुआ गाता है—

विश्व की वाणी प्राचीन
आज रानी बन गई नवीन!
वहीं पतझड़ की किंशुक-डाल
पहन लहराती अंशुक-जाल,
चहकते खगकुल सकल सकाल
विचारते पदतल हिंसक दीन।¹

वहीं दूसरी ओर, आर्थिक शोषण पराधीनता और निःसहायता का भी चित्रण करता है—
उठा आज कोलाहल,
गया लुट सकल संबल
शक्तिहीन तन निश्चल,
रहित रक्त से रग-रग।²

इन पंक्तियों में भारतीय जन की पराधीनता और निःसहायता का सटीक प्रतिबिम्बन हुआ।

भारत के संपूर्ण सांस्कृतिक चित्र का अंकन निराला के एक गीत में निम्नवत् है—
भारत, जय, विजय करो।
कनक-शस्य-कनकधरे।
लंका पदतल-शतदल,
गजितोर्मी सागर-जल,
धोता शुचि चरण युगल
स्तव कर बहु-अर्थ भरे।
तरु-तृण-वन लता वसन,
अंचल में खचित सुमन,
गंगा ज्योतिर्जल-कण,
धवल-धार हार गले।³

इसी प्रकार 'वीणा वादिनी वर दे' जैसे राष्ट्रीय सांस्कृतिक गीतों के माध्यम से निराला

ने राष्ट्रीय चेतना को उद्बुद्ध किया है। इन गीतों में जहाँ एक ओर देश की गरिमा के सुपुष्ट भाव-चित्र हैं, वहीं देश की दशा और दिशा के संदर्भ में अशेष करुणा भी उजागर होती है और कवि का कंठ आह्वान गीतों से भर जाता है—

फूटो फिर, फिर से तुम,
रुद्ध कंठ, साम गान!
दूर हो दुरित, जो जग
जागा तृष्णार्त ज्ञान।

जागो, हे त्याग-तरुण!
प्राची के, उगो, अरुण!
दृग-दृग से मिलो, खिलो,
पुष्प-पुष्प वन्य प्राण।⁴

निराला का काव्य मुक्ति-चेतना का काव्य है। मनुष्य की मुक्ति के साथ ही कविता की मुक्ति निराला-काव्य का आधार है। निराला-काव्य में अनेक भावों का स्रोत है, उनका देश-प्रेम। इसीलिए निराला गर्जना करते हैं—

शेरों की माँद में
आया है आज स्यार
जागो फिर एक बार।⁵

देशवासियों की पराधीनता देखकर निराला के मन में अनेक भाव उदित होते हैं। कभी वह आत्मग्लानि से पीड़ित होते हैं, कभी मन अवसादग्रस्त हो जाता है। कभी अतीत का स्मरण करके आत्म-सम्मान का भाव जागते हैं और कभी पराधीन देशवासियों की मोहनिद्रा से क्षुब्ध होकर वह कहते हैं—

मेरे साथ मेरे विचार
मेरी जाति
मेरे पददलित
मौन है—निद्रित है
स्वप्न में भी पराधीन।

जनता का दैन्य देखकर भारत माता की उदास मूर्ति उनकी आँखों के सामने आ जाती है।

जागो मेरे उर में तेरी
मूर्ति अश्रुजल-धौत विमल।⁶
स्वाधीन भारत में स्थिति न बदलते देख कवि क्षोभ से भरकर कहता है—
माँ, अपने आलोक निखारो,
नर को नरक-त्रास से वारो।⁷

सच तो यह है निराला जैसा संवेदनशील कवि अपने राष्ट्र तक ही सीमित नहीं रह सका। उन्होंने भारत वर्ष को विश्व की महान इकाई से अलग करके नहीं देखा है। फलतः उनमें

कहीं विरोध नहीं है। उनका राष्ट्रीय मानव विश्व मानव का ही प्रतिरूप बन गया है, इसी से कवि ने गाया है।

मानव के तन फहरे,
विजय तुम्हारी नभ में लहरे।⁸

यहाँ मनुष्य को दिव्यता का ध्वज बनाया गया है, निराला इसी दिव्यता के आराधक है और मनुष्य को उसी के प्रतीक के रूप में ग्रहण करते हैं उनका भारत दिव्य गुणों से ही विभूषित है और उनकी राष्ट्रीयता अंततः दिव्यता की ही साधना है। निराला का चिंतन भारतीय प्रवृत्ति पर आधारित है। निराला में यह अतीत प्रेम अनेकशः रूपों में होता है। भारतवर्ष के गौरवशाली अतीत के प्रति निराला नत्मस्तक है।

किसी कवि का इतिहास बोध उसकी शक्ति का प्रमाण है। कवि समाज का प्रतिनिधि होता है। साहित्य किसी समाज, जाति के स्पंदनों का मापदंड है। किसी जाति की जीवंतता का प्रमाण उस जाति के साहित्य में मिलती है। समाज या जाति विशेष के ऐतिहासिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक परंपरा का ज्ञान जितना आलोचक के लिए अपेक्षित है उसके कहीं अधिक रचनात्मक के लिए।⁹

निराला के परंपरा ज्ञान के यथेष्ट प्रमाण उनकी रचनाओं में उपलब्ध है। उदाहरण के लिए 'खंडहर' को कवि ने पुरुष पुरातन की संज्ञा दी है और खंडहर के प्रति कविता में आँसू बहाते हुए यथोराशि भारतवर्ष से कहलाया है—

आर्त भारत! जनक हूँ मैं
जैमिनि-पतंजलि-व्यास ऋषियों का
मेरी ही गोद पर शैशव-विनोद कर
तेरा है बढ़ाया मान
राम-कृष्ण-भीमार्जुन-भीष्म-नरदेवों ने।¹⁰

भारतवर्ष के संपूर्ण इतिहास को अंधकार और बर्बरता पर विजय प्राप्त के रूप में प्रस्तुत करता हुआ कवि 'सहस्राब्दि' नाम कविता में कहता है—

आ रही याद
वह विजय शकों से अप्रमाद,
वह महावीर विक्रमादित्य का अभिनंदन,
वह प्रजाजनों का आवर्तित स्पंदन-बंदन,
वे सजी हुई कलशों से अकलुष कामनियाँ,
करती वर्णित लाजों की अंजलि भामिनियाँ,
तोरण-तोरण पर
जीवन को यौवन से भर
उठता सस्वर
माल कौश हर
नश्वता को नवस्वरता दे करता भासवर।¹¹

वैदिक संस्कृति के उद्धारक शंकराचार्य का स्मरण करते हुए कवि कहता है—

आ रहा वह वेदों का उद्धार, ख्यात
वह श्रुति धरता, ज्ञान की शिखा व अनिर्वात
निष्कंप, भाष्य प्रस्थानत्रयी पर, संस्थापन
भारत के चारों ओर मठों का संज्ञापन।¹²

उस कविता के अंत में निराला ने सहस्राब्दि से पूर्णतः निशुंखला भारत का इतिहास प्रस्तुत करते हुए लिखा है—

जब टूटा कान्यकुब्ज का वह साम्राज्य विपुल,
छोटे-छोटे राज्यों से हुआ विपत्संकल
यह देश! उधर अदम्य होकर
बढ़ता ही चला राष्ट्र इस्लामी, वेग प्रखर
पृथ्वी सँभालने में असमर्थ हुई, निश्चय
दुर्दात क्षत्रियों से जो था प्राणों में भय
इन इतर प्रजाओं में, छाया उसका तुषार।¹³

‘महाराज शिवाजी का पत्र’ निराला की अत्यंत महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक रचना है। जिसमें एक ओर कवि का इतिहास बोध और दूसरी ओर जातीय एकता का भाव अभिव्यक्त हुआ है। शिवाजी ने जयसिंह को पत्र लिखकर उसे आत्म प्रबोधित किया है।

आन-बान-शान वाले भारत-उद्यान के
नायक हो, रक्षक हो,
वासंती सुरभि का हृदय से हटकर
दिगंत भरने वाला पवन ज्यों।
किंतु हाय वीर राजपूतों की गौरव-प्रलंब ग्रीवा—
अवनत हो रही है आज तुमसे महाराज।¹⁴

अतीत के माध्यम से वर्तमान की समस्याओं का संकेत भी स्वच्छंदवादी इतिहास बोध की एक प्रमुख प्रवृत्ति है। मुसलमानों ने अपने साम्राज्य विस्तार के लिए हिंदू वीर राजाओं को ही माध्यम बनाया। मध्यकाल को उस परंपरा का निर्वाह आधुनिक-काल में, अँग्रेजों ने भी किया। इस कविता में निराला ने इस सत्य को भी प्रस्तुत किया है—

उठती है नग्न तलवार जब स्वतंत्रता की, कितने ही भावों से
याद दिलाकर दुःख दारुण परतंत्रता का
फूँकती स्वतंत्रता निज मंत्र से जब व्याकुल कान,
कौन वह सुमेरु, रेणु-रेणु जो न हो जाए?
इसीलिए दुर्जय है हमारी शक्ति।
और भी
तुम्हें यहाँ भेजा तो
कारण क्या रण का?

एक यही निःसंदेह,
हिंदुओं में बलवान
एक भी न रह जाए,
लुप्त हो हमारी शक्ति
तुर्कों की विजय की।¹⁵

निराला ने अपनी कविताओं में मनुष्य की मुक्ति की बात की हैं मनुष्य की यह मुक्ति दासता, शोषण एवं उत्पीड़न से है। इतिहास-बोध के धरातल पर निराला ने इसे साम्राज्यवादी शक्तियों ने आत्म-विस्तार के लिए संपूर्ण देश, समाज और समग्रतः मनुष्य मात्र का शोषण किया है। 'महाराज शिवाजी का पत्र' कविता में निराला ने जयसिंह को इस प्रवृत्ति से बचने एवं देशोन्नति में सहायक होने का संदेश दिया है—

फैले संवेदना,
व्यक्ति का खिंचाव यदि जातिगत हो जाए,
देखो परिणाम फिर,
स्थिर न रहेंगे पैर,
परंतु हौसला होगा,
ध्वस्त होगा साम्राज्य
जितने विचार आज
मारते तरंग हैं
साम्राज्यवादियों की भोग-वासनाओं में,
नष्ट होंगे चिरकाल के लिए।
आएगी भाल पर भारत की गई ज्योति,
हिंदुस्तान मुक्त होगा जोर अपमान से,
दाशता के पाश कट जाएंगे।¹⁶

निराला के इतिहास बोध पर आधारित एक और बहुत ही महत्त्वपूर्ण रचना है। 'जागों फिर एक बार' जिसमें कवि ने नवजागरण का मंत्र फूँककर संपूर्ण भारतीय जनमानस को उद्बुद्ध करने का प्रयत्न किया है—

जागों फिर एक बार!
समर में अमर कर प्राण,
गान गाए महासिंधु से,
सिंध-नद-तीरवासी!
सैधव तुरंगों पर
चतुरंग चम्-संग,
सवा सवा लाख पर
एक को चढ़ाऊँगा,
गोविंद सिंह निज

नाम जब कहाऊँगा।¹⁷

भारतवर्ष की जातीय संस्कृति में मानवीय मुक्ति को आदर्श के रूप में ग्रहण किया गया है। भारतवासियों को उसी का स्मरण कराता हुआ कवि कहता है—

पशु नहीं, वीर तुम
समर-शूर, क्रूर नहीं,
कालचक्र में हो दबे,
आज तुम राजकुँवर,
समर सरताज!
मुक्त हो सदा ही तुम,
बाधा-विहीन-बंध ज्यों,
डूबे आनंद में सच्चिदानंद-रूप।¹⁸

इतिहास के धरातल पर निराला ने केवल साम्राज्यवादी संस्कृति का ही निरूपण नहीं किया है अपितु सामंतवाद एवं पूँजीवाद के शोषण के विविध रूपों की अभिव्यक्ति करते हुए उससे बचकर मानव-मुक्ति को उद्घोषणा का है। 'नए पत्ते', 'राजे ने अपनी रखवाली की' कविता में सामन्वाद का पूरा चित्र सामने उपस्थित किया—

राजे ने अपनी रखवाली की,
किला बनाकर रहा,
बड़ी-बड़ी फौजें रखीं।
चापलूस कितने सामंत आए।
मतलब की लकड़ी पकड़े हुए।
लोहा बजा धर्म पर, सभ्यता के नाम पर,
खून की नदी बही।
आँख, कान, मूदकर जनता डुबकियाँ ली।
आँख खुली-राजे ने अपनी रखवाली की।¹⁹

'नये पत्ते' में ही पूँजीवादी सभ्यता को रामराज्य कहकर कवि व्यंग्य करता है—

चूहों और गुफाओं और पत्थरों के घरों से
आजकल के शहरों तक, दुनियाँ ने चोली बदली।
बिजली और तार और भाप और वायुयान।
उसके वाहन हुए।
जान खींची खानों से।
कल और कारखानों से।
राजराज के पहले के दिन आए।²⁰

'अणिमा' और 'नये-पत्ते' में निराला ने अपना नया ऐतिहासिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। वस्तुतः इतिहास चेतना के भीतर से काव्य को प्रस्तुत करने वाले कवि विरले कवियों ने निराला अग्रणी है।

संदर्भ

1. गीतिका, निराला, गीत 75
2. वही, गीत 76
3. वही, पृ० 68
4. वही, पृ० 65
5. परिमल, निराला, पृ० 175
6. गीतिका, निराला, पृ० 20
7. अर्चना, निराला, पृ० 108
8. आराधना, निराला, पृ० 44
9. त्रिशंकु, अज्ञेय, पृ० 34-35
10. अपरा, निराला, पृ० 132
11. अणिमा, निराला, पृ० 26
12. वही, पृ० 28-29
13. वही, पृ० 30
14. अपरा, निराला, पृ० 75-76
15. वही, पृ० 80-81
16. वही, पृ० 91
17. वही, पृ० 18
18. वही, पृ० 20
19. नये-पत्ते, निराला, पृ० 31-32
20. वही, पृ० 29



द्विवेदीयुगीन पुनर्जागरण और श्री मैथिलीशरण गुप्त

डॉ० अशोक उपाध्याय

रीडर, हिंदी विभाग, बरेली कॉलेज, बरेली (उ०प्र०)

हिंदी-साहित्य-जगत् में श्री मैथिलीशरण गुप्त जी का कवि-व्यक्तित्व भारतीय पुनर्जागरण की तेजस्विता की स्वर्ण-रश्मियों से अभिसिंचित अक्षयवट के समान शाश्वत तथा प्रतिष्ठापूर्ण है। श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' के अनुसार पुनर्जागरण से 'तात्पर्य उस वैचारिक आंदोलन से है, जो भारत में भारत और यूरोप के संपर्क के साथ आरंभ हुआ और जो कदाचित आज भी चल रहा है। यह आंदोलन भारत में नई मानवता के जन्म का आंदोलन है एवं उसके प्रवाह के साथ केवल यूरोपीय विचार ही भारत में नहीं आ रहे हैं, बल्कि इस देश के बहुत से प्राचीन विचार भी नवीनता प्राप्त कर रहे हैं। पौराणिक कथाओं पर इस आंदोलन ने नई आभा बिखेरी है। इसके आलोक में हमारे इतिहास की अनेक घटनाएँ और अनेक नायक नई ज्योति से जगमगाने लगे हैं।' इस महान आंदोलन के नेता थे— राजा राममोहनराय, केशवचंद्र सेन, स्वामी दयानंद, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद, स्वामी दयानंद सरस्वती, महादेव गोविंद रानाडे, श्रीमती एनीबेसेंट, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, महर्षि अरविंद, रवींद्रनाथ ठाकुर, महात्मा गांधी, भारतेंदु हरिश्चंद्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी इत्यादि। 1857 ई० का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम इस पुनर्जागरण का प्रथम चरण है। भारतेंदुयुग द्वितीय चरण तथा द्विवेदीयुग इसका तृतीय चरण माना जाता है। मैथिलीशरण गुप्त जी द्विवेदी युग के महान कवि हैं। डॉ० रामविलास शर्मा ने लिखा है कि 'भारत के राष्ट्रीय नवजागरण का संबंध सामान्यतः राजा राममोहनराय से जोड़ा जाता है। हो सकता है, बंगाल के लिए यह सही हो। आवश्यक नहीं कि हर प्रदेश में वैसी ही प्रक्रिया घटित हुई हो। द्विवेदी जी अँग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बनाने के प्रबल विरोधी थे। वह बुद्धिवाद और वैज्ञानिक विचार पद्धति के समर्थक थे और रहस्यवाद के विरोधी थे। ... उनके लेखन के अध्ययन से विदित होता है कि हिंदी नवजागरण की अपनी विशेषताएँ हैं, वह बंगाल या गुजरात के नवजागरण से भिन्न हैं। ये विशेषताएँ भारतेंदुयुग में भी मिलती हैं।'² द्विवेदी जी ने युगीन आवश्यकताओं पर गहराई से दृष्टिपात करते हुए विभिन्न समस्याओं पर वैज्ञानिक तरीके से अपने विचार प्रकट किए। आधुनिक विज्ञान के साथ-साथ उन्होंने राजनीति, समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र में भी काफ़ी रुचि प्रदर्शित की तथा भारतीय दर्शन के प्राचीन स्वरूप पर यथेष्ट विचार किया। इस प्रकार भारतेंदु जी के उपरांत वह सबसे समर्थ और जागरूक संपादक एवं साहित्यस्रष्टा सिद्ध हुए। उनकी प्रेरणा से ही मैथिलीशरण गुप्त जी की लेखनी पूर्वजों के शील की शिक्षा-तरंगों में लीन होकर दुख-शोक इत्यादि को सहन करते हुए कर्तव्य-पथ पर अग्रसर हुई। साकेत और जयभारत उनके द्वारा रचित प्रसिद्ध महाकाव्य हैं। रंग में भंग, जयद्रथवध, शकुंतला, पंचवटी, किसान, सैरंध्री, वकसंहार, वनवैभव, शक्ति, यशोधरा, द्वापर, सिद्धराज, नहुष, कुणालगीत, काबा और कर्बला, अजित, हिडिम्बा, विष्णुप्रिया, रत्नावली,

उर्मिला नामक खंडकाव्य; भारत-भारती, हिंदू, राजा-प्रजा, विजय पर्व नामक निबंध काव्य, मंगलधर, आस्वाद, दुर्दशानिवेदन, अन्योक्ति पुष्पावली, स्वस्ति और संकेत, राष्ट्रवाणी नामक मुक्तक और विविध कविताएँ तथा वैतालिक, स्वदेश संगीत, झंकार, विश्ववेदना, अंजलि और अर्घ्य, भूमिभाग एवं उच्छ्वास नामक गीतिकाव्य की रचना भी उन्होंने की है। गुप्त जी की प्रसिद्धि का सबसे बड़ा कारण 'भारत-भारती' है। 'मुसद्दस हाली की तर्ज पर लिखी गई यह काव्य-रचना स्वामी दयानंद सरस्वती के आर्यसमाजी आंदोलन से प्रभावित प्रतीत होती है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि 'भारत-भारती' ने तत्कालीन शिक्षित जन-चित्त की आशा-आकांक्षा को बुभुक्षित रहने से बचाया। उसने किसी बड़े आदर्श को प्रतिष्ठित तो नहीं किया लेकिन चित्त को उसके प्राचीन गौरव की कहानी सुनाकर सजग और साकांक्ष बनाया। 'भारत-भारती' ने उन दिनों विदेशी शासन से मुक्ति पाने की अपूर्व प्रेरणा दी। समूचे हिंदीभाषी प्रदेश को उद्बुद्ध और प्रेरित करने में इस पुस्तक ने प्रशंसनीय शक्ति का परिचय दिया।'³

गुप्त जी सनातनधर्मी हिंदू कवि थे, फिर भी उन्होंने आर्यसमाज के निराकार मत की अवहेलना नहीं की है। इस दृष्टि से वे तुलसी जैसे समन्वयवादी ही अधिक प्रतीत होते हैं। स्वामी जी भारतीय पुनर्जागरण के महत्त्वपूर्ण प्रभावसूत्र यूरोपीय बुद्धिवाद के समर्थक थे और इसी के परिमार्जित प्रकाश में भारतीय संस्कृति के समस्त स्वरूप को पुनः जाग्रत करना चाहते थे। 'पुराणों की कथाओं पर शंका करके हिंदी-प्रांतों में उन्होंने ही यह प्रवृत्ति जगाई कि पुराणों को देखने की प्राचीन दृष्टि यथेष्ट नहीं है, पौराणिक कथाओं, देवताओं और पौराणिक मानवों को नए ढंग से समझने के लिए बुद्धिवाद की नई दृष्टि चाहिए। अंधविश्वासों के बहिष्कार की शिक्षा भी हिंदीवालों को पहले-पहल उन्हीं के उपदेशों से प्राप्त हुई और उन्हीं को देखकर हिंदी-प्रांतों में पहले-पहल यह भाव जाग्रत हुआ कि यूरोप से आनेवाले ज्ञान के प्रकाश में हमें अपने संपूर्ण जीवन, संपूर्ण इतिहास और सभी आदतों में संशोधन लाना चाहिए।'⁴ मैथिलीशरण जी पर स्वामी जी की विचार-पद्धति का प्रभाव इस प्रकार पड़ा कि उनकी समूची काव्य-चेतना ही पुनर्जागरण के रंग में रँग गई। 'साकेत' राम परब्रह्म का अवतार होते हुए भी आर्यों का आदर्श पुनः स्थापित करने वाले युगपुरुष बनकर प्रकट हुए हैं। उन्होंने स्वयं घोषणा की है—

भव में नव वैभव व्याप्त कराने आया,
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया।
संदेश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।⁵

महाकवि ने मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के इतिवृत्त को नवीनता, मौलिकता तथा युगानुरूपता प्रदान करने का यथोचित प्रयत्न किया है। उर्मिला और लक्ष्मण के दांपत्य जीवन के विविध प्रसंग, राम-सीता, मांडवी-भरत तथा श्रुतिकीर्ति-शत्रुघ्न के पारिवारिक जीवन की मनोरम झाँकी, कैकेयी के चरित्र-दोष का निराकरण, उर्मिला का विरह-वर्णन, भरत के पास ही संजीवनी औषधि का होना और वहीं से हनुमान को इसकी उपलब्धि, लक्ष्मण शक्ति के विषय में जानकर साकेतवासियों की रणसज्जा, उर्मिला का रणचंडी के वेश में राजमहल से बाहर निकलना एवं बशिष्ठ द्वारा राम-रावण युद्ध के संपूर्ण दृश्य साकेतवासियों को खड़े-खड़े दिखा देना इत्यादि नवीन उद्भावनाओं से रामकथा के कुछ अस्पष्ट और उपेक्षित दृश्य पाठकों

के समक्ष प्रस्तुत हुए हैं, जिनसे और कुछ भले ही न हुआ हो लेकिन कौतूहल की वृद्धि निश्चित रूप से हुई है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने टिप्पणी की है कि 'रामायण के भिन्न-भिन्न पात्रों के परंपरा से प्रतिष्ठित स्वरूपों को विकृत न करके उनके भीतर ही आधुनिक आंदोलन की भावनाएँ— जैसे किसानों और श्रमजीवियों के साथ सहानुभूति, युद्ध-प्रथा की मीमांसा, राज्यव्यवस्था में प्रजा का अधिकार और सत्याग्रह, विश्वबंधुत्व, मनुष्यत्व— कौशल के साथ झलकाई गई हैं। किसी पौराणिक ऐतिहासिक पात्र के परंपरा से प्रतिष्ठित स्वरूप को मनमाने ढंग से विकृत करना हम भारी अनाड़ीपन समझते हैं।'⁶ 'जयभारत' की रचना व्यास द्वारा रचित महाभारत के अनुकरण पर हुई है। यह महाकाव्य प्राचीन भारतीय संस्कृति का स्वच्छ और पारदर्शी रूप प्रस्तुत करता है। इसका मुख्य प्रतिपाद्य धर्म-अधर्म का युद्ध है, जिसमें प्रारंभ में अधर्म प्रबल होता हुआ दिखाया गया है, लेकिन अंत में धर्म की जय होती है। 'साकेत' और 'जयभारत' में कौनसा महाकाव्य अधिक सफल है, यह निर्णय करना सरल नहीं है। काव्य वैचित्र्य 'साकेत' में अधिक है। जहाँ तक कथानक की विशालता, कथावस्तु के गठन, यथार्थ जीवन की विविधता एवं चरित्र की संभावनाओं, संवादों की उत्कृष्टता, मनोवृत्तियों की पकड़, दार्शनिक विचारों की प्रौढ़ता, धर्म के प्रति सद्भाव, व्यापक सांस्कृतिक चेतना तथा काव्य-संदेश की गंभीरता का प्रश्न है, 'जयभारत' भी किसी से कम नहीं है। इसमें गुप्त जी विराट् जीवन-द्रष्टा, दार्शनिक, विश्लेषण और उच्चादर्शों के संदेशवाहक बनकर अपनी उच्च साधना के प्रतीक बन गए हैं। इसका श्रीगणेश करते हुए महाकवि ने लिखा है—

मनुज मानस में तरंगित बहु विचारस्रोत,
 एक आश्रय, राम के पुण्याचरण का पोत।
 नमोनारायण, नमोनर-प्रवर पौरुष-केतु।
 नमो भारति देवि, वंदे व्यास, जय के हेतु।⁷

गुप्त जी ने अपने पारिवारिक संस्कारों के अनुरूप भक्ति को अपने जीवन में सर्वोच्च महत्त्व प्रदान किया है। भगवद्भक्ति से भक्त के साथ-साथ औरों का भी कल्याण होता है। भगवान का सगुण रूप ही उन्हें प्रिय था। 'साकेत' में राम स्वयं कहते हैं—

जो नाम मात्र स्मरणमदीय करेंगे,
 वे भी भवसागर बिना प्रयास तरेंगे।
 पर जो मेरा गुणकर्म स्वभाव धरेंगे।
 वे औरों को भी तार पार उतरेंगे।⁸

भगवान विष्णु के सभी अवतार महाकवि के लिए आराध्य का स्वरूप थे। उन्होंने 'साकेत' के राम के समान ही 'जयद्रथ वध' और 'द्वार' में श्रीकृष्ण के प्रति अपने भक्ति-भाव का उद्घोष किया है। 'जयद्रथ वध' में युधिष्ठिर के माध्यम से श्रीकृष्ण से प्रार्थना करते हुए उन्होंने कहा है—

हे सच्चिदानंद प्रभो! तुम नित्य सर्व सशक्त हो,
 अनुपम अगोचर शुभ, परात्पर, ईश-वर अव्यक्त हो।
 तुम धेय, गेय, अजेय हो, निज भक्त पर अनुरक्त हो,
 तुम भव-विमोचन, पद्म लोचन, पुण्य पद्मासक्त हो।⁹

भक्ति का संबंध धर्म से है। गुप्त जी सभी धर्मों का आदर करते थे। हिंदूधर्म के अति प्रबल समर्थक होते हुए भी उनमें धार्मिक कट्टरता नाम-मात्र को भी नहीं थी। 'यशोधरा' में उन्होंने गौतम बुद्ध के पावन चरित्र का वर्णन अपने आराध्य पुरुष के समान ही किया है। 'महाभिनिष्क्रमण' के समय गौतम की निर्वेदशीलता निम्न पंक्तियों में द्रष्टव्य है—

प्रच्छन्न रोग हैं प्रकट भोग,
संयोग मात्र भावी वियोग।
हा, लोभ-मोह में लीन लोग,
भूले हैं अपना अपरिणाम।
ओ क्षणभंगुर भव राम-राम।¹⁰

'काबा और कर्बला' में उन्होंने अत्यंत श्रद्धापूर्वक हसन एवं हुसैन की बलिदान-गाथाओं को स्मरण किया है। इसकी कुछ पंक्तियाँ देखिए—

धर्म है सो धर्म है, जो पंथ है सो पंथ है,
एक ने सबके लिए भेजे यहाँ निजग्रंथ हैं।
बस उसी के मंत्र से चलते हमारे मंत्र हैं,
स्वमत के संबंध में हम सब समान स्वतंत्र हैं।¹¹

महाकवि भक्ति को आत्मोद्धार के साथ-साथ राष्ट्रोत्थान के लिए भी आवश्यक मानते थे। 'भारत-भारती' में उन्होंने गणेश जी से विनय करते हुए लिखा है—

इस देश को हे दीनबंधो! आप फिर अपनाइए
भगवान भारतवर्ष को फिर पुण्यभूमि बनाइए।
जड़तुल्य जीवन आज इसका विघ्न-बाधापूर्ण है
हेरम्ब अब अवलंब देकर विघ्नहर कहलाइए।¹²

मुंशी प्रेमचंद जी ने लिखा है कि 'साहित्य केवल मन-बहलाव की चीज़ नहीं है, मनोरंजन के सिवा उसका और भी कुछ उद्देश्य है। अब वह केवल नायक-नायिका के संयोग-वियोग की कहानी नहीं सुनाता, किंतु जीवन की समस्याओं पर भी विचार करता है और उन्हें हल करता है। अब वह स्फूर्ति या प्रेरणा के लिए अद्भुत आश्चर्यजनक घटनाएँ नहीं ढूँढ़ता और न अनुप्रास का अन्वेषण करता है, किंतु उसे उन प्रश्नों में दिलचस्पी है, जिनसे समाज या व्यक्ति प्रभावित होते हैं। उनकी उत्कृष्टता की वर्तमान कसौटी अनुभूति की वह तीव्रता है, जिससे वह हमारे भावों और विचारों में गति पैदा करता है।' ¹³ गुप्त जी भी इसी विचार के समर्थक थे। उन्होंने कविता कामिनी को आनंददात्री शिक्षिका के रूप में जन्म से ही श्रीराम की अनुगामिनी माना और कवियों को संयोग और वियोग का राग त्यागकर उत्साह एवं उद्योग का संचार करने का परामर्श दिया। कवि का कर्म केवल मनोरंजन नहीं है—

केवल मनोरंजन न कवि कर्म होना चाहिए,
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए।
क्यों आज 'रामचरितमानस' सब कहीं सम्मान्य है?
सत्काव्य युत उसमें परम आदर्श का प्राधान्य है।¹⁴

देशभक्ति और राष्ट्रीयता की पावन धारा का उद्गम स्रोत पुनर्जागरण में ही निहित है।

सन् 1857 ई० के उपरांत देश का समस्त प्रबुद्ध वर्ग राष्ट्रीय अवनति तथा पराधीनता से चिंतित था। सभी के मन में एक ही प्रश्न था कि भारतवर्षोन्नति कैसे हो? राजनीतिज्ञ, समाजसेवक, धर्माचार्य, लेखक, कवि-पत्रकार इत्यादि इसी प्रश्न का उत्तर विभिन्न तरीकों से विभिन्न स्तरों पर तलाश रहे थे। गुप्त जी ने 'भारत-भारती' की रचना करके जन-जागरण का स्तुत्य प्रयास किया। देश-सेवा अथवा राष्ट्रीय भावनाओं को सर्वव्यापी बनाने के लिए उद्योग और उत्साह की परम आवश्यकता थी और इन्हें उत्तेजित करने के लिए काव्य अति उत्तम पाथेय की तरह था। महाकवि ने 'भारत-भारती' की रचना के लिए इसी उद्देश्य को अभीष्ट माना। उन्होंने इसकी प्रस्तावना में लिखा कि 'बड़े खेद की बात है कि हम लोगों के लिए हिंदी में अभी तक इस ढंग की कोई कविता-पुस्तक नहीं लिखी गई, जिसमें हमारी प्राचीन उन्नति और अर्वाचीन अवनति का वर्णन भी हो और भविष्यत् के लिए प्रोत्साहन भी, इस अभाव की पूर्ति के लिए जहाँ तक मैं समझता हूँ कोई यथोचित प्रयत्न नहीं किया गया। ... यह सोचकर कि बिल्कुल ही न होने की अपेक्षा कुछ होना ही अच्छा है, मैंने इस पुस्तक के लिखने का साहस किया।'¹⁵ उन्होंने जो कुछ भी लिखा है, राष्ट्रहित के प्रति समर्पित होकर लिखा है। राष्ट्रीय नवजागरण के लिए वे तन, मन और धन से समर्पित थे। नवयुवकों को संबोधित करते हुए उन्होंने लिखा—

हे नवयुवाओ! देशभर की दृष्टि तुम पर ही लगी,
है मनुज-जीवन की तुम्हीं में ज्योति सबसे जगमगी।
दोगे न तुम तो कौन देगा योग देशोद्धार में,
देखों कहाँ क्या हो रहा है आजकल संसार में।¹⁶

डॉ० श्यामसुंदर दास जी ने 'भारत-भारती' की प्रशंसा में लिखा है कि 'भारत-भारती' अब भी अनेक देशप्रेमी नवयुवकों का कंठहार हो रही है और कितने नवसिखिए कवि अब भी उनका अनुकरण करते देखे जाते हैं।'¹⁷ जननी जन्मभूमि स्वर्ग से भी महीयसी और गरीयसी है। यह वह पुण्यभूमि है, जहाँ देवता भी अवतार लेना अपना सौभाग्य मानते हैं। 'साकेत' में श्रीराम ने स्वीकार किया है कि —

अथवा आकर्षण पुण्य भूमि का ऐसा,
अवतरित हुआ मैं आप उच्च फल-जैसा

उच्चारित होती चले वेद की वाणी,
गूँजे गिरिकानन सिंधुपार कल्याणी।¹⁸

'सिद्धराज' में गुप्त जी ने जन्मभूमि के प्रति अपनी दृढ़ आस्था का प्रतिपादन निम्न शब्दों में किया है—

मेरी यह जन्मभूमि जननी जगत् मे
मेरे प्राण रहते रहेगी महारानी ही,
किंकरी न होगी किसी और नरपाल की।
पंच तत्त्व मेरी पुण्यभूमि के हैं मुझमें,
कहला रहे हैं यही मुझसे पुकार के—
हम परतंत्र नहीं सर्वथा स्वतंत्र हैं।¹⁹

महाकवि लोकतंत्र को शासन-व्यवस्था का आधार मानते थे। उनकी दृष्टि में राजा प्रजा का पात्र और लोक-प्रतिनिधि मात्र है—

राजा प्रजा का पात्र है, वह लोकप्रतिनिधि मात्र है,
यदि वह प्रजापालक नहीं तो त्याज्य है।
हम दूसरा राजा चुनें जो सब तरह अपनी सुने,
कारण प्रजा का ही असल में राज्य है।²⁰

हमें विपत्तियों में दुख और शोक में कभी हताश नहीं होना चाहिए। इनके समस्त प्रहारों को धैर्यपूर्वक सहना चाहिए। यदि हम कर्तव्य-पथ पर दृढ़ रहेंगे तो सफलता अवश्य मिलेगी। अपने अधिकारों को खोकर चुप बैठ जाना महादुष्कर्म है—

दुख-शोक जो भी आ पड़े, सो धैर्यपूर्वक सब सहो,
होगी सफलता क्यों नहीं कर्तव्य-पथ पर दृढ़ रहो।
अधिकार खोकर बैठ रहना यह महादुष्कर्म है,
न्यायार्थ अपने बंधु को भी दंड देना धर्म है।²¹

प्रो० शांतिस्वरूप गुप्त के अनुसार, 'गुप्त जी के राष्ट्रवादी काव्य की दो विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं, जो उन्हें अन्य राष्ट्रवादी कवियों से भिन्न बना देती हैं— प्रथम तो उनके राष्ट्रवादी काव्य में बौद्धिक ऊहापोह और तर्क-वितर्क न होकर राष्ट्रीय उत्थान और लोक-कल्याण का सहज भाव है और वह आदर्शवाद पर आधृत है। दूसरे उनकी राष्ट्रीय भावना विशुद्ध राजनीति न होकर संस्कृति पर अधिष्ठित है।'²² पुनर्जागरण के प्रयासों ने नारी-उत्थान को एक नई दिशा प्रदान की। रवींद्रनाथ ठाकुर तथा महावीरप्रसाद द्विवेदी इत्यादि से प्रभावित होकर गुप्त जी ने इस दिशा में अत्यंत सफल प्रयास किए। जिस समय उन्होंने काव्य-रचना के क्षेत्र में पदार्पण किया, उस समय स्त्रियों को जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में पत्नी, माता, भगिनी, पुत्री एवं मित्र के रूप में सम्मान देने की परंपरा चल पड़ी थी। स्वाधीनता, समान अधिकार एवं 1857 ई० के स्वतंत्रता-संग्राम में नारियों के अतुलनीय बलिदान के कारण भी सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों में उनका महत्त्व दिन-प्रतिदिन बढ़ रहा था। गुप्त जी ने उपेक्षित नारी-पात्रों के चरित्रों को उच्च स्तर प्रदान करके शताब्दियों से दबी-कुचली निरीह नारी को उत्थान के लिए प्रेरित किया। उन्होंने उसके कामिनी और रमणी रूप का सुंदर वर्णन भी किया है। 'हिडिम्बा' की निम्न पंक्तियाँ इस संदर्भ में पठनीय हैं—

उत्थित वसुंधरा के रत्नों की शलाका थी
किंवा अवतीर्ण हुई मूर्तिमती राका थी,
अंग मानों फूल, कच भृंग हरी शाटिका
ओस मुस्कान बन होठों पर आई थी,
सुरभि तरंत वायुमंडल में छाई थी।²³

वैसे गुप्त जी अपने नारी-पात्रों में उन्हीं गुणों को प्रतिष्ठित करना चाहते थे, जो भारतीय कुलबधुओं के लिए जीवन-आदर्शों के रूप में स्वीकृत थे। उन्होंने नारियों की उस समय हो रही दुर्दशा पर दुख प्रकट करते हुए स्पष्ट किया है—

अनुकूल आद्याशक्ति की सुखदायिनी जो स्फूर्ति है,

सद्धर्म की जो मूर्ति और पवित्रता की पूर्ति है,
नर जाति की जननी तथा शुभ-शांति की स्रोतस्वती!
हा दैव! नारी-जाति की कैसी यहाँ है दुर्गती! ²⁴

उन्होंने नारी के प्रति पुरुषों द्वारा किए जा रहे दुर्व्यवहार की खुलकर निंदा की है। नारी को मात्र भोग-विलास की वस्तु माननेवाली पुरुषों की दृष्टि उन्हें कभी पसंद नहीं आई। 'द्वापर' की निम्न पंक्तियाँ इसका प्रमाण हैं—

हाय बधू ने क्या वर-विषयक एक वासना पाई?
नहीं और कोई क्या उसका पिता, पुत्र या भाई?
नर के बाँटे क्या नारी की नग्नमूर्ति ही आई?
माँ, बेटी या बहिन हाय! क्या संग नहीं वह लाई? ²⁵

'द्वापर' में गुप्त जी ने 'विधृता' के माध्यम से नारी की सामाजिक नगण्यता तथा अरक्षित पत्नीत्व की समस्या उठाई है। 'यशोधरा' पति-परित्यक्ता नारी की यशोगाथा है। इसमें भी उन्होंने नारी-दुर्दशा का अत्यंत करुण वर्णन किया है—

चेरी थी वह आज कहाँ, कल थी जो रानी,
दानी प्रभु ने दिया उसे क्यों मन यह मानी?
अवला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।
मेरा शिशु संसार वह दूध पिए परिपुष्ट हो,
पानी के ही पात्र तुम प्रभो, रुष्ट या तुष्ट हो। ²⁶

महाकवि ने नारी को सदैव महत्त्व दिया है। उन्होंने इस संदर्भ में जहाँ भी अवसर मिला है, कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी है। 'यशोधरा' में गौतम बुद्ध कहते हैं—

दीन न हो गोपे सुनो, हीन नहीं नारी कभी,
भूत-दया-मूर्ति वह मन से शरीर से
क्षीण हुआ वन में क्षुधा से मैं विशेष जब
मुझको बचाया मातृ-जाति ने ही खीर से।
आया जब मार मुझे मारने को बार-बार
अप्सरा अनीकिनी सजाए हेम-हीर से,
तुम तो यहाँ थीं धीर ध्यान ही तुम्हारा वहाँ
जूझा मुझे पीछे कर पंचशर वीर से। ²⁷

उन्होंने पुरुष-प्रधान समाज द्वारा नारी पर लगाए गए प्रतिबंधों पर भी स्पष्ट रूप से व्यंग्य किया है—

नरकृत शास्त्रों के सब बंधन
है नारी को ही लेकर
अपने लिए सभी सुविधाएँ
पहले ही कर बैठे नरा। ²⁸

भारतीय नारियों की पतिभक्ति संपूर्ण विश्व में अनुकरणीय उदाहरण के रूप में

स्वीकार की जाती है, फिर भी समय और समाज की गतिशीलता को दृष्टि में रखते हुए हमें शास्त्रों की पुरानी मान्यताओं पर पुनर्विचार करते हुए इस संबंध में कुछ नए मानदंड स्वीकार करने चाहिए। आचार-विचार के मामलों में जो अपेक्षाएँ नारी से की जाती हैं, वही पुरुषों से भी की जानी चाहिए। 'पंचवटी' में लक्ष्मण के माध्यम से गुप्त जी कहते हैं—

नारी के जिस भव्य भाव का
साभिमान भाषी हूँ मैं,
उसे नरों में भी पाने का
उत्सुक अभिलाषी हूँ मैं।²⁹

डॉ० लक्ष्मीनारायण 'सुधाशु' के मतानुसार 'नारी के पावन रूपों का रसात्मक परिचय देना कवि की एक ऐसी विशेषता है, जो उन्हें दूसरे कवियों की अपेक्षा एक ऊँचे धरातल पर प्रतिष्ठित कर देती है।'³⁰ पुनरावर्तन, राष्ट्रीय भावना तथा समझौतावाद द्विवेदी-युगीन पुनर्जागरण की प्रमुख विशेषताएँ हैं। भारतेंदुयुग में पुनरावर्तन की यह भावना ब्रिटिश शासन की प्रतिक्रिया के कारण विकसित हुई और यही राष्ट्रीय भावनाओं की अभिव्यक्ति का साधन बनकर पुष्पित और पल्लवित हुई। धीरे-धीरे परिस्थितियाँ बदलीं और पुनरावर्तनवादी राजनीतिज्ञ राष्ट्रीयतावादी होते चले गए या फिर सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक उद्विकास में तल्लीन हो गए। लोकमान्य तिलक तथा उनके अनुयायी राष्ट्रीयतावादी आंदोलन में अग्रसर हुए। अरविंद घोष इत्यादि ने राजनीति से पृथक् होकर संन्यास तथा योग-साधना का मार्ग स्वीकार किया। गांधी जी ने गोखले आदि से प्रेरित होकर समझौतावादी दृष्टिकोण स्वीकार किया। उद्योगपतियों तथा ब्रिटिशशासकों की मित्रता के फलस्वरूप सामंतवाद और पूँजीवादी मनोवृत्ति के लोगों में भी समझौता हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि 'राष्ट्रीयता की भावना उदारपंथी नीति को अपनाकर कविता में अभिव्यक्त हुई। मैथिलीशरण गुप्त ने एक ओर तो ब्रिटिश राज्य की प्रशंसा की और दूसरी ओर निम्न मध्यवर्ग और किसानों की दुर्दशा का चित्रण और स्वदेशी का समर्थन किया।'³¹

सुखशांतिमय सरकार का शासन समय है अब यहाँ,
सुविधा समुन्नति के लिए है प्राप्त हमको सब यहाँ।
अब भी न यदि कुछ कर सके हम तो हमारी भूल है,
अनुकूल अवसर की उपेक्षा हूलती फिर शूल है।³²

इस 'समय की अनुकूलता' या सुअवसर की चर्चा महाकवि ने आगे की पंक्तियों में और स्पष्ट रूप से की है—

है ब्रिटिश शासन की कृपा ही यह कि हम कुछ जग गए,
स्वाधीन हैं हम धर्म में सब भय हमारे भग गए।
निज रूप को फिर हम सभी कुछ-कुछ लगे हैं जानने—
निज देश भारतवर्ष को फिर हम लगे हैं मानने।³³

'भविष्यत खंड' में बीकानेर के महाराजा पृथ्वीराज की ओजस्विनी कविता से प्रभावित होकर पूर्वव्रत पर सुदृढ़ होनेवाले महाराणा प्रताप की चर्चा करते हुए उन्होंने 'सोलन' नामक कवि चर्चा की है। 'पुराने जमाने में ग्रीस के एथेंस नगर वाले मेगारावालों से बैर-भाव रखते थे। एक टापू के लिए उनमें कई दफे लड़ाइयाँ हुईं। हर दफे एथेंसवालों की हार हुई। इस

पर सोलन नाम के विद्वान को बड़ा दुख हुआ। उसने एक कविता लिखी। उसे उसने एक ऊँची जगह चढ़कर एथेंस वालों को सुनाया। उस कविता का लोगों के दिल पर इतना असर हुआ कि फौरन मेगारावालों पर फिर चढ़ाई कर दी और जिस टापू के लिए यह बखेड़ा हुआ था, उसे एथेंस वालों ने लेकर ही दम लिया। इस लड़ाई में सोलन ही सेनापति बनाया गया था।³⁴ गुप्त जी ने एक सफल नेता की तरह कवियों को खुलेदिल से आगे बढ़ाने का प्रयास किया। यहाँ उन्होंने क्रांतियों का स्मरण भी अनायास ही कर लिया है—

संसार में कविता अनेकों क्रांतियाँ है कर चुकी,
 मुरझे मनों में बेग को विद्युत्प्रभाएँ भर चुकी
 मृत जाति को कवि ही जिलाते रस-सुधा के योग से,
 पर मारते हो तुम हमें उलटे विषय के रोग से।
 कवियो! उठो, अब तो अहो! कविकर्म की रक्षा करो
 सब नीच भावों का हरण कर, उच्च भावों को भरो।³⁵

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि श्री मैथिलीशरण गुप्त का काव्य भारतीय पुनर्जागरण के निरंतर विकासमान स्वरूप का अमिट दस्तावेज़ है। उसमें अतीत के गौरवगान के साथ-साथ वर्तमान की उत्तम आलोचना तथा भविष्य की मंगलकामना गीता के निष्काम कर्म प्रभुभक्ति, परहित और निश्चल नीति के ध्रुव धर्म के साथ विराजमान है। देश के नेताओं को उन्होंने निःस्वार्थ, निर्भय भाव से निज नीति पर निश्चल रहते हुए 'रष्ट्रेवयं जागृयाम पुरोहिताः स्वाहा' कहने का परामर्श दिया। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार 'गुप्त जी को लोकचित्त में राष्ट्र-प्रीति की भावना जगानेवाले सबसे शक्तिशाली कवि के रूप में हिंदी-जगत् देखता आया है। वे सच्चे अर्थों में राष्ट्रकवि हैं।'³⁶ डॉ० श्यामसुंदर दास की दृष्टि में 'बाबू मैथिलीशरण गुप्त आधुनिक खड़ीबोली के सबसे प्रसिद्ध और प्रतिनिधि कवि हैं। पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी के प्रभाव में रहकर उन्होंने अपनी भाषा का बड़ा ही सुंदर और परिमार्जित रूप खड़ा किया। द्विवेदी जी की ही भाँति उनकी भाषा में संस्कृत का पुट रहता है पर 'प्रियप्रवास' की भाँति वह अतिशय संस्कृतगर्भित नहीं होता। उर्दू के बहुत ही थोड़े शब्दों को ग्रहण करने के कारण वे पंडित गयाप्रसाद 'सनेही' जी की उर्दूमिश्रित कविताशैली से भी विभिन्न रूप में हमारे सामने आते हैं। अनुवादों में गुप्त जी को अद्भुत सफलता मिली है। इनसे उनकी विलक्षण क्षमता का पता तो चलता ही है, खड़ीबोली की शब्दशक्ति भी प्रकट होती है।'³⁷

संदर्भ

1. पंत, प्रसाद, और मैथिलीशरण, दिनकर पृ० 9
2. महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण, डॉ० रामविलास शर्मा, पृ० 618
3. हिंदी साहित्य (उसका उद्भव और विकास), डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० 442
4. दिनकर, पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ० 14-15
5. साकेत, श्री मैथिलीशरण गुप्त, पृ० 234, 235
6. रामचंद्रशुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० 418
7. जय भारत, श्री मैथिलीशरण गुप्त, पृ० 9

8. जय भारत, श्री मैथिलीशरण गुप्त, पृ० 235
9. जयद्रथबध, श्री मैथिलीशरण गुप्त, पृ० 93
10. यशोधरा, श्री मैथिलीशरण गुप्त, पृ० 15
11. काबा और कर्बला, श्री मैथिलीशरण गुप्त, पृ० 41
12. भारत भारती, श्री मैथिलीशरण गुप्त, पृ० 187
13. प्रेमचंद साहित्य का उद्देश्य, पृ० 12
14. भारत भारती, श्री मैथिलीशरण गुप्त, पृ० 177
15. वही, प्रस्तावना, पृ० 4,5
16. वही, पृ० 178
17. हिंदी भाषा और साहित्य, श्यामसुंदर दास, पृ० 476-477
18. साकेत, श्री मैथिलीशरण गुप्त, पृ० 235
19. सिद्धराज, श्री मैथिलीशरण गुप्त, पृ० 43
20. बक संहार, श्री मैथिलीशरण गुप्त, पृ० 22
21. जयद्रथबध, श्री मैथिलीशरण गुप्त, पृ० 5
22. मैथिलीशरण गुप्त, काव्य संदर्भ कोश, प्रो० शांतिस्वरूप गुप्त, पृ० 14
23. हिडिम्बा, श्री मैथिलीशरण गुप्त, पृ० 12, 13
24. भारत-भारती, श्री मैथिलीशरण गुप्त, पृ० 141
25. द्वापर, श्री मैथिलीशरण गुप्त, पृ० 35
26. यशोधरा, श्री मैथिलीशरण गुप्त, पृ० 47
27. वही, पृ० 126
28. पंचवटी, श्री मैथिलीशरण गुप्त, पृ० 27
29. वही, पृ० 27
30. जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धांत, डॉ० लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', पृ० 200
31. हिंदी वाङ्मय, बीसवीं शदी (संपादक डॉ० नगेंद्र) डॉ० विश्वंभरनाथ उपाध्याय, पृ० 108
32. भारत-भारती, श्री मैथिलीशरण गुप्त, पृ० 181
33. वही, पृ० 182
34. वही, पृ० 178
35. वही, पृ० 178
36. हिंदी साहित्य (उसका उद्भव और विकास) डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० 442
37. श्यामसुंदर दास, हिंदी भाषा ओर साहित्य, पृ० संख्या 476-477



प्रगतिवादी हिंदीकाव्य : पौराणिक एवं ऐतिहासिक संदर्भ

श्रीमती उमा मिश्रा

प्रगतिशील साहित्य स्फूर्तिदायक, वीरत्वव्यंजक, आशा और आस्था का संदेशवाहक होता है। उसमें यथार्थ ही अभिव्यक्ति, सुंदर मानववादी संस्कृति की कल्पना उच्च मानवादश्यों से संपृक्त होती है। उसमें फोटोग्राफिक या नग्न चित्रण नहीं होता। उसका संबंध कला के रूप में तत्त्व की अपेक्षा विचारतत्त्व या वस्तुतत्त्व से अधिक होता है। यथार्थ ही वस्तुगत सत्य को पकड़ता है। प्रगतिशील साहित्य जीवन की असंगतियों और अंतर्विरोधों को समझकर विकासशील और प्रतिगामी शक्तियों के संघर्ष का सजीव चित्र उपस्थित करता है। विगत परंपरा का वर्तमान से सामंजस्य आवश्यक होता है, क्योंकि प्रगति परंपरा का आधार ग्रहण करके ही होती है, पर पुरातन के मोह में अस्वस्थ या हानिप्रद जीर्ण-शीर्ण परंपराओं से चिपकना उचित नहीं और वर्तमान के चित्रण से आगत के आदर्श रूप की कल्पना की जाती है। 'निराला ने जहाँ दरबारी साहित्य या विरोध किया है, वहाँ संत-साहित्य का समर्थन भी किया है। वह न हर नई चीज़ का समर्थक है और न हर पुरानी चीज़ का विरोधी है। हमारे भावी साहित्य में प्रगति और परंपरा की ऐसी ही कड़ी जुड़नी चाहिए।'¹

श्री सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' ने अपने साहित्य में पौराणिक एवं ऐतिहासिक संदर्भों का विधिवत् वर्णन किया है। वे पौराणिक एवं ऐतिहासिक संदर्भों का अपनी रचनाओं में उल्लेख करके मानव-समाज को उनसे प्रेरणा लेने का संदेश देते हैं। चाहे 'राम की शक्ति पूजा' हो, 'तुलसीदास', 'छत्रपति शिवाजी का पत्र', 'यमुना के प्रति', 'देवी सरस्वती', 'सहस्राब्दि' या 'जागो फिर एक बार' हो, गीता का कर्मयोग' हो में निराला मानव-समाज को इन पौराणिक एवं ऐतिहासिक संदर्भों से सचेत करना चाहते हैं तथा अपनी पुरानी संस्कृति एवं परंपरा को जीवंत बनाए रखने का संदेश देते हैं।

'सहस्राब्दि' कविता में कवि ने इतिहास के अध्यायों पर विहंगम दृष्टि डाली है। यह बहुत ही सुंदर सांस्कृतिक रचना है, जो स्वस्थ एवं गतिशील भावधारा का आकलन करती हुई आशा का स्वर व्यक्त करती है—

आ रही याद
वह उज्जयिनी, वह निरवसाद
प्रतिमा, वह शर्त वृत्तात्मक था,
वह आर्य धर्म, वह शिरोधार्य वैदिक समता,
पाटलिपुत्र की बौद्धश्री का अस्त रूप,
वह हुई और भू हुए जनों और भूप.....।
लेखन में कालिदास के अमला-कला-कलन,
वह महाकाल के मंदिर में पूजोपचार,

वह विजय शकों के अप्रमाद,
वह महावीर विक्रमादित्य का अभिनंदन।'²

कवि अपनी अन्य रचनाओं में भारतीय संस्कृति व इतिहास के उपनिषद काल से लेकर पराधीन भारत तक प्रमुख शृंखलाओं को जोड़ता हुआ अतीत का गायन करता है। कवि समस्त विरोधों को, धन, बल और भैतिकता के पंकिल को नष्ट करना चाहता है और मानवीय करुणा की सात्त्विक ज्योति विश्व में प्रतिष्ठित करना चाहता है। 'जागो फिर एक बार' में गीता का कर्मयोग है, राष्ट्रीय आह्वान है। वीरता का गान और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि है। इस कविता के माध्यम से कवि हमें पारमार्थिक ऊँचाई पर ले जाना चाहता है, साथ ही पौरुष से भरी ललसा है—

तुम हो महान,
तुम सदा हो महान,
है नश्वर यह दीन भाव,
कायरता, कामपरता
ब्रह्म हो तुम
पद-रज भर भी है नहीं
पूरा यह विश्व भार
जागो फिर एक बार'³

इसी संदर्भ में 'राम की शक्ति पूजा' कविता विशेष रूप से ध्यातव्य है। वह कवि की अखंड प्रेरणादायक साधन और सिद्धि का सुंदर प्रमाण है। संघर्षों और अप्रत्याशित कठिनाइयों के रहते हुए भी उनके एकनिष्ठ ध्येय की उपलब्धि सराहनीय है। आराधना का दृढ़ आराधन से उत्तर देकर संयत प्राणों से वियज प्राप्त कर कवि ने राम के माध्यम से सत्य की विजय कराई है—

होगी जय, होगी जय, हे पुरुषोत्तम नवीन।
कह महाशक्ति राम के बदन में हुई लीन।'⁴

निराला ने सांस्कृतिक हास का चित्र 'तुलसीदास' में प्रस्तुत किया है। यह सांस्कृतिक भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है। आरंभिक पंक्तियाँ मुगलकाल के समय भारत के अस्तप्राय सांस्कृतिक सूर्य का परिचय देती हैं। निराला भोग-विलास का विरोध करते हैं—

भारत के नभ का प्रभा-सूर्य
शीतलच्छाया सांस्कृतिक सूर्य
अस्तमित आज रे
तपस्तूर्य दिङ्मंडल।'⁵

सुमित्रानंदन पंत ने अपनी रचनाओं में पौराणिक एवं ऐतिहासिक संदर्भों का उल्लेख कई कविताओं में किया है। इन रचनाओं के माध्यम से वे मानव-समाज जो पुरानी संस्कृति एवं इतिहास की जानकारी देना चाहते हैं, ताकि मानव उनसे प्रेरणा लेकर अपनी संस्कृति एवं परंपरा को पुनर्जीवित कर सके। जैसा कि पुराणों में वर्णित है कि स्वर्ग है, देवता हैं आदि। मानवतावादी पंत इस बात की स्पष्ट घोषणा करते हैं कि मनुष्यत्व, सुखत्व से कहीं दुर्लभ है,

विद्या वैभव से पहले प्रेम ओर ममत्व की ज्योति मनुष्य में चाहिए। अतः पंत का प्रगतिशील काव्य परस्पर ऐम का संदेश देते हुए प्रेम के धरातल पर लोकोत्तर मानवीय संबंध स्थापित करना चाहता है, जो स्वर्ग से कहीं अधिक मधुर है—

मनुज प्रेम से जहाँ रह सकें, मानव ईश्वर!

और कौनसा स्वर्ग चाहिए मुझे धरा पर? ⁶

पंत जी मानव को देवोत्तर बनाने के अभिलाषी हैं। जन-जीवन का ऊर्ध्व संचरण चाहते हुए लोक-संगठन और मनःसंगठन की लालसा व्यक्त करते हैं। कवि जीवों में ही ईश्वर को मानता है, वही क्षणभंगुर जीवन में नित्य अमर है, असफलताओं में सिद्धिदाता है, संघर्षों में शांति-स्थापक है। इसी तरह का भाव साम्य 'शिल्पी' की इन पंक्तियों में द्रष्टव्य है—

जीवन के प्रति श्रद्धा, मानव के प्रति आदर,

जीवों के प्रति स्नेह, यही प्रभु का पूजन है।

यह समस्त संस्कृति की ईश्वर की प्रतिमा है।

सार रूप में वही व्याप्त है निखिल जगत् में

मानव का मन ही उसका पावन मंदिर है। ⁷

कवि 'ग्राम-देवता' में पौराणिक एवं ऐतिहासिक संदर्भों का उल्लेख करता है। वह ग्राम-देवता को पुरातन पुरुष मानता है, वह तुलसीदास, अवध की संस्कृति, वाल्मीकि, व्यास आदि का वर्णन करता है। इस कविता की कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

विश्वास, धर्म, संस्कृतियाँ, नीति रीतियाँ गत

जन संघर्षण में होंगी ध्वस्त, लीन, परिणत,

बंधनमुक्त हो मानव आत्मा अप्रतिहत

नव मानवता का सद्य करेंगी युग स्वागत! ⁸

ऐतिहासिक संदर्भों के माध्यम से पंत बताना चाहते हैं—

युग-परिवर्तन के साथ ही जीवनोपाय के साधन भी बदलते हैं, सामाजिक संबंध नए रूप ग्रहण करते हैं, नव विचार और नव दर्शन का सूत्रपात होता है। कवि मार्क्सवादी विचारों को मानव समानता के आधार पर आत्मसात करता हुआ कर्महीन समाज की स्थापना के लिए प्रस्तुत है—

साक्षी है इतिहास, आज होने का पुनः युगांत,

श्रमिकों का अब शासन होगा उत्पादन यंत्रों पर!

वर्ग ही सामाजिकता देगी संवको सम-साधन,

पूरित होंगे जय के भव जीवन के निखिल प्रयोजन!'

प्रगतिशील कविता के प्रमुख स्तंभ केदारनाथ अग्रवाल पुराणों का संदर्भ देते हुए कहते हैं— मुझे इंद्र की सवारी ऐरावत हाथी की सवारी नहीं चाहिए, मुझे इंद्रासन का पद नहीं चाहिए न कि इंद्र की बाग का पारिजात वृक्ष ही, जो मनचाहा वरदान देता है, मुझे तो प्राणों से प्यारी भारतभूमि चाहिए, जो मानववाद से आबाद हो रही है। वह कहते हैं—

न चाहिए मुझे/ऐरावत की सवारी/न चाहिए मुझे/इंद्रासन

न चाहिए मुझे पारिजात/बस/अब/बहुत काफी है मुझे/मेरे

लिए लोकतंत्र की ज़मीन/जो हो रही है/ दिनों दिन/मानववाद
से हसीन/यही तो मेरे काव्य की/परम प्रेरक प्राण से
प्यारी/जन्मभूमि/यही तो है/मेरी मनोभूमि।' ¹⁰

केदारनाथ जी वेदों एवं पुराणों का संदर्भ देते हुए शोषित एवं उत्पीड़ित वर्ग को सलाह देते हैं कि राम तुम्हें रोटी नहीं देगा, वेद तुम्हारे किसी काम नहीं आएगा, जब तक तुम स्वयं अपनी रोटी प्राप्त करने के लिए संघर्ष नहीं करोगे। दूसरे शब्दों में केदार जी भगवान के भरोसे बैठे न रहने की सलाह देकर संघर्ष करने का आह्वान करते हैं और कहते हैं कि तुमको खाने की रोटी भगवान नहीं देगा, बल्कि तुम्हें संघर्ष करके पूँजीपतियों के हाथ से छीनकर अपनी भूख मिटानी होगी—

रोटी तुमको राम न देगा
वेद तुम्हारा काम न देगा।
जो रोटी के लिए लड़ेगा,
वह रोटी को आप बरेगा' ¹¹

प्रगतिवादी कवि केदारनाथ सर्वहारा वर्ग को ललकारते हुए कहते हैं कि तुम्हें अपने में क्षमता विकसित करनी होगी, तभी तुम गगनबिहारी सूर्य को पृथ्वी का भार धारण किए हुए शोषणाग को ललकार सकते हो तथा महाकाल से मृत्यु को जीत सकते हो। अर्थात् शोषित एवं उत्पीड़ित वर्ग-सामंतवादियों एवं पूँजीपतियों को तभी परास्त कर सकते हो, जब उनसे संघर्ष करने के लिए अपने में क्षमता विकसित करोगे—

मैंने आँख लड़ाई
गगन बिराजे राजे रवि से, शौर्य में,
धरती की ममता के बल पर।
मैंने ऐसी क्षमता पाई।
मैंने आँख लड़ाई
शोषणाग से, अंधकार के द्रोह में,
जीवन की प्रभुता के बल पर
मैंने ऐसी दृढ़ता पाई।
मैंने आँख लड़ाई
महाकाल से, मृत्युंजय की गोद में,
अजर-अमर कविता के बल पर
मैंने ऐसी विभुता पाई।' ¹²

प्रगतिशील कवियों ने पौराणिक एवं ऐतिहासिक अंधविश्वासों के कुहासे से युगीन यथार्थ को मुक्त करने का सराहनीय प्रयास किया है। नागार्जुन की कविताएँ— 'कल्पना के पुत्र हे भगवान', 'काली माई', 'भूले स्वाद बेर के', 'विजयी के वंशधर', 'मेम', 'देखना ओ गंगा मैया', 'मन करता है', 'लक्ष्मी', 'शकुंतला', 'शूर्पणखा', 'अहल्या' आदि तमाम सारी कविताएँ भारतीय जन-जीवन में व्याप्त घोर अंधविश्वास, जातीय आधार पर ऊँच-नीच की भावना, धार्मिक आडंबरों, खोखली आध्यात्मिकता पर गहरा आघात करती हैं। इसका अत्यंत कलात्मक

एवं सांकेतिक चित्र नागार्जुन ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

देखना ओ गंगा मैया

निराश न करना इन नंग-धड़ंग चतुर्भुजों को!

कहते हैं निकली थीं कभी तुम

बड़े चतुर्भुज के चरणों में निवेदित अर्घ-जल से,

बड़े होंगे तो छोटे चतुर्भुज भी चलाएँगे चप्पू....

देखना ओ गंगा मैया।'¹³

कवि पुराणों के संदर्भ के माध्यम से शोषक एवं शोषित के मध्य के संबंध को कितने रोचक ढंग से प्रस्तुत करता है, यह पठनीय है—

शिवजी की तीसरी आँख से

निकली हुई महाज्वाला में

घृत मिश्रित सूखी समिधा-सम

कामदेव जब भस्म हो गया

रति का क्रंदन सुन आँसू से

तुमने ही तो दृग धोए थे?

कालिदास, सच-सच बतलाना

रति रोई या तुम रोए थे?¹⁴

प्रगतिवादी कवि नागार्जुन ने 'जयति जयति सर्वमंगला' कविता में सामंतवादी एवं पूँजीवादी व्यवस्था का विरोध किया है। पौराणिक एवं ऐतिहासिक संदर्भों के माध्यम से शोषक एवं शोषित वर्ग के संबंधों की वे स्पष्ट विवेचना करते हैं। नागार्जुन की यह कविता द्रष्टव्य है—

शरशय्या पर पड़े हुए हैं वृद्ध पितामह,

स्तनपायी शिशु छिन्न मुंड छटपटा रहे हैं

नग्न वुभुक्षित द्रुपदसुताएँ त्राहि-त्राहि करती फिरती हैं

पाँचों दिशाओं में मुँह फेरे पाँचों पांडव

एकचित्त नहीं हो पा रहे हैं

बड़ी-बड़ी तनखाहें पानेवाले विदुरों की मत पूछो

मुद्रित मन नत-नयन कुर्सियों पर बैठे हैं।¹⁵

श्री त्रिलोचन शास्त्री की अधोलिखित कविता पौराणिक एवं ऐतिहासिक संदर्भों का उत्तम नमूना है। इसमें मंत्रद्रष्टा ऋषि, वाल्मीकि, व्यास, कालिदास एवं तुलसीदास का नाम आया है—

कवि तो हुए मंत्रद्रष्टा ऋषि, उनके

बाद हुए मुनि वाल्मीकि, फिर व्यास हुए, फिर

कालिदास आए, फिर तुलसीदास हुए स्थिर

यशस्त्रकाय से, कवि रवींद्र ने आकर चुनके

स्वर-सुमनों का हार पिन्हाया।'¹⁶

धर्म के नाम पर समाज को बाँटनेवाले धर्म के ठेकेदारों पर प्रहार करते हुए शास्त्री

जी ऐसे धर्म की आलोचना करते हैं, जो मानव-मानव में विभेद उत्पन्न करता है। वे ऐसे पुराण एवं शास्त्र की भी निंदा करते हैं, जो भाई-भाई में मतभेद उत्पन्न करता है। वे कहते हैं—

वह मेरा भाई जिसको तुम अलगाना
अपना धर्म समझ बैठे हो, मैं न सुनूँगा
बात तुम्हारी उसी हृदय की बात सुनूँगा
जिसके पीछे शास्त्र चला करते हैं माना,
पारिजात जीवन का तुम तो ध्वजा धर्म की
लिए-लिए फिरते हो, तुमको ग्लानि नहीं है,
कोई भी मर जाए तुम्हारी हानि नहीं है
बहुत हुआ, दिख गई तुम्हारी कला कर्म की
हिंदू मुसलमान ईसाई अब ये सारे
नाम मिटेंगे, सब मनुष्य होंगे तुम्हारे।¹⁷

पुराणों के अनुसार भारतभूमि स्वर्ग से भी बढ़कर है। इस भारतभूमि पर दधीचि एवं कर्ण के समान दानी एवं शूरवीर होते आए हैं, जिनके दान एवं वीरता से हम जीवित हैं। ऐसी भारतभूमि के संबंध में त्रिलोचन वर्णित करते हैं—

स्वर्गादपि गरीयसी भारत की वसुधा पर
हैं दधीचि और कर्ण सरीखे, प्राप्त दान पर
कुछ दिन जी लेंगे, अपनी काँवर बहना है।¹⁸

जिन अन्यायी हाथों द्वारा सामान्य जीवन सदा नए-नए बंधनों में कुदृता रहा, आज उसके सामने सामान्य जन-जीवन अपनी संतुलित शांति से लड़ने को आतुर है, किसी प्रकार का प्रपंच इस जीवन-प्रवाह का गतिरोध नहीं कर सकता। आज असत्य का अंधकार प्रकाश के प्रवाह को पी जाने में समर्थ नहीं है। मानव का तेज अपराजित है। इनके पास भले ही जीवन की साधन-संपन्नता नहीं है, परंतु इनकी मानवी शांति विजयी होगी। यह नवीन विश्वास प्रगतिवादी कवियों का प्रेरणा-स्रोत है। जीवन की गति का स्वीकार जीर्ण उपकरण चाहे विचारों का अथवा साहित्यिक परंपराओं का, इन कवियों को स्वीकार नहीं है। जहाँ छायावादी कवि जीवन-संघर्ष से निराश कल्पनालोक में शक्ति एवं आनंद की कल्पना करता है, वही प्रगतिवादी कवि नई सामाजिक व्यवस्था के प्रति पूर्ण आस्थावान है। महत्त्व साधनों का नहीं, मनुष्य की आत्मिक शांति और जाग्रत चेतना का है। इन विचारों का अवलोकन भी त्रिलोचन शास्त्री की इन पंक्तियों में किया जा सकता है—

टूटा पहिया ईंधन अच्छा बन सकता है
जिससे जगन्नाथ जी का प्रसाद पक जाए,
पंक्ति-पंक्ति में भक्तों का समूह छक जाए।
चक्रव्यूह का युद्ध आज यदि बन सकता है,
तो अभिमन्यु आज जन-बल से तन सकता है।
व्यूह विधाता स्वयं व्यूह में फँस जाएँगे
उनका रचा कुहासा, पाकर समय कट के चला।¹⁹

मुक्तिबोध पौराणिक एवं ऐतिहासिक संदर्भों के माध्यम से यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि जिस प्रकार कौरव, भीष्म पितामह आदि पांडवों के साथ अन्याय कर रहे थे, उसी प्रकार आज सामंतवादी एवं पूँजीवादी वर्ग सामान्य जनता का उत्पीड़न कर रहे हैं। इसी संदर्भ का एक काव्यांश 'एक प्रदीर्घ कविता' में प्रस्तुत है—

इस नगरी में कौरव के घर
वीर द्रोण की थकन भरी है भूरी-भूरी
पीली है सूरत अनचाहों की सेवा में
कुंती-पुत्र कर्ण-कृप-सत्यकी की ग्रीवा में
कुत्ते की गर्दन का पट्टा,
दुखते हिय से ग्रीष्माचार्यों की मजबूरी
गौरव के घर!!'²⁰

संदर्भ

1. डॉ० रामविलास शर्मा, निराला पृ० 172
2. सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', अपरा, पृ० 174-175
3. वही, पृ० 18
4. डॉ० रामविलास शर्मा, संपादक, राग-विराग, पृ० 104
5. सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', तुलसीदास, पृ० 111
6. सुमित्रानंदन पंत, युगवाणी, पृ० 34
7. शिल्पी, पृ० 33
8. ग्राम्या, पृ० 62
9. युगवाणी, पृ० 44
10. डॉ० रामविलास शर्मा, प्रगतिशील काव्यधारा और केदारनाथ अग्रवाल, पृ० 322
11. केदारनाथ अग्रवाल, गुल मेहँदी, लोक और आलोक, पृ० 138
12. वही, अपूर्वा, पृ० 56
13. शोभाकांत, संपादक, नागार्जुन की चुनी हुई रचनाएँ, पृ० 108
14. वही, पृ० 25
15. वही, पृ० 90
16. त्रिलोचन, अनकहनी भी कुछ कहनी है, पृ० 55
17. वही, पृ० 19
18. वही, पृ० 33
19. रमाकांत शर्मा, समाजोन्मुख यथार्थवादी काव्य, पृ० 72
20. नेमिचंद्र जैन, संपादक, मुक्तिबोध रचनावली-2, पृ० 301

□ द्वारा डॉ० एम०एस० मिश्र
रीडर शिक्षाशास्त्र, हे०न०ब० महाविद्यालय, लालगंज, प्रतापगढ़ (उ०प्र०)

आकाशवाणी रोहतक से प्रसारित हिंदी नाटकों में संतान के कारण उत्पन्न परिवार की समस्याएँ डा० इंदूमति

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज में वैज्ञानिक प्रगति के परिणामस्वरूप औद्योगिकरण का विकास हुआ और नगरीकरण का प्रसार हुआ। औद्योगिकरण के विकास के कारण संयुक्त परिवार-प्रथा टूटने लगी और एकल परिवार-प्रथा पनपने लगी। गाँवों में कुटीर उद्योगों का हास होने के कारण ग्रामीण आजीविका की तलाश में नगरों की ओर दौड़े। परिणामस्वरूप लोगों का दृष्टिकोण व्यापक हुआ। व्यक्तिवादी दृष्टिकोण को बढ़ावा मिला। प्रत्येक व्यक्ति निजी हितों को महत्त्व देने लगा है, जिसका प्रभाव पारिवारिक संबंधों पर पड़ा। निजी स्वार्थों को महत्त्व मिलने के कारण पारिवारिक सदस्यों में पारस्परिक सहयोग, प्रेम, सहानुभूति, सद्भाव, ईमानदारी आदि मानवीय मूल्यों का हास होने लगा। परंपरागत रूढ़ियों को उन्मूलन होने लगा। परिणामस्वरूप पारिवारिक सदस्यों के पारस्परिक संबंधों में विघटन की स्थिति आई।

परंपरागत भारतीय समाज में परिवार वृद्ध लोगों के निर्देश में चलते थे, जो परंपरा को बढ़ाते रहते थे।¹ परंतु नई शिक्षा-प्रणाली और पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव के परिणामस्वरूप नई पीढ़ी की विचारधारा प्रगतिशील हुई। फलस्वरूप नई पीढ़ी और पुरानी पीढ़ी में संघर्ष शुरू हुआ। आज परिवार में वृद्ध माता-पिता की स्थिति अजीब हो गई है। नई पीढ़ी के युवक परिवार के वृद्धजनों को भार समझने लगे हैं। उन्हें उनका अपने किसी भी काम में हस्तक्षेप सह्य नहीं है। इसलिए आज के युग में माता-पिता और संतान के संबंधों में विघटन होने लगा है।

आर्थिक दृष्टि से संपन्न होने के लिए अथवा महँगाई से जूझने के लिए आज के मध्यवर्गीय भारतीय परिवार में नर-नारी दोनों को समान रूप में धनोपार्जन करना पड़ता है। फलतः भाग-दौड़ में समयाभाव रहता है और ऐसी व्यवस्था में माता-पिता संतान की ओर कम ही ध्यान दे पाते हैं। अभिभावकीय अंकुश न होने के कारण संतान का उद्दंड एवं उच्छृंखल होना असंभव नहीं है। दांपत्यों में तनाव आने की स्थिति में बच्चे भी प्रभावित होते हैं।

समाज की सबसे महत्त्वपूर्ण इकाई परिवार एवं पारिवारिक सदस्यों के पारस्परिक संबंध हैं। परिवार में रहते हुए पारिवारिक सदस्यों के मध्य संबंध मधुर, स्नेहिल एवं प्रेमपूर्ण है तो जीवन जीने का आनंद ही अनूठा है। लेकिन यदि संबंध वैमनस्यपूर्ण एवं कटुतापूर्ण है तो जीवन के क्षण काँटों से भरे हुए, दुःखद एवं उलझनों से भरे हुए होंगे।²

पीढ़ियों के अंतराल के कारण माता-पिता और संतान के संबंध की सौहार्दता समाप्त हुई है। माता-पिता पुराने संस्कारों और मान्यताओं से चिपके हैं और संतान आधुनिक परिवेश में साँस ले रही है। जो मूल्य अनुपयुक्त हैं, उनका संतान विरोध करती है। कहीं-कहीं संतान की अवस्था त्रिशंकु जैसे हुई है तो कहीं पुरानी पीढ़ी संतान की चरम आधुनिकता से समझौता भी करती दिखाई देती है। कहीं पिता उत्तरदायित्वहीन रहे हैं, कहीं संतान को समझने में असमर्थ

हैं। नई पीढ़ी वृद्धों की तानाशाही से ग्रस्त है, तो कहीं पुरानी पीढ़ी संतान की तानाशाही से। शैशवावस्था में संतान को अगर माता-पिता का स्नेह नहीं मिलता तो यह युवा मन-मस्तिष्क में मनोग्रंथि बन जाती है। वृद्ध माता-पिता के प्रति संतान का व्यवहार अवचेतन में दबी इन्हीं ग्रंथियों से परिचालित रहता है।

प्रेम-विवाह और यौन-संबंध में नई पीढ़ी की दृष्टि में परिवर्तन हुआ है। पुरानी पीढ़ी का हस्तक्षेप मान्य नहीं। माता-पिता व संतान के मध्य के निस्वार्थ प्रेम में भी कभी-कभी आर्थिक स्थितियाँ आड़े आकर उसकी गहराई और पवित्रता पर प्रश्नचिह्न लगा देती हैं। अधिकांशतः माता-पिता और संतान के विघटित संबंधों का कारण आर्थिक ही है। अर्थ का अभाव और दबाव इस संबंध की मधुरता को तिक्तता में बदल देता है। संतान आधी-अधूरी सुविधाएँ नहीं चाहती, पूर्ण आर्थिक सुख देने में असमर्थ पिता को संतान पिता मानने के लिए तैयार नहीं होती।

अस्तित्ववादी चिंतन और प्रजातंत्रीय परिवेश में पली संतान, माता-पिता के सामंती व्यवहार का विरोध करती है तो माता-पिता भी आज अपने अस्तित्व और अस्मिता के प्रति सजग हैं। आर्ष ग्रंथों की माता-पिता के प्रति आदर और आदर्श की मान्यताओं का उपहास उड़ाया जाता है। आधुनिक माता-पिता बच्चों को भौतिक साधनों की आपूर्ति में और अच्छे स्कूलों में कहीं दूर छात्रावास में रखकर उच्च अँग्रेजी शिक्षा दिलाने में धन्यता मानते हैं। बच्चों को अपने साथ रखने में माता-पिता की सहवास की ललक शेष रहती है।

माता-पिता संतान के रहते भी एकाकी बन जाते हैं। पिता की हैसियत गृहस्वामी की नहीं रह गई है। घर में उनको उपयोगिता को कसौटी से आँका जाता है। उन्हें संतान के प्रति मोह रखने का बड़ा मूल्य चुकाना पड़ता है और बच्चों के मोह से उपजा दर्द झेलना पड़ता है। अपनी ही गृहस्थी में वृद्धावस्था के कारण अजनबीपन भुगतना पड़ता है। आकाशवाणी रोहतक के नाटक माता-पिता की विवशता और समस्याओं के सशक्त व्याख्यान हैं। इनका अस्तित्व कभी-कभी उनकी समस्त आधुनिकता के बावजूद नई पीढ़ी के लिए निरर्थक हो जाता है। आधुनिकता बोध ने संबंधों की ऊष्मा समाप्त कर दी है।

आज का नवयुवक पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के फलस्वरूप धर्म और नीति से विमुख होता जा रहा है। उसकी दृष्टि में पारस्परिक रीति-रिवाज, मान्यताएँ और आदर्श सभी निरर्थक हैं। एक ओर युवा वर्ग पाश्चात्य सभ्यता का अंधानुकरण करने में लीन है तो दूसरी ओर परिवार की पुरानी पीढ़ी नई पीढ़ी के नए विचारों से संतुष्ट नहीं है। इस प्रकार दो पीढ़ियों का संघर्ष भी पारिवारिक विघटन को जन्म देता है।

आकाशवाणी रोहतक से प्रसारित पूरनचंद पांडेय द्वारा लिखित रेडियो नाटक 'जैसी करनी वैसी भरनी' में पिता पुत्र के संबंधों में विघटन का चित्रण किया गया है।³ अजय गोपी का इकलौता पुत्र है, जो जानकी से प्रेम-विवाह करना चाहता है, परंतु माता-पिता प्रेम-विवाह करने से रोकते हैं। अजय माता-पिता की बात न मानकर जानकी से प्रेम-विवाह करके घर ले आता है। पिता-पुत्र के इस टकराव को पिता रोकने का प्रयास करता है और अपनी पत्नी को समझाकर चुप कर देता है।

विवाह से पूर्व अजय अपने माता-पिता की अच्छी प्रकार से सेवा करता था। वह

माता-पिता का इकलौता आज्ञाकारी पुत्र था। परंतु विवाह के उपरांत अजय की पत्नी जानकी को सास-ससुर की सेवा करना व उनके साथ रहना अच्छा नहीं लगा। जिसके कारण माता-पिता और पुत्र में पारिवारिक कलह प्रारंभ हो गया और माता-पिता व संतान के संबंधों में समस्याएँ उत्पन्न हो गईं। जानकी को केवल इतने से ही संतोष नहीं मिला, वह अपने सास-ससुर से अलग घर में रहना चाहती थी। जानकी अजय से कहती है, 'क्यों न कहूँ? मैं पूछती हूँ, कहाँ गया तुम्हारे प्यार जब तुम कहते थे तेरे लिए मैं सारी दुनिया छोड़ सकता हूँ? यहाँ लाकर तुमने मुझे अपने माँ-बाप की नौकरानी बनाकर रख दिया है। मैं नहीं कर सकती इनकी नौकरी। मैं घर छोड़कर जा रही हूँ।⁴ गोपी अजय को समझाता है कि इस प्रकार से पति-पत्नी, झगड़ा नहीं करते तथा झगड़ने का कारण पूछता है, जानकी कहती है, 'यह क्या बोलेगा? मैं बताऊँगी सारी बातें। मैं आज आपसे साफ़-साफ़ कह देती हूँ, मैं न तुम्हारे लिए खाना बनाऊँगी, न तुम्हारे झूठे बर्तन धोऊँगी, न कपड़े धोऊँगी और न कोई बात सुनूँगी। मेरा आप लोगों से कोई संबंध नहीं। संबंध है तो केवल अजय से।⁵ अर्थात् पत्नी केवल पति की सेवा करना चाहती है। सास-ससुर या परिवार की नहीं।

गोपी जानकी को बहुत समझाने का प्रयास करता है, परंतु नई पीढ़ी की युवती पुरानी पीढ़ी के वृद्ध सास-ससुर के साथ एक पल को भी रहने के लिए तैयार नहीं। इसके अतिरिक्त बहू सास को मिथ्या आरोपों से भी कलंकित करती है। जिसके परिणामस्वरूप गोपी अपनी पत्नी के साथ यह घर छोड़कर दूसरे मकान में जाकर रहने का निर्णय करता है और अपने बेटे-बहू को अपना मकान रहने के लिए दे देता है। माता-पिता तभी प्रसन्न रह सकते हैं, जब उनके बच्चे प्रसन्न रहें। गोपी व उसकी पत्नी ने अपने इसी धर्म का पालन किया है। इस प्रकार से माता-पिता और संतान के मध्य विघटन हो जाता है।

'जैसी करनी वैसी भरनी' नाटक में लेखक ने बेटे के चरित्र का चित्रण किया है कि आज की नई पीढ़ी अपने माता-पिता की अपेक्षा अर्थ को अधिक महत्त्व देती है। माता-पिता की जलकर मौत हो जाने पर कहीं उनके अंतिम संस्कार में धन व्यय न हो उसे बचाने के लिए भी वे अधजले शरीरों को घर के बेकार सामान के साथ ही पूर्णाहुति देकर अपने कर्तव्यों की इतिश्री कर लेते हैं।

पुरानी पीढ़ी (माता-पिता) की बड़ी-बड़ी आशाओं से पालित संतान (नई पीढ़ी) जब असमर्थ होकर उनसे ही बदल जाती है, तब उनके मन-मस्तिष्क में कितनी घुटन, ऊब और व्यर्थता का बोध होता होगा। विशेषकर जब माता-पिता (पुरानी पीढ़ी) वृद्ध और असमर्थ हों। डॉ॰ हरीशरण वर्मा कृत नाटक 'जीवन की जंग' इसी परिवर्तन को रेखांकित करता है। माता-पिता पाँच समर्थ बेटों के होते हुए भी कितने एकाकी हैं।

विजय और मीना के पास पाँच बेटे और दो बेटियाँ हैं, परंतु वृद्ध माता-पिता अपनी दो छोटी अविवाहित बेटियों के साथ ही कर्ज से दबे हुए मजदूरी करके निर्वाह कर रहे हैं। पाँच बेटों की शिक्षा के लिए विजय ने सेठ से ऋण लिया और फिर नौकरी लगवाने के लिए सेठ से ऋण लिया। सोचा था कि पाँचों बेटों की नौकरी लग जाने के उपरांत ऋण से मुक्त हो जाएँगे। परंतु आशा के विपरीत बेटों की नौकरियाँ लगने पर एक-एक करके अपने माता-पिता को छोड़कर अपनी पत्नियों व बच्चों को लेकर अलग-अलग अपने परिवारों के साथ

रहने लगे।

वृद्ध दंपति मानो उस कालखंड का प्रतीक हैं, जिसमें स्पंदन होता है, पर समूचे कालखंड से जुड़ने की शक्ति नहीं रह गई हैं। संतान साथ छोड़ देती है तो मकान भी ग़ैर बन जाता है। संतान का इतना सोचना पर्याप्त लगता है कि माता-पिता के पास रहने के लिए घर है, वृद्धावस्था में संतान के रहते एकाकी जीवन।

विजय का बेटा कुलदीप जब आता है तो विजय कर्जे के दस हजार के विषय में कुलदीप को यह सोचकर बताता है कि शायद बेटा कोई सहायता करेगा। परंतु बेटा कहता है— 'दस हजार। लेकिन आपने इतने अधिक पैसे सेठ से किसलिए लिए थे, पिता जी।' पिता ने सोचा था कि बेटे पढ़-लिखकर बड़े होंगे, अच्छी नौकरी पर लग जाएँगे, तो सब कर्जा चुटकियों में उतर जाएगा।' ओहो! यानि आपने हम पाँचों भाईयों के कंधे पर रखकर बंदूक चलानी चाही थी।.... लेकिन आपका सोचना ग़लत रहा पिता जी।..... क्योंकि आप हम पाँचों को छोटी-मोटी नौकरियाँ दिलवाने के अतिरिक्त और कुछ न बनवा सके और इस थोड़ी-सी आय में हममें से किसी की भी हिम्मत नहीं है कि आपकी सहायता कर सकें। ख़ैर इस कर्ज को उतारने के लिए, फिर तो पिता जी आपको अपनी आय का कोई और साधन जुटाना ही चाहिए।⁶

माता-पिता अपने बच्चों के लिए ऋण लेकर उनके कल्याण के कार्य करना अपना कर्तव्य समझते हैं, जबकि संतान उनके इस कर्तव्य को अपना अधिकार समझती है। दो पीढ़ियों के विचारों के अंतराल के कारण वह अपने कर्तव्यों से विमुख हो जाते हैं, जिसके कारण परिवार में समस्याएँ खड़ी हो जाती हैं।

माता-पिता जहाँ देशभक्त हैं, वहीं पर संतान उसके विपरीत देशद्रोह का कार्य करती है, जिसके कारण दोनों के विचारों में सामंजस्य न होने के कारण समस्याएँ उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। मधुकांत कृत रेडियो नाटक 'आजादी के दीवाने'⁷ में नकाबपोश स्वतंत्रता-सेनानियों के संघ का संचालक (बॉस) है, जो पुरानी पीढ़ी का है देशभक्त है, और देशभक्ति के लिए अपने देश को अँग्रेजों से स्वतंत्र करवाने के लिए अपना परिवार, अपना वैभव, अपनी सुख-संपत्ति सभी कुछ त्यागकर स्वतंत्रता-युद्ध में अँग्रेजों के विरुद्ध लड़ाई लड़ रहा है। दूसरी ओर उसी का बेटा जीवन, जो पिता के संघ व स्वतंत्रता-सेनानियों के साथ है, संघ के साथ गद्दारी करता है और पाँच लाख रुपयों के लालच में अँग्रेजों को संघ के समस्त ठिकानों व स्वतंत्रता-सेनानियों की सूची बनाकर देना चाहता है, परंतु समय से पूर्व ही उसकी बहन को इसकी सूचना मिल जाती है, जिसके कारण भाई-बहन में मतभेद हो जाता है, और जीवन की उसकी बहन के द्वारा ही हत्या कर दी जाती है, जिससे कि भारत की स्वतंत्रता के कार्य में और गद्दार पैदा न हो सकें और समाज सुरक्षित रह सके।

मधुकांत कृत रेडियो नाटक 'हरे काँटे, पीले गुलाब' में संतान की चिरपरिचित कथा है। संतान का संत्रास जलते शब्दों में अभिव्यक्त हुआ है। सक्षम युवक नौकरी और बड़ा आदमी बनने की होड़ में, प्रभाव और पैसों के अभाव में, ईमानदारी के कारण अपना सब कुछ समाप्त कर देता है। इंटरव्यू के नाटक, भ्रष्ट-व्यवस्था का टुच्चापन और इन सबसे टकराकर लहू-लुहान युवकों की निराशा, आक्रोश व्यक्त करते हैं, जिसके कारण पारिवारिक संबंधों में समस्याएँ उत्पन्न होती हैं।

‘हरे काँटे, पीले गुलाब’ का नायक गगन एक परिश्रमी व ईमानदार बेटा है, आजकल की नई पीढ़ी के बिल्कुल विपरीत विचारोंवाला। अपनी शिक्षा के क्षेत्र में सदैव प्रथम श्रेणी करनेवाला गगन, आदर्शवादी पिता का पुत्र है, जिसे भरी अदालत में झूठे आरोपों से अपमानित किया, जेल में भेजा, बीमार पिता पैसों के अभाव में तिल-तिलकर मर गया, परंतु कभी बेईमानी नहीं की। गगन भी पिता के उन्हीं पदचिह्नों पर चलनेवाला युवक है। गगन की प्रेमिका रक्षा, जो धनी परिवार की लड़की है और गगन से प्रेम करती है। गगन से विवाह करना चाहती है, रक्षा के पिता जी की शर्त है कि गगन बड़ा आदमी बने। गगन कई स्थानों पर नौकरी के लिए इंटरव्यू पर जाता है, परंतु वहाँ के खोखले आडंबरों और रिश्वत न दे पाने के कारण योग्यता रखने के बाद भी नौकरी प्राप्त करने में असमर्थ रहता है। रक्षा के पिता उसकी नौकरी अपने कार्यालय में लगवा देते हैं। लेकिन एक फर्म का मुनीम अपनी फ़ाइल निकलवाने के लिए आता है, जो अनुचित है। गगन फाइल को निकालने में अपनी असमर्थता प्रकट करता है, परंतु दूसरे दिन उसकी मेज़ के दराज में दो हज़ार रुपए छोड़ देता है और पुलिस के द्वारा रिश्वत देने के झूठे आरोप में पकड़वा देता है।

जबकि उसने ऐसा नहीं किया। कार्यालय का अधिकारी, जो रेखा का पिता है, कहता है—

अंकल : मैंने सोचा था तुम नई पीढ़ी के हो, जल्दी एडजस्ट हो जाओगे। लेकिन तुम तो दकियानूसी विचारों के निकले।

गगन : अंकल सच्चाई हर युग में सच्चाई ही होती है।

अंकल : शायद मैंने ही तुम्हें अपने साथ रखकर ग़लती की।

गगन : क्या मैंने कभी अपने काम में लापरवाही की?

अंकल : देखो बेटे, जिस लोहे में लचक नहीं होती, वह टूट जाता है।

गगन : अंकल, मैंने अपने पिता की चिंता को आग देते हुए क़सम खाई थी कि जिन सिद्धांतों और सच्चाई की लड़ाई उनसे अधूरी छूट गई थी, मैं उसे आगे बढ़ाऊँगा।⁸

प्रेमिका रक्षा भी गगन पर दबाव देती है, कि तुम रिश्वत लेना आरंभ करके लोगों के सब अच्छे-बुरे काम कर दिया करो। वरना, ‘गगन, पापा मुझे किसी और को सौंप देंगे। (रोती है) फिर मैं जी न पाऊँगी, मैं मर जाऊँगी गगन....।’ परंतु गगन अपनी प्रतिज्ञा पर अटल है, ‘नहीं रक्षा, थोड़ी-सी प्रतीक्षा करो। मैं मेहनत करके जल्दी से तरक्की कर जाऊँगा।’⁹

जेल में जाने के उपरांत रक्षा के पिता उसकी जमानत लेते हैं और वह घर आता है। वहाँ पर माँ तथा बड़ी बहन भी उससे नाराज़ हैं। गगन माँ को समझाता है, ‘माँ कम-से-कम तुम्हें तो ये बातें नहीं करनी चाहिए। पिता जी जिन मूल्यों के लिए सारी उमर लड़ते रहे, मैं उन्हें कैसे तोड़ सकता हूँ?’ माँ कहती है— ‘कौनसे मूल्य? उन्हीं मूल्यों ने मुझे विधवा बनाया। तेरे लिए, सुलेखा के लिए तिल-तिलकर जल रही हूँ, क्या दिया उन मूल्यों ने मुझे।’¹⁰ माँ गगन की ईमानदारी से परेशान होकर ग़म में संसार छोड़ देती है। गगन की अविवाहित बड़ी बहन भी घर छोड़कर अपने संबंधों को तोड़कर चली जाती है, जो एक पत्र छोड़ जाती है—

‘गगन भइया, मैं घर को छोड़कर जा रही हूँ।... अपने आदर्शों के लिए पिता जी मुझे डोली में न बैठा सके। शायद उन्हीं आदर्शों को पीटते हुए तुम भी मेरे हाथ पीले नहीं कर पाओगे।’¹¹ नई पीढ़ी के गगन के आदर्शों पर कोई साथ नहीं देता, माँ-बहन व प्रेमिका सभी उससे संबंध तोड़कर चले जाते हैं।

वस्तुतः आलोच्य नाटकों पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि नई पीढ़ी व पुरानी पीढ़ी के विचारों का वैषम्य है। पुरानी पीढ़ी अपनी रूढ़िगत मान्यताओं और विचारधारा पर दृढ़ है और वह उनमें समय के अनुसार परिवर्तन नहीं करती। वास्तव में पीढ़ियों का यह संघर्ष केवल व्यक्तियों का संघर्ष नहीं है, मान्यताओं और मूल्यों का भी संघर्ष है। पिता ने आदर्श को संतान ने यथार्थ को, पिता ने नैतिकता को और संतान ने निजी आकांक्षा और वरण की स्वतंत्रता को लेकर अपने-अपने लिए जीवन में जो बंद घेरे बना लिए, वे एक-दूसरे के लिए इतने संदर्भहीन, निरर्थक और अग्राह्य हो गए कि एक-दूसरे को समझ नहीं पाते।

आज व्यक्ति अर्थतंत्र के शिकंजे में ऐसे जकड़ा हुआ है कि हर समय और हर क्षेत्र में उसे आर्थिक प्रश्न और चिंताएँ मथती रहती हैं। इस मनःस्थिति के परिणामस्वरूप ही आज सरकारी अधिकारी के मानस पटल पर भी अर्थ का हौवा छाया हुआ है। वह अधिकारी अपनी जिस संतान के लिए रिश्वत लेकर यह सबकुछ करता है वही नई पीढ़ी का पुत्र अपने पिता के इस भ्रष्टाचार द्वारा अपने लिए जुटाए गए वैभव को नकार देता है और पिता को आदर्शवादी पिता देखने की इच्छा व्यक्त करता है।

डॉ० हरिशणन वर्मा रचित रेडियो नाटक ‘न्यायधीश’¹² में पिता व पुत्र के संबंधों में विघटन को उजागर किया गया है। सुनील नई पीढ़ी का नवयुवक है। उसका मित्र अनिल है। वे दोनों सहपाठी हैं। सुनील के पिता जी नित्य नए-नए भौतिक सामान घर में लाते रहते हैं। एक दिन दोनों सहपाठी खेल रहे थे। अनिल ने सुनील के घर आज फिर नया सोफा आदि आते देखकर सुनील से कहा—

अनिल : ‘दोस्त, मेरे डैडी तुम्हारे डैडी एक ही पद पर, एक ही दफ्तर में, एक ही वेतन पर एक ही साथ काम करते हैं।..... हम केवल दो भाई-बहन हैं, और हमारे डैडी हमें उच्च शिक्षा दिलवाने में असमर्थ हैं, जबकि तुम चार भाई-बहन होते हुए भी.....।’¹³

सुनील : क्या कह रहे हो तुम?

अनिल : मैं ठीक कह रहा हूँ, कि बिना नंबर दो की आमदनी के इस महँगाई के ज़माने में यह सब कुछ मुश्किल है।¹⁴

सुनील मन-ही-मन सोचता है कि मेरे डैडी ऐसे नहीं है। मेरे डैडी भ्रष्ट नहीं हो सकते....। उसके मन में एक द्वंद्व होता है कि क्या सचमुच मेरे डैडी रिश्वतखोर हैं।..... नहीं.....नहीं.... ऐसा नहीं हो सकता..... फिर यह सामान. नहीं डैडी से दो दिन पहले पुस्तकों के लिए सौ रुपए माँगे थे। उस समय वे भी नहीं थे। शायद कोई एरियर मिला हो। सुनील इसी द्वंद्व को लेकर अपने घर पहुँचकर अपने पिता से इस विषय में पूछता है, परंतु उसका पिता इस बात को टालने का प्रयास करता है। अंततः उसे यह स्वीकार

करना ही पड़ता है कि आज उसके पास लाला करोड़ीमल आए थे। उनके इंकमटैक्स का केस मेरे पास था। यह सब सामान वहीं से आया था। सुनील का पिता उसे समझाता है कि यह सब तुम्हारी खुशी के लिए ही है और सुनील को डाँटता हुआ कहता है—

डैडी : (गुस्से से) बकवास बंद करो सुनील।

सुनील : यही बकवास सच है डैडी, आपका अनुकरण हम करेंगे, हमारा अनुकरण हमारी नई पीढ़ी, और इस बुराई से समाज कभी मुक्त न होगा, केवल एक-दूसरे को कोसते रहेंगे। डैडी.... यदि आप पैसों के लिए अपने आदर्शों का त्याग कर सकते हो तो क्या मैं, उन्हीं आदर्शों के लिए घर नहीं छोड़ सकता? ¹⁵ सुनील और उसके पिता में इस विषय को लेकर विरोध उत्पन्न हो जाता है।

सुनील अपने आदर्शों को महत्त्व देता है। सुनील का पिता जीवन को अच्छी प्रकार से जीने के लिए अर्थ को महत्त्व देता है। इसलिए सुनील अपने पिता को यह कहकर कि, 'डैडी.... यदि आप पैसे के लिए अपने आदर्शों का त्याग कर सकते हो तो क्या मैं अपने आदर्शों के लिए घर नहीं छोड़ सकता? अपना घर छोड़ देता है।'

सुनील के पिता के भ्रष्टाचार का फल उसके बेटे सुनील को घर छोड़कर भुगतना पड़ा

विवाह के उपरान्त दांपत्य जीवन को सुखमय बनाने के लिए तथा अपने परिवार की वृद्धि के लिए प्रत्येक दांपती संतान की कामना करता है। परंतु कुछ दांपतियों का ऐसा दुर्भाग्य होता है कि उनके भाग्य में आठ वर्ष बाद भी संतान-सुख नहीं होता। डॉ॰ हेमराज निर्मम कृत रेडियो नाटक 'सूनी गोद' में संतान न होने के कारण उत्पन्न समस्याओं को उजागर किया गया है। नाटक के केशव व लता पति-पत्नी हैं। उनकी शादी को भी काफ़ी वर्ष हो गए हैं, परंतु अभी तक उनके पास कोई बच्चा नहीं है। इसलिए लता अपनी बहन मुक्ता का बच्चा गोद लेना चाहती है। परंतु केशव की बहन शीला व अन्य परिजनों को दूसरे परिवार से बच्चा गोद लेना अच्छा नहीं लगता, इसलिए केशव व शीला के परिजन उनके विरुद्ध विद्रोह करते हैं—

शीला : केशव अगर कोई लड़का गोद लेगा तो वह अपने खानदान से लेगा। भगवान की कृपा से उसके दो-दो भाई हैं और दोनों के पास दो-दो लड़के हैं। ¹⁶

इस प्रकार शीला इसका विरोध करती है। यदि उनके पास अपनी संतान होती तो परिजनों का विरोध आज इन्हें सहन नहीं करना पड़ता। लता अपनी बहन मुक्ता का बच्चा गोद लेना चाहती है और मन में सदैव यही सोचती है कि मुक्ता बहन का बच्चा 40 दिन का होते ही संभाल लूँगी। तब मैं भी पड़ोसियों की भाँति उसे छाती से लगाकर प्यार करूँगी। सामनेवाली जब अपने सालभर के बेटे को छाती से लगाकर प्यार करती है, बार-बार चूमती है तो उसका चेहरा कैसे गुलाब की तरह खिल उठता है और मेरे मन में कैसी हूक-सी उठती है। इस दर्द को दूर करने के लिए अपनी बहन मुक्ता से एक बच्चा पैदा कर देने को कहा और बीच में दीवार बनकर खड़ी हो गई है शीला। मैं उसका विरोध सहन नहीं करूँगी। वह मेरी वेदना को नहीं समझ सकती। मेरा मन बच्चे के लिए तड़पता है। एकाकीपन खाने को दौड़ता है। संतान न होना

ही लता के जीवन की सबसे बड़ी समस्या है। इसलिए वह जीवन को सुखमय बनाने के लिए एक संतान अवश्य चाहती है। दूसरी ओर लता की माँ, संतान के होते हुए भी परेशान है, उसके पास तीन बेटे हैं, परंतु लता की माँ लता के एकाकीपन के कारण अपनी बेटी के पास रह रही है। परंतु यहाँ पर लता की ननद को यह अच्छा नहीं लगता। इसलिए वह अपने भाई केशव से कहती है कि—

शीला : तीन-तीन बेटे होने पर भी तेरी सास सालभर से तेरे पास रह रही है। लड़की के घर एक दिन खाना भी अच्छा नहीं समझा जाता।¹⁷

वस्तुतः कहा जा सकता है कि संतान न होने के कारण भी समस्याओं का सामना करना पड़ता और माता-पिता जिस संतान को आँखों का तारा बुढ़ापे का सहारा समझकर पालते हैं। उनके होने पर भी समस्याओं का सामना करना पड़ता है, अर्थात् संतान एक लड्डू है, जिसके पास हो वह पछताए और जिसके पास न हो वह भी पछताए।

दांपत्य जीवन की सफलता संतान से ही मानी जाती है। संतान में भी बेटे को अधिक महत्व दिया जाता है और यदि किसी महिला को बेटी ही होती चली जाएँ और बेटा पैदा न हो तो सारा दोष नारी को ही दिया जाता है। उसके उपरांत सास-ससुर, पति व अन्य परिजन उस पर अन्याय आरंभ कर देते हैं। जो असहनीय होता है। कुछ समझदार महिलाएँ इस अन्याय के विरुद्ध विद्रोह करके अपनी रक्षा कर लेती हैं और जो निर्बल-असहाय होती हैं वे इस अन्याय को सहन करती रहती हैं।

डॉ० हेमराज निर्मम कृत रेडियो नाटक 'बेटे के लिए' में संतान की इसी समस्या को उजागर किया गया है। अमित की पत्नी सुवासिनी कॉलेज में लैक्चरर है, जिसके पास दो बेटी हैं वह बेटी और बेटे में कोई अंतर नहीं समझती। परंतु सुवासिनी का पति व सास को वंश चलाने के लिए एक बेटा अवश्य चाहिए। सुवासिनी तीसरी संतान पैदा करना नहीं चाहती, परंतु पति व सास को तीसरा बच्चा अर्थात् बेटा अवश्य चाहिए। पति की जिद्द के कारण सुवासिनी को झुकना पड़ता है और तीसरा गर्भधारण कर लेती है।

अब अमित उस पर दबाव डालता है कि वह सेक्स निर्धारण टेस्ट करवाकर यह पता लगाए कि गर्भ में बेटा है या बेटी। परंतु सुवासिनी टेस्ट करवाने के लिए इंकार करती है—

सुवासिनी : नहीं, नहीं, कभी नहीं जाऊँगी।

अमित : सुवासिनी मान भी जाओ, प्लीज़।

सुवासिनी : मैं सेक्स निर्धारण टेस्ट के लिए कभी नहीं जाऊँगी।

अमित : जरा, सोचो, हम दो बेटियों के माँ-बाप बन चुके हैं।

सुवासिनी : मैंने पहले ही साफ़-साफ़ शब्दों में कह दिया था कि मुझे तीसरा बच्चा नहीं चाहिए।

अमित : सुवासिनी, तुम्हें कितनी बार समझा चुका हूँ— एक बेटा अवश्य चाहिए।¹⁸

अमित व सास के दबाव में सुवासिनी को झुकना पड़ता है और टेस्ट करने पर पता चलता है कि तीसरा गर्भ भी बेटी का ही है। अतः अमित व सुवासिनी की सास उसे गर्भपात करवाने को कहते हैं, परंतु सुवासिनी इसे अपनी संतान की हत्या मानती है और वह अपनी संतान की हत्या के विचार का विद्रोह करती है, क्योंकि उसे अपनी कोख में अजन्मी बच्ची से भी

उतना ही प्रेम है जितना कि पहली दोनों बेटियों से। इसलिए सुवासिनी अपनी बेटी की हत्या नहीं करना चाहती—

सुवासिनी : मेरी कोख में जो भ्रूण है, जीव है, उसको निकाल फेंकना हत्या है।

माँ : बेटा, बहू तो बड़ी अजीब बातें कर रही है, जो पैदा ही नहीं हुआ, वह जीव कैसा और उसकी हत्या कैसी?

सुवासिनी : माँ जी अगर सफ़ाई न करवाई जाए तो जो कुछ पैदा होगा, उसमें प्राण होंगे न। जो जीव पल रहा है, डॉक्टर उसे लडुकी बताता है। इसलिए माँ की कोख में कन्या की हत्या करने का यह डॉक्टरी ढंग है।¹⁹

सुवासिनी अपनी अजन्मी संतान की हत्या होने से रोकती है और उसे जन्म देकर उसका पालन-पोषण भी बेटे की तरह से ही करती है।

संदर्भ

1. डॉ० दर्शनकुमार जैन, स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटक, पृ० 225
2. वही, पृ० 36-198
3. पूरनचंद पांडेय, जैसी करनी वैसी भरनी, पृ० 144
4. वही, पृ० 146
5. वही, पृ० 147
6. डॉ० हरीशरण वर्मा, जीवन की जंग, पृ० 50
7. मधुकांत, आज्ञादी के दीवाने, पृ० 9-28
8. मधुकांत, हरे काँटे, पीले गुलाब, पृ० 104
9. वही, पृ० 105
10. वही, पृ० 107
11. वही, पृ० 111
12. डॉ० हरीशरण वर्मा, न्यायाधीश, टंकित प्रति, पृ० 1-10
13. वही, पृ० 2
14. वही, पृ० 4
15. वही, पृ० 5
16. डॉ० हेमराज निर्मम, सूनी गोद, पृ० 16
17. वही, पृ० 18
18. डॉ० हेमराज निर्मम, बेटे के लिए (ससुराल की सोगात) पृ० 99
19. वही, पृ० 104

□ टी०जी०टी० सामाजिक विज्ञान
राजकीय सह-शिक्षा उच्च विद्यालय,
मंगोलपुर खुर्द (दिल्ली)

रसखान के काव्य में पौराणिक संदर्भ

जया मिश्रा

कृष्णभक्ति शाखा के शीर्षस्थ कवियों में रसखान का स्थान अत्यंत उच्चकोटि का है। इनका जन्मकाल 1548 ई० के लगभग तथा मरणकाल 1628 ई० के लगभग माना जाता है। ये दिल्ली के एक पठान थे। इन्होंने 'प्रेमवाटिका' में स्वयं को शाही खानदान का बताया है—

देखि गदर हित साहिबी, दिल्ली नगर मसान।

छिनहिं बादसा बंस की, ठसक छौंड़ि रसखान।¹

संभवतः इनका संबंध पठान बादशाहों की वंश-परंपरा से था। ये कृष्णभक्त और गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के बड़े कृपापात्र शिष्य थे। 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' में इनका वृतांत आया है। रसखान एक सहृदय भावुक व्यक्ति थे। इनके द्वारा रचित काव्य की प्रत्येक पंक्ति स्वच्छ, मधुर और उदात्त भाव से परिपूर्ण है। 'सुजान रसखान', 'प्रेमवाटिका', 'दानलीला', 'अष्टयाम' इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं। इसके अतिरिक्त कुछ स्फुट पद भी प्राप्त हुए हैं। 'सुजान रसखान' संकलन रसखान का प्रसिद्ध काव्य संग्रह है। 'अष्टयाम' उनकी अन्य लघु कृति है। रसखान के काव्य का प्रमुख तत्त्व प्रेम है—

दंपति सुख अरु विषयरस, पूजा, निष्ठा, ध्यान।

इनतें परे, बखानिए, शुद्ध प्रेम रसखान।²

रसखान के प्रेमतत्त्व का निरूपण करते हुए रसखान रचनावली के संयुक्त संपादक डॉ० सत्यदेव मिश्र कहते हैं— 'प्रेम उनके जीवन का सार है, लौकिक हो अथवा अलौकिक। जिस लौकिक प्रेम से वे अपने यौवनकाल में पराभूत रहे, उसका परिष्कार हुआ, उदात्तीकरण हुआ और वही राधा-कृष्ण प्रेम में परिवर्तित हो गया। यही कारण है कि उनकी भक्ति मूलतः माधुर्यभाव की है।'³ वैसे रसखान का संबंध वल्लभ संप्रदाय के शुद्धाद्वैतवाद से है। उन पर गोस्वामी विट्ठलनाथ जी का प्रभाव यथेष्ट मात्रा में पड़ा था। इन्होंने 'प्रेमवाटिका' में लिखा है—

स्वारथ मूल अशुद्ध त्यों, शुद्ध स्वभावनुकूल।

नारदादि प्रस्तार करि, कियो जाहि को तूल।⁴

वल्लभ संप्रदाय में ब्रह्म ही जगत् के कर्ता हैं। संपूर्ण सृष्टि उन्हीं की लीला है और वे स्वयं लीलाधाम के रूप में संपूर्ण संपूर्ण सृष्टि में समाहित हैं। जीवन के ऊपर कृपा करने के लिए ब्रह्म का सगुण रूप में पृथ्वी पर अवतरण होता है। श्रीकृष्ण ही सर्वदोषरहित कालातीत ब्रह्म का स्वरूप हैं। उनकी सेवा करना और उनके प्रति प्रेमभाव धारण करना ही वल्लभाचार्य जी के भक्तिशास्त्र का मुख्य निष्कर्ष है और यही जीवमात्र का धर्म है। यह संसार लीलाधाम ब्रह्म की सुंदर लीलाओं का विकास स्वरूप परिलक्षित होता है। 'अद्वैतवादियों के मतानुसार निधर्मक, निर्विशेष तथा निर्गुण ब्रह्म माया के संपर्क से सगुण के समान प्रतीत होता है, यह

कथन ठीक नहीं है क्योंकि अहि कुंडल के लौकिक दृष्टांत से ब्रह्म में उभय-रूपता का होना श्रुतिसिद्ध है। यह विरुद्ध धर्मों की सत्ता माया से प्रतिभासित ही नहीं होती है, प्रत्युत स्वाभाविक भी है। भगवान की महिमा अनवगाह्य है अतः जो अणोरणीयान है वे ही महतो महीयान् है। वे अनेक रूप होकर भी एक है, स्वतंत्र होने पर भी भक्त पराधीन है।⁵ इसीलिए रसखान ने उन्हें अहीर की छोहरियों के सामने छछिया भर छाछ के लिए नृत्य करते हुए दिखाया है—

सेस गनेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरंतर गावैं।
जाहि अनादि अनंत अखंड अछेद अभेद सुबेद बतावैं।
नारद से सुक व्यास रहैं पचि हारे तउ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरिया छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं।⁶

शेष⁷ अर्थात् शेषनाग कश्यप और कद्रू के पुत्र थे। इनके सहस्र फन हैं। इनका निवास पाताल से भी नीचे हैं। इन्हीं के फनों पर पृथ्वी टिकी हुई है। भगवान विष्णु इन्हीं पर क्षीरसागर में शयन करते हैं। द्वापर में बलराम और त्रेता में लक्ष्मण को शेषनाग का अवतार कहा जाता है। भारतीय संस्कृति में गणेश प्रथम पूजनीय देवता माने जाते हैं। गणेश⁸ भगवान शंकर और माता पार्वती के पुत्र हैं। इनका संपूर्ण शरीर तो मनुष्य का किंतु मुख हाथी का है। इनकी एक अन्य विशेषता यह है कि हाथियों की तरह इनके दो दंत न होकर एक ही दंत है तथा चार हाथ हैं। इनकी सवारी चूहा है। गणेश के संबंध में अनेक दंतकथाएँ प्रचलित हैं। इनका सिर हाथी का है। एक बार भगवान शंकर और पार्वती निद्रा में निमग्न थे। द्वार पर श्रीगणेश उनकी सुरक्षा के लिए स्थित थे। उसी समय परशुराम जी उनके माता-पिता शंकर-पार्वती से भेंट करने आए। गणेश ने उन्हें रोकने का प्रयास किया, जिससे क्रोधित होकर के परशुराम ने उनका एक दाँत काट दिया। 'भगवान गणेश बुद्धि के अधिष्ठाता हैं। वे साक्षात् प्रणवरूप हैं। उनके श्रीविग्रह का ध्यान, उनके मंगलमय नाम का जप और उनकी आराधना मेधा-शक्ति को तीव्र करती है। महाभारत के यदि वे लेखक न बनते तो भगवान व्यास के इस पंचम वेद से जागती वंचित ही रह जाती।'⁹

भगवान शंकर¹⁰ को रुद्र, शिव, महेश आदि नामों से पुकारा जाता है। महादेव को प्रायः विनाश का प्रतीक माना जाता है परंतु वास्तव में ये लोककल्याण के प्रतीक हैं। 'महादेव अपने शिवत्व के कारण शिव हैं और शिवतत्त्व का निर्माण प्रसिद्ध हैं। इन मूर्तियों में अंतिम आठवीं मूर्ति ही शिव है। इनका निवास संकल्प रूप से चंद्रमा में कहा जाता है।'¹¹

दिनेस¹² अर्थात् सूर्य ऋषि कश्यप और अदिति के पुत्र थे। ये हिंदुओं के प्राचीनतम देवताओं में से एक हैं। संस्कृत साहित्य में इनकी संख्या 12 है। इनका वाहन सात घोड़ों से संपन्न रथ है। सुरेस¹³ अर्थात् इंद्र एक प्रसिद्ध वैदिक देवता हैं। इनकी पत्नी का नाम शची है। जयंत इनका पुत्र है। रसखान ने इंद्र का उल्लेख पुरंदर¹⁴, सुरेस¹⁵, मधवा¹⁶ इत्यादि नामों से भी किया है। एक-एक अन्य उदाहरण देखिए—

प्यारी के चारु सिंगारु तरंगनि जाई लगी रति की दुति कूलनि।
जोबन जेब कहा कहिए उपजै छबि मंजु अनेक दुकूलनि।
कंचुकी सेत में जावक बिंदु बिलोकि मरैं मधवानि की सूलनि।
पूजे है आजु मनौ रसखानि सू भूत के भूप बँधूक के फूलनि।¹⁷

देवर्षि नारद ¹⁸ ब्रह्मा के मानस पुत्र हैं। लगभग सभी पुराणों में इनका वर्णन मिलता है। नारद का प्रिय वाद्य वीणा है और ये निरंतर हरि का गुणगान करते रहते हैं। एक बार इन्होंने ब्रह्मा के कार्य में बाधा डाली, जिससे ब्रह्मा ने इन्हें एक स्थान पर स्थिर न रहकर विचरण करने का शाप दे डाला। देवर्षि नारद भगवान विष्णु के परम भक्त हैं। भागवत धर्म का आधारभूत पंचरात्र इन्हीं के द्वारा प्रवर्तित माना जाता है।

व्यास ¹⁹ महर्षि पराशर के पुत्र हैं। जन्म के उपरांत ही इन्होंने तपस्वी का जीवन स्वीकार कर लिया। इन्हें द्वैपायन कृष्ण भी कहा जाता है। पंचम वेद के रूप में प्रतिष्ठित महाभारत विशाल ग्रंथ इन्हीं की रचना माना जाता है। इसके लेखन में इन्होंने गणेश की भी सहायता ली थी।

शुकदेव ²⁰ महर्षि प्यास की संतान थे। राजा परीक्षित को उनकी मृत्यु से पूर्व दिया गया इनका उपदेश भागवत पुराण के नाम से प्रसिद्ध है। इन्हें भी भगवान के परम भक्तों में परिगणित किया गया है।

रसखान ने वल्लभाचार्य जी के शुद्धाद्वैतवाद की ओर भी संकेत किया है। इनके मतानुसार ब्रह्म माया से अल्प होने की स्थिति में नितांत शुद्ध है। यह माया संबन्धरहित ब्रह्म ही एकमात्र अद्वैत तत्त्व के रूप में स्थापित है। अद्वैत वेदांत के अनुसार ब्रह्म अनादि, अनंत, अखंड, अछेद, अभेद और अनुपम है। वेदों में ब्रह्म को अद्वितीय, सर्वव्यापक, अव्यक्त, परमशक्ति बताया गया है। आरण्यकों में ब्रह्म के तीन रूपों का विवेचन है। प्रथम पृथ्वी आदि के रूप में स्थूल, द्वितीय, मनस् आदि के रूप में सूक्ष्म तथा तृतीय प्रणव के रूप में शुद्धस्वरूप ज्ञानियों के लिए यह 'ब्रह्म' में समस्त जगत् लय हो जाता है और उसी से पुनः स्थावर और जंगम रूप में समस्त जगत् उत्पन्न होता है। यह सत्य, ज्ञान और अनंत है। परम आकाश में यह अभिव्यक्त होता है और इसी के दर्शन से मुक्ति मिलती है।' ²¹ वल्लभाचार्य जी के अनुसार ब्रह्म के तीन स्वरूप हैं— परब्रह्म, अक्षरब्रह्म तथा आदिभौतिक। आदिभौतिक से तात्पर्य जगत् से है। जिस प्रकार लपेटा गया वस्त्र फैलाने पर ठीक वैसा ही पूर्ववत् रहता है। ठीक उसी प्रकार अविर्भाव की दशा में जगत् तथा तिरोभाव के रूप में ब्रह्म की सत्ता एक ही है। अक्षर ब्रह्म क्षर अर्थात् प्रकृति से श्रेष्ठ है, किंतु परब्रह्म उससे भी श्रेष्ठ है। क्षर से अतिक्रान्त तथा अक्षर अर्थात् उत्तम होने के कारण परब्रह्म को पुरुषोत्तम की संज्ञा दी गई है और पुरुषोत्तम की प्राप्ति केवल अनन्य भक्ति से हो सकती है। रसखान ने इस संदर्भ में प्रेम का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए स्पष्ट किया है—

ब्रह्म में ढूँढ़्यो पुरानन गानन वेद रिचा सुनि चौगुने चायन।
देख्यो सुन्यो कबहूँ न किटूँ वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन।
टेरत हेरत हारि पर्यो रसखानि बतायो न लोग लुगायन।
देखौ दुरो वह कुंज कुटीर में बैठो पलोटत राधिका पायन। ²²

पुराण ²³ हमारे जीवन के आधारभूत स्तंभ हैं। पुराण प्राचीन धार्मिक ग्रंथ हैं। इनमें संसार की सृष्टि, लय तथा प्राचीन ऋषि-मुनि एवं राजाओं की कथाएँ दी गई हैं। इनकी संख्या 18 है— ब्रह्म, पद्म, विष्णु, शिव, भविष्य, मार्कण्डेय, अग्नि, नारद, भागवत, ब्रह्मवर्त, लिंग, बाराह स्कंद, वामन, कर्म, मत्स्य, गरुड़ और ब्रह्मांड पुराण है। वेद ²⁴ सबसे प्राचीन तथा विश्वसनीय

प्रमाणिक धर्मग्रंथ हैं। वेद का तात्पर्य है ज्ञान, जिसे अनेक ऋषिमुनियों ने अपनी तपस्या तथा अनुभव के द्वारा दिव्यज्ञान ज्योति के रूप में साक्षात्कार करके शब्दों के माध्यम से मंत्र रूप में साक्षात्कार करके शब्दों के माध्यम से मंत्र रूप में लिखित रूप प्रदान किया है। ये चार हैं— ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद।

‘कूर्मपुराण के अनुसार ऋग्वेद की 21, यजुर्वेद की 100, सामवेद की 1000 और अथर्ववेद की 9 शाखाएँ— इस प्रकार वेदों की कुल 1130 शाखाएँ हैं।’²⁵ ब्रह्मा²⁶ सृष्टि के सृजनकर्ता हैं। ‘मनुस्मृति के अनुसार स्वर्ण के अंडे से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई, जिससे काश्यप नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। मनु इन काश्यप के प्रपौत्र थे किंतु पौराणिक परंपराएँ ठीक इसके प्रतिकूल ब्रह्मा की उत्पत्ति विष्णु नाभि से उत्पन्न कमल से मानती हैं।’²⁷ रसखान ने लिखा है—

वेई ब्रह्म ब्रह्मा जाहि सेवत हैं रैन-दिन,
सदासिव सदा ही धरत ध्यान गाढ़े हैं।
वेई विष्णु जाके काज सानी मूढ़ राजा रंक,
जोगी जती ह्वै के सीत सहतौ अंग डाढ़े हैं।
वेई ब्रजचंद रसखानि प्रान प्रानन के,
जाके अभिलाख लाखलाख भाँति बाढ़े हैं।
जसुधा के आगे बसुधा के मान-मोचन में,
तामरस-लोचन खरोचन कौ ठाढ़े हैं।²⁸

श्रीकृष्ण भारतीय पौराणिक जीवन के आधारस्तंभ हैं। वे पूर्ण पुरुष लीलावतार हैं। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उनकी प्रतिष्ठा सर्वविदित है। वे वासुदेव और देवकी के पुत्र थे। उनका बचपन नंद और यशोदा के घर गोकुल, वृंदावन इत्यादि में व्यतीत हुआ। उस युग में अत्यंत अत्याचारी कंस का वध उन्होंने मथुरा में किया और अंत में द्वारिकापुरी में निवास करने चले गए। महाभारत में गीता का उपदेश भी उनके द्वारा दिया गया, जो कि आज भी हमारी राष्ट्रीय अस्मिता और जीवनचर्या का आधार बना हुआ है। रसखान ने कृष्ण की किशोरावस्था का अत्यंत सुंदर वर्णन किया है—

कल कानन कुंडल मोरपंखा उर पै बनमाल बिराजति है।
मुरली कर मैं अधरा मुसकानि तरंग महाछबि छाजति है।
रसखानि लखै तन पीत पटा सत दामिनी की दुति लाजति है।
वह बाँसुरी की धुनि कान परें कुल कानि हियो तजि भाजति है।²⁹

राधा कृष्ण की प्रेयसी और भक्तों की परम आराध्य हैं। कृष्ण की प्रेयसी एवं प्रेमिका के रूप में, जिन गोपियों का वर्णन किया गया है, वह राधा ही हैं। आलवर संतों के गीतों में राधा का उल्लेख प्राप्त होता है। उनके गीतों में गोपी-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं के वर्णन के साथ-साथ कृष्ण की प्रेयसी गोपी का नापिन्नाय नाम से भी उल्लेख मिलता है। कृष्ण की यह प्रेयसी गोपी अत्यंत सुंदर एवं लक्ष्मी का अवतार मानी जाती है। राधा के जन्म के संबंध में भिन्न-भिन्न कथाएँ प्रचलित हैं। एक मत के अनुसार एक दिन कृष्ण वन में भ्रमण करने की इच्छा से गए और तुरंत ही उनके बाएँ अंग से राधा का जन्म हो गया। दूसरे मत के अनुसार

राधा सुदामा के शाप से गोकुल में पैदा हुई थीं। इनके पिता का नाम वृषभानु था। इसलिए इन्हें वृषभानुजा भी कहा जाता है। कवि ने लिखा है—

श्री वृषभानु की छान धुजा अटकी लरकान तें आन लई री।
वा रसखान के पानि की जानि छुड़ावति राधिका प्रेममई री।
जीवन मूरि सी नेज लिए इनहूँ चितयौ उनहूँ चितई री।
लाल लली दृग जोरत ही सुरझानि गुड़ी उरझास दई री।³⁰

नंद³¹ गोपों के प्रधान थे। कंस के भय से वासुदेव ने श्रीकृष्ण को नंद के घर पहुँचा दिया था और उनकी पुत्री महामाया को कृष्ण के स्थान पर पहुँचा दिया था। नंद की पत्नी का नाम यशोदा था। नंद और यशोदा ने मिलकर कृष्ण का पालन-पोषण किया। नंद के विषय में कहा जाता है कि वे पूर्वजन्म में दक्ष प्रजापति थे। इनका महत्त्व निम्न प्रकार स्पष्ट किया गया है—

मानुष हौं तो वही रसखानि बसौ ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पशु हौं तौ कहा बस मेरो चरौं नित नंद की धेनु मँझारन।
पाहन हौं तौ वही गिरि को जो धरयो कर छत्र पुरंदर धारन।
जो खग हौं तौ बसेरो करौं मिलि कालिंदी कूल कदंब की डारन।³²

यशोदा³³ को कृष्ण की माता के रूप में ठीक उसी प्रकार स्वीकार किया गया है, जिस प्रकार देवकी को। यशोदा के द्वारा ही कृष्ण का लालन-पालन किया गया है। कंस ने जिस कन्या को कृष्ण समझकर ज़मीन पर पटकना चाहा था, वह कन्या यशोदा के गर्भ से उत्पन्न हुई थी। रसखान ने लिखा है—

आजु गई हुती भोरही हौं रसखानि रई कहि नंद के भौनहिं।
बाको जियौ जुग लाख करोर जसोमति को सुख जात कह्यौ नहिं।
तेल लगाइ लगाइ कै अंजन भौंह बनाइ बनाइ डिठौनहिं।
डालि हमेलनि हार निहारत बारत ज्यौं चुचकारत छौंनहिं।³⁴

कंस³⁵ मथुरा का अत्याचारी राजा था, जो अग्रसेन का पुत्र था। इसका विवाह मगधराज जरासंध की दो कन्याओं अस्ति तथा प्राप्ति के हुआ था। कंस कृष्ण का मामा था। अपने ससुर जरासंध की सहायता से अग्रसेन को राजगद्दी से उतारकर स्वयं राजा बन गया। देवकी जोकि इसके चाचा की पुत्री थी, विवाह के समय एक आकाशवाणी हुई कि देवकी की आठवीं संतान के द्वारा कंस का वध होगा। इस भय से कंस ने वासुदेव तथा देवकी दोनों को कारागृह में डाल दिया। वह देवकी से उत्पन्न संतानों को मार डालता था किंतु अंत में कृष्ण को अनेक उपायों द्वारा बचा लिया गया। इसने कृष्ण को मरवाने के लिए अनेक असुरों को भेजा किंतु सभी मारे गए। अंत में कृष्ण को लेने अकूर जी को भेजा गया। उनके साथ मथुरा आकर कृष्ण ने कंस का वध किया था³⁶

कुब्जा कंस की दासी थी। कंस के धनुषयज्ञ में जाते समय कृष्ण ने मार्ग में इससे सुगंध अनुलेपन माँगा, जिसे यह कंस के यहाँ ले जा रही थी। कुब्जा ने वह प्रसन्नतापूर्वक कृष्ण को दे दिया। कृष्ण ने प्रसन्न होकर उसका कुबड़ापन दूर कर दिया और उसे एक सुंदर स्त्री का रूप प्रदान किया। बाद में इसे कृष्ण से प्रेम हो गया। भ्रमरगीत प्रसंग में गोपियों ने कृष्ण

के साथ कुब्जा को भी काफी खरी-खोटी सुनाई हैं। रसखान ने कुब्जा का वर्णन करते हुए लिखा है—

सार की सारी सो भारी लगै धरिवै कहँ सीस बघंबर पैया।
हांसी सो दासी सिखाइ लई हैं वेई जु वेई रसखानि मन्हैया।
जोग गयो कुब्जा की कलानि मैं री कब ऐहें जसोमति मैया।
हा हा न ऊधौ कुढ़ावो हमें अबही कहि दै ब्रज बाजै बधैया।³⁷

रसखान ने अपने काव्य में कृष्ण को कामदेव के रूप में भी दर्शाया है। कृष्ण में कामदेव के सभी गुण समाहित हैं। कामदेव को सौंदर्य एवं प्रेम का देवता माना जाता है। ऋग्वेद में अद्वैत को इच्छा की उत्पत्ति माना जाता है। यह इच्छा ही प्रेम के देवता के प्रतीक कामदेव के नाम से प्रसिद्ध हुई। कामदेव को आत्मभू, अज तथा अन्यज के नाम से भी जाना जाता है। कामदेव सदैव युवा रहते हैं तथा इनके मुखमंडल पर सदैव तेज विराजमान रहता है। इनका वाहन तोता है। इनके झंडे पर मछली का चिह्न बना हुआ है। कामदेव को धर्म का पुत्र तथा न्याय का देवता कहा जाता है। एक बार कामदेव ने शिव को पार्वती से पाणिग्रहण के लिए विवश किया था, जिस पर क्रोधित शिव ने अपने तृतीय नेत्र से उन्हें भस्म कर दिया था किंतु रति के विलाप करने पर शिव ने उसे वरदान दिया कि कामदेव का जन्म कृष्ण-रुक्मिणी के पुत्र प्रद्युम्न के रूप में होगा। रसखान ने राधा-कृष्ण के प्रेम-संबंध को व्यापक रूप प्रदान करने के लिए कामदेव का विभिन्न प्रकार से उल्लेख किया है—

अंगनि अंग मिलाय दोऊ रसखानि रहे लपटे तरु छाँही।
संग निसंग अनंग को रंग सुरंग सनी पिय दै गलबाँही।
बैन ज्यों मैं सु ऐन सनेह को लूटि रहे रति अंतर जाहीं।
नीबी गहै कुच कंचन कुंभ कहै बनिता पिय नाहीं जू ना नाहीं।³⁹

रति दक्ष-प्रजापति की कन्या थी। वह कामदेव की अर्धांगिनी थी। रति का जन्म दक्ष-प्रजापति के पसीने की बूँद से हुआ था। इसका रूप अत्यंत मनमोहक व आकर्षक था। जब शिव ने अपने तीसरे नेत्र द्वारा कामदेव को भस्म कर दिया था तब रति ने ही रोकर शिव से यह वर प्राप्त किया कि कामदेव अनंत होते हुए भी सदैव जीवित रहें। इसके पश्चात् रति ने प्रद्युम्न की पत्नी मायावती के रूप में जन्म लिया। रसखान ने कामदेव के साथ-साथ रति का भी उल्लेख किया है—

कैंधो रसखान रसकोस दृग प्यास जानि
आनि कै पियूष पूष कीनो, बिधि चंद घर।
कैंधो मनि-मानिक बैठारिवै को कंचन मैं
जरिया जोबन जिन गढ़िया सुधर घर।
कैंधो काम कामना के राजत बोहित गुमान हर।
एरी मेरी प्यारी दुति कोटि रति रंभा की।
वारि डारों तेहि चित चोरनि चिबुक पर।⁴⁰

कुबेर धन के देवता हैं। ये यक्षों के अध्यक्ष तथा शिव के मित्र हैं। 'ये रावण के वैमात्रेय तथा विश्रवा और इलविला के पुत्र थे। रावण से पहले लंका में यही राज्य करते थे।

बाद में इनकी राजधानी कुबेरपुरी या अलकापुरी में हो गई। कुबेर बहुत कुरूप थे। इनके तीन पैर एक आँख और केवल आठ दाँत थे। ये इंद्र की नवनिधियों के भंडारी हैं। विश्वकर्मा से इन्होंने लंका बनवाई थी।'⁴¹ रसखान ने कुबेर का वर्णन करते हुए कहा है—

संपति से सकुचाइ कुबेरहि रूप सो दीनी चिनौती अनंगहि।
भोग कै कै ललचाई पुरंदर जोग कै गंग लई धरि मंगहि।
ऐसे भये तो कहा रसखानि रसै रसना जो जु मुक्ति तरंगहि।
दै चित ताके न रंग रच्यो जु रहतो रचि राधिका रानी के रंगहि।⁴²

भारतीय संस्कृति में गंगा अत्यंत पवित्र नदी तथा देवी के रूप में प्रतिष्ठित हैं। ये हिमालय की पुत्री तथा पार्वती की बहन थीं किंतु सागर के साठ हजार पुत्र, जोकि कपिल ऋषि के शाप से गंगासागर में मर गए थे, उन्हें तारने हेतु गंगा को धरती पर लाने का प्रयत्न किया गया। तीन पीढ़ियों के अथक परिश्रम के पश्चात् भगीरथ अपनी तपस्या के बल से गंगा को विष्णु के पैर से पृथ्वी पर लाने में सफल हुए। सर्वप्रथम गंगाजी शिव भगवान की जटा में आईं। उसके पश्चात् आगे बढ़ीं तो जहाँ ऋषि ने उन्हें पी लिया। बहुत प्रार्थना करने बाद उन्होंने अपनी जांघ से गंगाजी को निकाला। गंगासागर में पहुँचकर इन्होंने सागर पुत्रों का उद्धार किया। गंगाजी को 'भगीरथी' संबोधित करते हुए रसखान जी लिखते हैं—

वैद की औषधि खाई कछू न कर वह संजम री सुनि मोसें।
तो जलपानि कियो रसखानि सजीवन जानि लियो सुख तोसें।
एरी सुधामयी भागीरथी निपतत्थि बनै न सनै तुही पोसें।
आक धतूर चबात फिरै विषै खात फिरै सिव तेरे भरोसें।⁴³

द्रौपदी महाराज द्रुपद की पुत्री थीं। श्याम वर्ण के कारण इनका नाम कृष्णा भी था। अर्जुन ने नाचते चक्र के बीच से मछली की आँख को भेदकर द्रौपदी को प्राप्त किया था। जब पांडव द्रौपदी को लेकर अपनी माता कुंती के पास गए और बताया कि वे लोग एक नई भीख लाए हैं तो कुंती ने द्रौपदी को बिना देखे पांडवों से कहा कि वे सब आपस में बाँट लें। इस तरह द्रौपदी पाँचों पांडवों की अर्धांगिनी कहलाई और इसी कारण इन्हें पांडवी भी कहा जाता है। जब युधिष्ठिर समस्त राज्यपाट के पश्चात् द्रौपदी को भी जुए में हार गए तो द्रौपदी को राज्यसभा में बुलवाकर क्रूर दुःशासन ने उनकी मान-मर्यादा भंग करनी चाही। तभी द्रौपदी ने कृष्ण का स्मरण किया और इस तरह श्रीकृष्ण ने उनकी लाज बचाई। रसखान ने द्रौपदी का उल्लेख इस प्रकार किया है—

द्रौपदी औ' गनिका गज गीध अजामिल सों कियो सो न निहारो।
गौतम गेहिनी कैसी तरी प्रह्लाद को कैसे हर्यो दुख भारो।
काहें कों सोच करै रसखानि कहा करिहैं रविन्द बिचारो।
ता खन जा खन राखिये माखन चाखनहारो सो राखनहारो।⁴⁴

गनिका⁴⁵ के संदर्भ में दो कथाएँ प्रचलित हैं। पहली पिंगला की और दूसरी जीवंती नामक वेश्या की। पिंगला एक दिन शृंगार करके आधी रात तक किसी धनी-मानी व्यक्ति की प्रतीक्षा करती रही किंतु उसे निराशा ही प्राप्त हुई। अंत में उसकी विवेक शक्ति जाग्रत हुई और उसने सोचा कि यदि वह इसी प्रकार अपने आराध्य भगवान की प्रतीक्षा करे और उनके प्रेम

में तल्लीन हो जाए तो संभवतः उसका लोक और परलोक दोनों ही सुधर सकते हैं। इस प्रकार वह भगवान की भक्त हो गई। जीवन्ती नामक वेश्या ने तोता पाल रखा था। वह उसे राम-राम पढ़ाया करती थी। राम नाम के उच्चारण का प्रभाव इतना व्यापक हुआ कि उसे स्वर्ग की प्राप्ति हुई। द्रविड़ प्रांत के पाड्य देश में इंद्रद्युम्न नामक राजा राज्य करता था। वह परम विष्णुभक्त था और उसका नियम था कि वह विष्णु की पूजा करने के उपरांत ही बोलेगा। एक दिन अगस्त्य ऋषि उसके यहाँ आए और उसके प्रणाम इत्यादि न करने को अपना अपमान मानकर राजा को श्राप दे दिया कि वह गज ⁴⁶ की योनि को प्राप्त हो। वह त्रिकूट पर्वत पर निवास करता था। उस पर्वत के विशाल सरोवर में एक दिन वह ग्राह के द्वारा ग्रसित कर लिया गया और जब उसके प्राण संकट में पड़ गए तब भगवान विष्णु ने नंगे पैर आकर उसे मोक्ष प्रदान किया। त्रेता युग में भगवान राम का अवतरण हुआ। रावण ने जब पंचवटी में उनकी मायास्वरूपा पत्नी सीता का अपहरण किया तब गीध ⁴⁷ अर्थात् जटायु ने रावण के चंगुल से सीता को मुक्त कराने का यथासंभव प्रयास किया और अंततः घायल होकर गिर पड़ा। राम ने उसे अधम पक्षी होते हुए भी मोक्ष प्रदान किया। अजामिल ⁴⁸ एक दुराचारी ब्राह्मण था परंतु किसी वेश्या की संगति से दूषित होने के कारण उसके समस्त सदाचार नष्ट-भ्रष्ट हो गए थे। वह दुराचारी था और उसके दस पुत्र थे, जिनमें नारायण सबसे छोटा था और उसे बहुत अधिक प्रिय था। मृत्युकाल में भयंकर यमदूतों को देखकर वह अपने पुत्र को बार-बार पुकारता रहा और भगवान विष्णु ने इस प्रकार के नाम-स्मरण से प्रभावित होकर उसे मोक्ष प्रदान किया। अहिल्या ⁴⁹ गौतम ऋषि की पत्नी थीं। उसके पति से क्रोधित होकर उसे शिला बनने का शाप दे दिया था। भगवान राम ने अपने चरण-रज का संस्पर्श देकर उसे पुनः सुंदर स्वरूप और सद्गति प्रदान करी। प्रह्लाद ⁵⁰ हिरण्यकशिपु नामक दैत्यराज के पुत्र थे। देवर्षि नारद के उपदेश के प्रभाव से गर्भावस्था में भी उन्हें परमज्ञान की प्राप्ति हुई और बचपन से ही विष्णुभक्त हो गए। भगवान विष्णु ने सदैव उनकी रक्षा की और अंत में जब राक्षसराज हिरण्यकशिपु उसे मारने के लिए तत्पर हुआ, तब भगवान ने नृसिंह रूप धारण कर अपने भक्त के दुखों का निवारण करने के लिए उस महापापी का संहार कर दिया। रविन्द ⁵¹ अर्थात् सूर्य का पुत्र यमराज। ये मृत्यु के देवता हैं। ये दक्षिण दिशा के दिग्पाल हैं। इनका वाहन महिष है। रसखान कृष्णभक्ति से परिपूर्ण थे। उन्होंने श्रीकृष्ण के जीवन से संबंधित लगभग सभी संदर्भों का वर्णन किया है। उन्होंने कृष्ण और गोपिकाओं के मध्य हुए रासलीला का भी वर्णन अपने काव्य में किया है। एक बार श्रीकृष्ण का मन वनप्रांत में रासलीला करने को हुआ। उन्होंने वंशी द्वारा प्रेमरूपी तान छेड़ी, जिसे सुनकर समस्त गोपिकाएँ अपने काम-काज को भूलकर सुध-बुध गँवाती हुई वनप्रांत में जा पहुँचीं। श्रीकृष्ण ने उन्हें कर्तव्य का बोध कराया किंतु वे अपनी मर्यादा को भूलकर अपनी ज़िद पर दृढ़ रहीं। तब श्रीकृष्ण ने आनंदित होकर उनके साथ रास रचाया। 'वैष्णव भक्तों ने इस रासलीला को ज्ञान, कर्म, योग और भक्ति मार्ग की सरणि माना है। इस लीला का उपास्य काम-विजयी है, इसलिए इसके द्वारा काम-विजय रूप फल-प्राप्ति मानी जाती है।' ⁵² रसखान द्वारा प्रस्तुत रासलीला से संबंधित एक सवैया देखिए—

नैन मनोहर बैन बजै सु सजै तन सोहतु पीत पटा है।
 यों दमकै चमकै झमकै दुति दामिनी की मनौ स्याम घटा है।

रस बनौ ब्रजराज कुमार अटा चढ़ी फेरत लाल वटा है।

रसखानि महा मधुरी मुख की मुसिक्यौनि करै कुल काँनि कटा है।⁵³

उपर्युक्त विवेचन के उपरांत हम इन निकर्ष पर पहुँचते हैं कि रसखान भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि कवि हैं। उन्होंने अपनी काव्य-साधना में विभिन्न पौराणिक संदर्भों का प्रयोग करके अपने स्वच्छंद प्रेम से परिपूर्ण भक्ति-भाव का व्यापक परिचय दिया है। इन प्रयोगों से उनका सांस्कृतिक ज्ञान भी अनायास प्रमाणित हो जाता है। इस संदर्भ में उन्हें सूरदास, नंददास, मीराबाई इत्यादि की श्रेणी में प्रतिष्ठित किया जाना चाहिए। उन्होंने अपने काव्य के प्रमुख क्षेत्र शृंगार, भक्ति और प्रेम को उपर्युक्त पौराणिक संदर्भों के माध्यम से और अधिक गंभीर व्यापक तथा प्रभावशाली बना दिया है। इनसे विविध अनुभूतियों के चित्रण में तीव्रता और प्रभावशीलता के साथ-साथ स्वच्छंद प्रेम के माधुर्यपूर्ण स्वरूप का उद्घाटन भी हुआ है। उन्हीं के शब्दों में—

सरस नेह लवलीन नव, द्वै सुजान रसखानि।

ताके आस बिसास सों, पगे प्रान रस पानि।⁵⁴

संदर्भ

1. रसखान, रसखान रचनावली, संपादक विद्यानिवास मिश्र, सत्यदेव मिश्र, पृ० 91/48, वाणी प्रकाशन, 4697/5, 21 ए दरियागंज, नई दिल्ली-110002
2. वही, पृ० 88/19
3. वही, पृ० 7
4. वही, पृ० 90/4
5. भारतीय दर्शन, आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृ० संख्या 414, चौखंभा, विश्व भारती, पोस्ट बाक्स नं० 139, वाराणसी, द्वितीय संस्करण।
6. रसखान, रसखान रचनावली, संपादक विद्यानिवास मिश्र, सत्यदेव मिश्र, पृ० 27/31
7. वही, पृ० 27/31
8. वही, पृ० 27/31
9. कल्याण हिंदू संस्कृति अंक, संपादक हनुमानप्रसाद पोद्दार, पृ० 789, गीता प्रेस, गोरखपुर।
10. रसखान, रसखान रचनावली, संपादक विद्यानिवास मिश्र, सत्यदेव मिश्र, पृ० 27/31।
11. हिंदी साहित्य कोश (भाग-2), धीरेन्द्र वर्मा, पृ० संख्या 122, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी-1
12. रसखान, रसखान रचनावली, संपादक विद्यानिवास मिश्र, सत्यदेव मिश्र, पृ० 27/31
13. वही, पृ० 27/31
14. वही, पृ० 21/1
15. वही, पृ० 27/31
16. वही, पृ० 42/102
17. वही, पृ० 75/255
18. वही, पृ० 27/31, 54/152
19. कल्याण हिंदू संस्कृति अंक, संपादक हनुमान प्रसाद पोद्दार, पृ० 789
20. वही, पृ० 820
21. भारतीय दर्शन, डॉ० उमेश मिश्र, पृ० संख्या 44, हिंदी संस्थान, लखनऊ, चतुर्थ संस्करण 1975

22. रसखान, रसखान रचनावली, संपादक विद्यानिवास मिश्र, सत्यदेव मिश्र, पृ० 27/31
23. वही, पृ० 26/27
24. वही, पृ० 26/27
25. कल्याण हिंदू संस्कृति अंक, संपादक हनुमान प्रसाद पोद्दार, पृ० 270
26. रसखान, रसखान रचनावली, संपादक विद्यानिवास मिश्र, सत्यदेव मिश्र, पृ० 26/27
27. हिंदी साहित्य कोश (भाग-2), धीरेन्द्र वर्मा, पृ० 396
28. रसखान, रसखान रचनावली, संपादक विद्यानिवास मिश्र, सत्यदेव मिश्र, पृ० 55/56
29. वही, पृ० 26/25
30. वही, पृ० 63/194
31. वही, पृ० 21/1, 21/2, 23/9, 23/10, 23/11, 23/13, 35/67, 36/72, 39/86
32. वही, पृ० 21/1
33. वही, पृ० 23/9, 23/10, 56/160
34. वही, पृ० 23/9
35. वही, पृ० 45/110, 55/154
36. वही, पृ० 45/110
37. वही, पृ० 45/11
38. वही, पृ० 24/17
39. वही, पृ० 24/17
40. वही, पृ० 67/216
41. हिंदी साहित्य की अंतर्कथाएँ, भोलानाथ तिवारी, पृ० 39-40
42. रसखान, रसखान रचनावली, संपादक विद्यानिवास मिश्र, सत्यदेव मिश्र, पृ० 43/104
43. वही, 49/128
44. वही, पृ० 44/106
45. वही, पृ० 44/106
46. वही, पृ० 44/106
47. वही, पृ० 44/106
48. वही, पृ० 44/106
49. वही, पृ० 44/106
50. वही, पृ० 44/106
51. वही, पृ० 44/106
52. हिंदी साहित्य कोश (भाग-2), धीरेन्द्र वर्मा, पृ० 533
53. रसखान, रसखान रचनावली, संपादक विद्यानिवास मिश्र, सत्यदेव मिश्र, पृ० 75/254
54. वही, पृ० 77/263

□ 513, मढ़ीनाथ रोड
बरेली (उ०प्र०)

राही मासूम रज़ा के 'आधा गाँव' का सामाजिक यथार्थ

रुचि सिंह

राही मासूम रज़ा की सभी औपन्यासिक कृतियों में 'समय' की अनुगूँज सुनाई देती है, जो सामाजिक जीवन के संश्लिष्ट यथार्थ की अंतर्क्रिया से उत्पन्न होकर स्वरित होती है। इन कृतियों में 'आधा गाँव' सर्वाधिक चर्चित, पठित और विमर्शित हैं। गंगौली की वास्तविक कथा के बहाने राही ने इस उपन्यास में 1937 से 1952 तक की 15 वर्षों की अवधि के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक यथार्थ और उसकी परिवर्तनशील अवस्थितियों का औपन्यासिक वितान रचा है। कहानी गंगौली गाँव के शिया मुसलमानों के परिवारों की है, जिसमें दूसरे धर्म और जाति के लोग भी रहते हैं। यद्यपि राही इसे 'आधा गाँव' की कहानी कहते हैं, किंतु गौर से देखने पर यह इस तरह के सारे गाँव की कहानी है। कथा के केंद्र में है, मध्यवर्गीय जीवन और उसकी समयगत विसंगतियाँ, किंतु उससे संबद्ध अन्य सामाजिक समस्याएँ हैं।¹

राही ने 'आधा गाँव' की शुरुआत में ही आर्थिक और सामाजिक समस्याओं को उठाया है। गाज़ीपुर एक पिछड़ा जनपद है, जहाँ उद्योग-धंधे नहीं हैं। रोज़गार के अवसर नहीं के बराबर हैं। जिस काल में यह उपन्यास लिखा गया और जिस काल से इसकी कथावस्तु ली गई है, उस काल में शिक्षा की स्थिति भी दयनीय ही थी। जवान होते बेरोज़गारों को रोटी-रोज़ी के लिए कलकत्ता, बंबई कानपुर और ढाका की हदों में कैद होना पड़ता था। समय बदला तो इन नौजवानों को पंजाब, मुंबई और अरब देशों में जागर खपाने जाना पड़ता है। राही ने शिया परिवारों की औरतों की स्थिति का नितांत मार्मिक ढंग से चित्रण किया है। इस चित्रण में यथार्थ की अभिव्यक्ति का दोहरा संघर्ष दिखाई देता है। 'आधा गाँव' में अनेक गंभीर सवाल उठाते हुए राही ने अर्थगर्भी घटनाओं का सृजन किया है। इन सवालों का संबंध तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों से जितना है, उतना ही आज की राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों से भी है। भारत-पाक का बँटवारा राजनीतिक ही नहीं, सामाजिक और सांस्कृतिक त्रासदी भी है। राही ने मुस्लिम लीग की राजनीति को स्वीकार नहीं किया, दो राष्ट्रों के सिद्धांत को स्वीकार नहीं किया। लेकिन उसका जो सामाजिक प्रभाव पड़ा, उसका अत्यंत मार्मिकता से चित्रण किया। डॉ॰ इंदुप्रकाश पांडेय के अनुसार, 'वस्तुतः इस उपन्यास से 1960 के बाद के प्रगतिशील मुसलमानों में होनेवाले मानसिक परिवर्तन को मुखरित किया गया है, जब भारत के प्रति उनकी वफ़ादारी और देशभक्ति पर हिंदुओं द्वारा शक़ किया जाने लगा था और इस शब्द को जोरों से कहा जाने लगा था। राही इसी देशभक्ति को, मुसलमानों की वफ़ादारी को हिंदी के माध्यम से हिंदुओं तक पहुँचाना चाहते हैं, जिससे भारत में रहनेवाले मुसलमानों और हिंदुओं में परस्पर समादर उत्पन्न हो और ये दोनों संप्रदाय आपसदारी के साथ रहने लगे।' यह एक सामाजिक यथार्थ है, जिसे व्यक्त करने के लिए उस समय अनेक रचनाकारों ने इस तरह का रास्ता अपनाया। सामाजिक जीवन में प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादी तत्त्वों और व्यक्तियों की

राही ने साफ़-साफ़ पड़ताल की। राही ने यह दिखाया कि स्वाधीनता-आंदोलन के दौरान भी सामाजिक भेदभाव था और उसके बाद भी। प्रगतिशीलता और प्रतिगामिता के द्वंद्व को प्रस्तुत करने के लिए ही उन्होंने यथार्थ का रास्ता अपनाया और उसे औपन्यासिक कला में ढालकर व्यक्त किया। 'आधा गाँव' में दलित यथार्थ और राजनीति के संबंधों का भी चित्रण है : 'परूसराम एम०एल०ए० को परास्त करने के उपलक्ष्य में बारिखपुर के ठाकुरों ने जश्न मानाया, जिसमें फुन्नन मियाँ भी गए थे। झिंगुरिया का बेटा छिकुरिया भी था, जो फुन्नन मियाँ के जेल जाने के बाद कुलसुम का भी हाल-चाल लेता था और जिसने बाहर के एक मास्टर की मुसलमानों के विरुद्ध तक़दीर के खिलाफ़ बहस की थी। यह छिकुरिया मानने के लिए तैयार न था कि झिंगुरिया उसी तरह का शहीद है, जिस तरह इमाम साहब थे।' इस तरह राही मासूम रज़ा ने अत्यंत जाटिल सामाजिक यथार्थ को व्यंजित करते हुए यथार्थवाद को नया स्वर दिया।²

सामाजिक संदर्भ के अंतर्गत राही ने अपने उपन्यासों में उठनेवाली छोटी-छोटी समस्याओं को एक बड़ी समस्या का अंग बनाकर प्रस्तुत किया है। सबसे बड़ी सामाजिक समस्या है— व्यक्ति और समाज के बीच पाई जानेवाली असमानता। राही इस व्यापक समस्या के समाधान को ही सारी समस्याओं का समाधान मानते थे। सारी समस्याएँ व्यक्ति के अपने स्वार्थ से संबंधित हैं। उनका कहना था, जब तक व्यक्तिगत स्वार्थ बने रहेंगे, तब तक ये समस्याएँ समाप्त नहीं हो सकतीं।

राही मासूम रज़ा के 'आधा गाँव' में समाज के दो रूपों के यथार्थ को व्यक्त किया है। एक तो भारत-विभाजन के पूर्व का समाज एवं दूसरा विभाजन के पश्चात् का समाज। जब तक पाकिस्तान के नारे बुलंद नहीं हो रहे थे, गंगौली गाँव के हिंदू और मुसलमान एक-दूसरे की चीज़ों को भले ही छूते या खाते-पीते न थे, किंतु एक-दूसरे के प्रति नफ़रत का भाव उनके मन में न था। मियाँ लोग दशहरा के लिए चंदा देते थे। जहीर मियाँ ने मठ के बाबा को पाँच बीघे ज़मीन की माफ़ी दे दी थी, तो फुन्नन मियाँ ने भी मंदिर बनवाने के लिए ज़मीन दी थी। किंतु पाकिस्तान के सपने अलीगढ़ विश्वविद्यालय से गंगौली में पार्सल होने शुरू हुए कि हिंदू-मुसलमानों के सदियों के हार्दिक संबंधों में दरार आने लगी। मुसलमानों के ध्यान में नहीं आया कि अचानक मुसलमानों के लिए अलग पनाहगाह की ज़रूरत क्यों आ गई। बाद में गंगौली के लोगों की यह उम्मीद भी मिट्टी में मिल गई कि मुसलमानों के इस पनाहगाह में अधिक जी-जान से नमाज पढ़े जाते हों, इबादतें की जाती हों, मर्सिए और नौहें लगन से पढ़े जाते हों। फुन्नन मियाँ की समझ में यह नहीं आता कि चार सौ वर्ष पहले हिंदुओं को तकलीफ़ देनेवाले बादशाह की करतूत की सज़ा आज के मुसलमानों को क्यों मिल रही है। यह भी उनकी समझ से परे है कि गुनाह कलकत्ता के मुसलमानों ने किया तो बारिखपुर के मुसलमानों को उसका दंड क्यों?

'आधा गाँव' में राही के उपन्यासों में नए-पुराने द्वंद्व की कई और भंगिमाएँ हैं। आज्ञादी आई है, तो जनता का स्वाभिमान बढ़ा और समाज में ज़मींदारों, जागीरदारों की जगह पर एक नया नेतृवर्ग विकसित होने लगा है। यह वर्ग सहसा ही उदित हुआ है। कोई कुल-परंपरा नहीं, शिक्षा नहीं, संपन्नता नहीं, शायद सेवा भी नहीं, केवल वोट के जोड़-तोड़ से अचानक एक साधारण आदमी समाज का महत्त्वपूर्ण सदस्य बन जाता है। वह खुद सरकार होता और सरकार

तथा जनता के बीच सेठ भी होता है। इस वर्ग का स्वाभिमान भूतपूर्व ज़मींदारों मुक़दमेबाज़ों और दलपतियों से टकराता है। 'आधा गाँव' में इस आदमी की समस्या को बड़ी समझदारी से उठाया गया है। परुरसराम एम०एल०ए० हो गया है और पुराने ज़मींदार हम्माद मियाँ को उसके घर जाना पड़ता है। वे अपनी लाचारी पर खीजते हैं, अपनी बीवी पर नाराज़ होते हैं और परुरसराम के घर जाने में अपमान अनुभव करते हैं। यह जलन धीरे-धीरे बढ़ती जाती है और हम्माद मियाँ परुरसराम पर धोखाधड़ी, बलात्कार और मारपीट से संबंधित कई मुक़दमे एक साथ चलवा देते हैं। परुरसराम को सजा हो जाती है। हम्माद मियाँ ज़श्न मनाते हैं। फिर यह सिलसिला क़त्ल तक पहुँचता है। इस तरह राही ने इस संघर्ष को प्रगतिशीलता की समस्या से जोड़कर ग्रामीण प्रगतिशीलता का एक नया दर्शन ही विकसित किया है। प्रगतिशीलता के रास्ते में अशिक्षा, ग़रीबी, जाति-पाँति और धर्म जैसे कई तत्त्व बाधक हैं, लेकिन इन तत्त्वों में ग्रामीण परंपराओं और अमीर-ग़रीब से जुड़ी हुई जड़ताओं को ही राही ने अर्थ देने का प्रयत्न किया है। देश-विभाजन की समस्या को प्रगति-विरोधी घटना के रूप में लेते हुए राही इसे एक ख़ास तरह की प्रतिक्रियावादी चाल सिद्ध करना चाहते हैं।³ गंगौली गाँव के लोग राष्ट्रवादी होने के कारण पाकिस्तान के ख़िलाफ़ नहीं है। वे इसलिए इस घटना के ख़िलाफ़ हैं कि यह घटना अपने-आपमें प्रतिक्रियावादी चाल है। रागात्मक कवच के भीतर राही के सारे प्रतिक्रियावाद-विरोधी पात्र पाकिस्तान को हिकारत की दृष्टि से देखते हैं। श्रमिक किसानों में यह क्रोध ज़्यादा गहरा है। वे मिट्टी, हल और मेहनत में ही धर्म देखते हैं। धर्म के नाम पर एक अलग देश की बात उन्हें छल ही लगती है। स्पष्टतः ही राही ने ग्रामीण अर्थतंत्र से प्रगतिशील दृष्टि को जोड़कर ग्रामवादी प्रगतिशीलता के प्रमाण रूप में 'आधा गाँव' का निर्माण किया है।

आज़ादी के बाद एक नया सामाजिक यथार्थ सामने आ रहा था। पक्की सड़कें बन रही हैं, गलियों में खड़जा लग रहा है और एक नया विश्वास पैदा हो रहा है कि ये मिट्टी, ये ज़मीन, ये गाँव उन लोगों का है, जो इसे अपना समझते हैं। बाँटने से देश बाँट जाता है, लेकिन संबंध नहीं बाँटे जा सकते। इस गहरे विश्वास के बल पर ही गाँव के बिंब को राही ने प्रगतिशील ग्रामीणता से संबद्ध किया है। इस प्रगतिशील ग्रामीणता को प्रतीकबद्ध करते समय बस्ता बगल में दबाए एक छोटे से बच्चे को दिखाया गया है, जो बहुत तेज़ी से भागता हुआ बाईं तरफ़ मुड़कर फुस्सू मियाँ की नज़रों से ओझल हो जाता है। बच्चे का बाईं तरफ़ मुड़ना नई पीढ़ी और वामपंथी दिशा की सूचना नहीं तो और क्या है।

'आधा गाँव' में लेखक ने जिस परिवेश और जिस तरह के पात्रों को उठाया है, उसमें ज़मींदार और कुलक वर्ग के अंतर्विरोधों, उनकी स्वार्थपरता, ढोंग और शोषण के हथकंडे को चित्रित करने का पर्याप्त अवकाश था, लेकिन पात्रों के प्रति अतिशय मोहग्रस्तता लेखक को यथार्थ के प्रति निर्मम और वस्तुनिष्ठ नहीं रहने देती। उसकी सहानुभूति बँटी हुई लगती है। यही कारण है कि वह अनुभववादी तरीके से कुछेक सामाजिक विसंगतियों-विकृतियों को उठा तो पाता है, लेकिन न तो वास्तविकता के जटिल अंतर्विरोधों को खोल पाता है, और न ही चरित्रों का विकास कर पाता है।⁴

'आधा गाँव' में जो स्वर लगातार गूँजता रहता है, वह यह है कि मुसलमान भी इसी देश के वासी हैं, उनको भी अपने घर, गाँव और देश की मिट्टी से उतना ही प्यार है, जितना

कि किसी भी देशभक्त को हो सकता है। वे भी उसी तरह की जिंदगी जीते हैं। हिंदुओं की तरह वे भी अंधविश्वासों और रूढ़ियों से ग्रस्त हैं वे भी प्यार और घृणा करते हैं, सुख-दुख का अनुभव करते हैं और यहीं की भाषा बोलते हैं। कुछ धार्मिक मान्यताओं, रूढ़ियों और रीति-रिवाजों में भिन्नता के बावजूद दोनों कौमों के जीवन-व्यवहार और बोली-बानी में समानता है। जातीयता का यही आधार हम दोनों कौमों को एक करनेवाला प्रधान सूत्र है।

‘आधा गाँव’ उपन्यास में जिस सामाजिक यथार्थ की उपस्थिति दिखाई देती है, वह यह है कि ज़मीन से जुड़ा हुआ मुस्लिम किसान पाकिस्तान नहीं गया।⁵ मिदाद साफ़ कहता है— ‘अम ना जाए वाले हैं कहीं। जाएँ ऊ लोग जिन्हें हल बैल से शर्म आती है। हम त किसान हैं तन्नू भाई। जहाँ हमारा खेत है, तहाँ हम।’ पाकिस्तान जानेवालों में दंगाग्रस्त इंसान था, बेहतर भविष्य की आशा करनेवाला नौजवान था और वे लोग थे, जो महज ज़मींदारी प्रथा पर आश्रित थे। गंगौली में कोई हिंदू-मुसलमान दंगा नहीं हुआ (क्योंकि वहाँ मुसलमान काफी मज़बूत थे), लेकिन ज़मींदारी प्रथा यहाँ भी ख़त्म हुई। इसलिए ज़मींदारी प्रथा पर जिंदा रहने वाले लोग अपने गाँव से इतनी दूर चले गए, जहाँ कोई भी काम करके जीने में शर्म महसूस न हो। लेकिन मिदाद जैसा किसान पाकिस्तान नहीं जाता। पाकिस्तान जाते हैं ज़मींदार मौलवी बेदार। उनके बारे में फुन्नन मियाँ (हुसैन अली मियाँ से) सही फर्माते हैं, ‘तू ई मत सोचिहो कि ऊ पाकिस्तान एह मारे गए हैं कि देहली के इमामबाड़े पर सिक्ख लोग कब्ज़ा कर लिहिन हैं, एह मारे गए हैं कि गंगौली में रहे का कौनों सहारा न रह गवा रहा। कउन बूते पर रहते। आस-औलाद रही ना, हल चलावे आता ना रहा और फुस्सू मियाँ की तरह जूते की दुकान खोले की हिम्मत ना रही। तो कह दीहन कि हम ई मुलक में ना रहेंगे, जिसमें इमामबाड़े पर सिक्ख लोग कब्ज़ा कर लिहिन हैं। अब्बू मियाँ का भी यही हशर होनेवाला है। ऊहो गंगौली में थोड़े ही दिन के मेहमान हैं। बाकी तू लुली-लंगडी खेती कर रह्यौ। तू तो ज़मीन छोड़ के पाकिस्तान ना जा सकतौ। और अब गाँव के रहे के वास्ते ई ज़रूरी है कि आदमी के पीछे सौ-पचास लाठी रहे... समझियों फुन्नन मियाँ भी पाकिस्तान चले गए होते, बाकी ऊ एह मारे न गए हिंया कौन उनकी झॉट टेढ़ी कर लीहे। हम एक ठो फुन्नन मियाँ ना हैं, तम सौ दो सौ लाठी हैं।’

गंगौली के लोग जातीय वर्ग में बँटे हुए हैं। शिया मुसलमान अधिक हैं, जुलाहे, राकिया और चमार, भर व अहीर आदि जातियाँ गंगौली के इस अंचल में, निवास करती हैं, जो ज़मींदार हैं, वे निम्नवर्गीय जनता का शोषण करते हैं और एक ज़मींदार दूसरे ज़मींदार से जलता है। ‘आधा गाँव’ उपन्यास में मुस्लिम ज़मींदार अधिक हैं। मुस्लिम जाति में एक-से अधिक शादी-ब्याह हो सकते हैं। दूसरा ब्याह कर लेना या किसी ऐरी-गैरी औरत को घर में डाल लेना बुरा नहीं समझा जाता था। शायद ही मियाँ लोगों का कोई ऐसा ख़ानदान हो, जिसमें क़लमी लड़के और लड़कियाँ न हों। जिनके घर में खाने को भी नहीं होता, वे भी किसी-न-किसी क़लमी आमों और क़लमी परिवारों का शौक पूरा कर ही लेते हैं।

मुसलमान लोग अधिकतर नीची जाति की औरतों से फँसे हुए हैं और कभी-कभी उन्हें अपने घर में भी रख लेते हैं। सबसे पहला उदाहरण सुलेमान-चा का है। झंगटिया-बा नामक चमाइन को उन्होंने अपने घर में डाल लिया। लेकिन सुलेमान-चा अपनी जाति को उच्च समझते थे, इसलिए वे झंगटिया-बो की कोई छुई हुई गीली चीज़ काम में नहीं लेते थे। वे पक्के

मुसलमान थे।

जो सैय्यद खानदान थे, वे अपने लड़के या लड़की का ब्याह सैय्यद घराने में ही करते हैं और जातीय स्तर पर गाँवों में यथार्थ-स्पर्धा बढ़ती जा रही है। प्रत्येक जाति का संपन्न और समर्थ व्यक्ति अपने नेतृत्व को स्थापित करना चाहता है और साथ ही वह दूसरों के विकास में अवरोध भी उत्पन्न करता है। जातिगत ऊँच-नीच की यह भावना तो सामूहिक प्रसन्नता के अवसर पर भी लोगों को एक साथ नहीं बैठने देती। झंगटिया-बो किसी शिया औरतों के साथ खाट पर नहीं बैठ सकती।

गंगौली में जो निम्न जाति के लोग हैं, वे उच्च जाति के बराबर में नहीं बैठते हैं, क्योंकि गाँव वालों की दृष्टि में जाति बहुत बड़ी चीज़ होती है। गंगौली में जातिवाद की भावना तब बढ़ती है, जब पाकिस्तान का निर्माण होता है। अलीगढ़ से लीग वाले गंगौली में प्रचार-प्रसार करने आते हैं और हिंदुओं के प्रति मुसलमानों को भड़काते हैं कि काँग्रेस केवल हिंदुओं की है। जब इलेक्शन होते हैं तो गंगौली में एक-दो परिवार के लोगों को छोड़कर, सभी मुसलमान लीग को वोट देते हैं। मुस्लिम महिलाएँ गांधी को गालियाँ देती हैं।

हकीम साहब, फुन्नन मियाँ, हम्माद मियाँ आदि ज़मींदार थे। ये ज़मींदार लोग निम्न जाति के लोगों का हर कदम पर शोषण करते थे। हकीम साहब बिना वजह ही कोमिला का नाम कासिमाबाद थाना में दर्ज़ करवा देते हैं। कोमिला को गिरफ्तार कर लिया जाता है और अंत में उसे फाँसी की सजा मिलती है। फुन्नन मियाँ को जाति के बाहर कर देते हैं। उसकी लड़की रजिया के ख़त्म होने पर कोई उसे कब्र स्थान ले जाने के लिए नहीं आता। इसी जातीय वैमनस्य के कारण फुन्नन मियाँ की और छिकुरिया की निर्मम हत्या कर दी जाती है।

राही मासूम रज़ा ने बड़ी संवेदनशीलता के साथ इस विरोधाभास को प्रकट किया है कि जातिवाद का आधार लेकर जो राजनीति खड़ी होती है, वह समाज के हित-साधन और उद्देश्यों की पूर्ति में कभी सफल नहीं हो सकती है। गाँव में जातीय वैमनस्यता अधिक सघन रूप से देखने को मिलता है। अगर गाँव में किसी जाति में प्रगति हो रही हो, तो दूसरी जाति के लोग वह प्रगति पसंद नहीं करते।

शिया मुसलमानों के धार्मिक और सामाजिक जीवन में मोहर्रम का बहुत महत्त्व है। यह उनका बहुत बड़ा और ग़म का त्योहार माना जाता है। बकरा ईद के बाद मोहर्रम का महीना आता है और इस महीने से मुसलमानों के नए साल का प्रारंभ होता है। ठीक उसी प्रकार राही मासूम रज़ा के उपन्यास का प्रारंभ भी मोहर्रम के चाँद से होता है। सच तो यह है कि उन दिनों सारा साल मोहर्रम के इंतज़ार में कट जाता था। ईद की खुशी अपनी जगह, मगर मोहर्रम की खुशी भी कुछ कम नहीं हुआ करती।

राही की सामाजिक दृष्टि प्रगतिशील यथार्थवादी थी, इसलिए उनके उपन्यास 'आधा गाँव' में सामाजिक यथार्थ का रंग चटख है। वैसे भी औपन्यासिक कला में राजनीतिक और सामाजिक घटनाओं का प्रतिफलन रासानियक क्रिया के द्वारा ही होता है। औपन्यासिक तत्त्व उसके अवयव होते हैं। बोरिस सुखोव ने लिखा है : 'कला की रचना-प्रक्रिया मनुष्य के बौद्धिक और मानसिक व्यापार का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग है। इस रचना-प्रक्रिया का सारभूत तत्त्व है- बिंबों अथवा रूपों में ही वाह्य जगत् और उसके पदार्थों का ग्रहण। यह वाह्य जगत्

प्रत्यक्षीकरण के क्रम में स्वभावतः अपने रूपों और बिंबों को हमारे मन पर अंकित करता रहता है। यहाँ तक कि कला-सर्जक जब ऐसी किसी वस्तु को आविष्कृत करना चाहता है, जिसे कि वह संभावना की परिधि से बाहर समझता है, सही अर्थों में, वह और कुछ नहीं करता, उसी समग्र के अंगीभूत अंशों को रूप में व्यवस्थित और पुनर्प्रस्तुत करता है, जिसे हम यथार्थ कहते हैं।' इस यथार्थ को राही ने 'आधा गाँव' में राजनीति और अर्थ के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करते हुए सामाजिक परिस्थितियों का काव्यात्मक चित्रण किया है, जो अपनी प्रकृति में विश्वसनीय और गहरे तक पैठता है। वस्तुतः आधा गाँव को गढ़ते हुए और उसके सामाजिक यथार्थ की विवेचना करते हुए राही इस तथ्य का बराबर ख्याल रखते हैं कि 'अपनी आर्थिक या सामाजिक स्थिति में हम अपनी सामाजिक भूमिका तो अदा कर सकते हैं और ऐसा करते हुए सामाजिक यथार्थ के सामान्य नियमों और निष्कर्षों के विषय में प्राप्त ज्ञान के आधार पर उक्त स्थिति को वास्तविक सीमाओं के भीतर तथा अपनी राजनीतिक क्षमताओं के अनुपात में बदल भी सकते हैं, लेकिन इसके संदर्भ में निरकुंश व्यवहार नहीं कर सकते— आर्थिक स्थिति की मूर्त या संभावित सीमाएँ लाँघकर मानव-व्यवहार की कल्पना करना मात्रा स्वप्नशीलता और नकली रूमनियत ही कहा जाएगा।' रूमनियत यथार्थ विरोधी नहीं है। 'आधा गाँव' में सामाजिक यथार्थ रूमनियत की चाशनी में पककर और स्पष्ट, बेधक तथा अर्थगर्भी हो जाता है।

संदर्भ

1. ज्ञानचंद्र गुप्त, आंचलिक उपन्यास संवेदना और शिल्प
2. रिहाना रिजवी राही मासूम रजा का रचना-संसार
3. निर्मलाकुमारी वाष्णेय, प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों में प्रगतिशीलता
4. जयनारायण मंडल, हिंदी उपन्यासों की यथार्थवादी परंपरा
5. जयनारायण मंडल, हिंदी उपन्यासों की यथार्थवादी परंपरा

□ द्वारा कृष्णामुरारी सिंह, एडवोकेट
सिधारी आजमगढ़ (उ०प्र०)

सूरकाव्य में संतमत की विशेषता

स्वाति सिंह

संतमत की विशेषताएँ :

संतमत की पृष्ठभूमि तथा उसकी उद्भवकालीन परिस्थितियों से स्पष्ट है कि संतमत पर अपनी पूर्व चिंतन-पद्धतियों, साधना-रूपों तथा प्रचलित परंपराओं का प्रभाव अवश्यभावी था। लेकिन इसके निर्माता संतकवियों ने इन सारे प्रभावों को आत्मसात् अपनी नवीन चिंतन और उपासना-पद्धति को एक ऐसा जनवादी रूप प्रदान किया, जिसे सामान्य जनता ने सहर्ष स्वीकार किया। संत कवि नहीं थे बल्कि युगद्रष्टा, समाजस्रष्टा, क्रांतिकर्ता ऐसे जननायक थे, जिन्होंने नवयुग व नई चेतना का विशेषतः समाज के पददलित, शोषित, उपेक्षित वर्ग में नवजीवन का संचार किया। इनके साहित्य में उस युग का संपूर्ण द्वंद्व, नवजीवन की अदम्य कामना और नव-निर्माण का एक उग्र स्वर गुंजरित हो रहा था।

संतों के पूर्ववर्ती सिद्ध, शैव, शाक्त, नाथपंथियों की साधना व्यक्तिपरक तथा शास्त्रीय बंधनोंवाली थी, जिसमें सामाजिक जीवन की उपेक्षा तथा गृहस्थ जीवन की अवहेलना थी। शास्त्र, बहुदेववाद, मूर्तिपूजा, जाति-पाँति का खंडन और दुरूह योगमार्ग द्वारा प्राप्त सिद्धि-चमत्कारों का प्रदर्शन इनकी विशेषता थी। इसके विपरीत संतों ने मानव की सामाजिक स्थिति और उसके महत्त्व को मान्यता प्रदान कर एक ऐसी उपासना-पद्धति का प्रवर्तन किया, जिसे गृहस्थ रहते हुए अपनाया और कर्मलीन रहते हुए किया जा सकता था। उन्होंने 'जपु नाम' 'जपु अन्न' के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। निर्गुणमतवादी भी आंतरिक साधना और ज्ञानयोग पर बल देते थे। लेकिन उनकी योग-साधना व्यक्तिगत साधना थी, जो तन को शुद्ध और मन को संयमित कर जन-कल्याण के लिए ऊर्जा अर्जित करने के साधना के रूप में थी। खंडन-मंडन की भावना बाह्याचार-आंडंबर के ख़िलाफ़ थी, न कि अपने को पूजित कराने की। संतकवि रूढ़ि, परंपरा, शास्त्र आदि के विरोधी और कुछ सीमा तक स्वतंत्र चिंतक थे। संतों ने अपने तर्क-वितर्क, विवेक और प्रेम-भरी सात्त्विकता से जनता को प्रभावित किया। उन्होंने समाज में प्रचलित विविध धर्मों, उपासना-पद्धतियों के भेदों को न अपनाकर उनके सारतत्त्वों को अपनाया और साक्षात्कृत ज्ञान, अनुभव से जिन आदर्शों, आचार, व्यवहारों, साधना-पद्धतियों को मान्यता दी, उसमें सारग्राहिता की प्रवृत्ति और स्वानुभूत सत्य का उद्घाटन हुआ। भारतीय ब्रह्मवाद, मोहम्मदीय, खुदावाद तथा सूफियों के प्रेमवाद के बीच समन्वय स्थापित कर संतों ने निर्गुणमतवादी संतमत की प्रतिष्ठा की, जिसमें गुरु की भूमिका अहम थी। निर्गुण-निराकार से भावात्मक संबंधों की स्थापना ने उन्हें रहस्यवादी बना दिया। अतएव संतमत में कुछ ऐसी निजता तथा विशेषता दिखाई देती है, जो दूसरों से भिन्न और संपूर्ण संत-साहित्य में एक समान व्यवहृत हुई है, जिसे देखकर ऐसा लगता है कि मानो कोई

अध्यापक कक्षा में पाठ पढ़ा रहा हो और सारे विद्यार्थी समवेत स्वर में उसे दोहरा रहे हों। संतमत की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

सारग्रहिता :

संतमत सारग्राही मत है। उसने परंपरागत तथा तत्कालीन समाज में प्रचलित साधना-उपासनाजन्य दार्शनिक, धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक विचारधाराओं में अंतर्भूत मानव के लिए कल्याणकारी, शुभ तथा उपादेश तत्त्वों को ग्रहण किया है। उस समय उत्तर-भारत में आचार्य शंकर का अद्वैतवादी दर्शन, रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैतवादी दर्शन, जिसमें विष्णु-लक्ष्मी की उपासना का विधान था, रामानंद जी के समय में राम-सीता की उपासना में परिणत हो गया था, राम-सीता की तरह राधा-कृष्ण की उपासना पद्धति, वैष्णवमत, सिद्ध-नाथ संप्रदाय, योग-मार्ग, शाक्त-मत तथा विदेशी-सूफ़ी, इस्लाम, ईसाई आदि धार्मिक दार्शनिक मत प्रचलित थे, जिनमें से शाक्त मत¹ को छोड़कर शेष सभी मतों का प्रभाव संतमत पर दिखाई पड़ता है। इधर डॉ॰ भरतसिंह उपाध्याय ने अपने 'ध्यान-संप्रदाय' का अनुसंधान किया है। उन्होंने संतमत में अपरोक्षानुभूति, ब्रह्म, सहज भाव, नाम-महिमा, गुरु-महिमा, योग, निर्गुण-साधना, रहस्य-साधना, सत्-असत्, ज्ञान-गरीबी, सबद-सुरति-योग, आदिगुरु, परमहंस, अवधूत, मन सुरति-निरति आदि से संबंधित भावना का स्रोत ध्यान-संप्रदाय में खोजा है। उनके विचार से संतमत ही नहीं, अपितु उसके पूर्व के सिद्धनाथ मत भी इस ध्यान-संप्रदाय से प्रभावित हैं।²

बहरहाल, संतों ने शाक्त-मत के अतिरिक्त शेष प्रचलित सभी मतों के शुभ-उपादेय तत्त्वों को ग्रहण किया है। शुक्ल जी ने लिखा है— 'निर्गुण मार्ग' के निर्दिष्ट प्रवर्तक कबीरदास ही थे, जिन्होंने एक ओर तो स्वामी रामानंद जी के शिष्य होकर भारतीय अद्वैतवाद की कुछ स्थूल बातें ग्रहण कीं और दूसरी ओर योगियों और सूफ़ी फ़कीरों के संस्कार प्राप्त किए। वैष्णवों से उन्होंने अहिंसावाद और प्रपत्तिवाद लिए। इसी से उनके तथा 'निर्गुणवाद' वाले और दूसरे संतों के वचनों में कहीं भारतीय अद्वैतवाद की झलक मिलती है, कहीं योगियों के नाड़ीचक्र की, कहीं सूफ़ियों के प्रेमतत्त्व की, कहीं पैगंबरी कट्टर खुदावाद की और कहीं अहिंसावाद की।³ ऐसी ही धारणा प्रख्यात समालोचक डॉ॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी जी की भी है।⁴ उनका मत है— 'कबीर नाना भौति की परस्पर-विरोधी परिस्थितियों के मिलन-बिंदु पर अवतीर्ण हुए थे, जहाँ एक ओर हिंदुत्व निकल जाता है, दूसरी ओर मुसलमानत्व, जहाँ एक ओर ज्ञान निकल जाता है, दूसरी ओर भक्ति मार्ग, जहाँ से एक और निर्गुण-भावना निकल जाती है, दूसरी ओर सगुण साधना।

उपरिलिखित विचारच्छायाओं से यह प्रतिध्वनित होता है कि संतमत अन्य मतों का रूपांतरण या पिष्टपेषण-मात्र है। सत्य यह है कि संतमत अपनी मौलिक चेतना, सारग्राहिणी अपूर्व शक्ति, अद्भुत तन्मयता, निर्भीक बेलाग वाणी, सामाजिक यथार्थ, प्रखर मेधा आदि का वह समन्वित विचारोद्भावन है, जिसने अपने समस्त पूर्ववर्ती चिंतन के शुभ रूपों को आत्मसात् कर उसे जनसाधारण के लिए उपयोगी बनाया। संतों ने पूर्व प्रचलित परंपराओं और तत्कालीन विचारधाराओं को यथावत् न अपनाकर उसका युगानुरूप संस्कार कर अपनाया है। उनके विचार श्रेष्ठ हैं, उद्भावनाएँ मौलिक हैं, चिंतन विवेकाधारित है, अनुभव की कसौटी

पर कसे सत्य का उद्घाटन है, उनके अनुभव में सघनता है तथा अभिव्यक्ति में सहजता। परंपरा विनिर्मुक्त, लोकेषणा विरुद्ध और जीवनरहित विचारणा एकांगी, रसहीन तथा निर्जीव होती है। तुलसीदास ने रामचरितमानस की प्रस्तावना में 'नानापुराणनिगमागमसम्यतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि'⁵ कहकर परंपरा-निर्बंधन की बात स्वीकार की है। श्रीमद्भागवत्, जयदेव, विद्यापति, चंडीदास तथा अपने गुरु वल्लभाचार्य के विचारों, दार्शनिक सिद्धांतों आदि से रस लेकर ही सूरदास ने अपने सूरसागर को रससागर बना दिया। मधुमक्खी जिस प्रकार विभिन्न प्रकृति, रंग, जाति, स्वाद के पुष्पों से रस लेकर उसे उपयोगी मधु के रूप में परिवर्तित कर देती है, संतमत को भी ऐसा ही समझना चाहिए।⁶ संत हंस हैं, नीर-क्षीर-विवेकी हैं, सारतत्व का संग्रही हैं। महात्मा कबीर साहब ने कहा है कि हंस-न्याय वाला व्यक्ति ही इस असार संसार-सागर का संतरण कर सकता है—

हंसा पय को काढ़ि ले, छोर नीर निरवार।
ऐसे गहे जो सार को, सो जन उतरै पार।⁷

हंस और संत की प्रवृत्ति एक है। जिस प्रकार हंस जल के अंदर कमल-नाल से उसके सारतत्त्व— दूध को ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार संत भी इस संसार में व्याप्त असार तत्त्वों के बीच से सारतत्त्वों को अपना लेता है—

संत सरोवर हंस है, भच्छन करै विचार।⁸

संत दादूदयाल के विचार से सच्चा साधु वही है, जो अवगुण को छोड़कर गुणों को ग्रहण कर लेता है—

औगुण छाड़े गुण गहै, सोई सिरोमणि साध।⁹

कबीर साहित्य ने ज्ञानी संत तथा अज्ञानी मनुष्य की तुलना सूप और चलनी से की है। उनका मत है कि सूप सारतत्त्वों की संग्रही होता है। वह थोथा (भूसी) को बाहर निकाल फेंकता है। इसके विपरीत चलनी आटा (सारतत्त्व) को बाहर निकाल देती तथा असारतत्त्व भूसी को अपने पास संचित करती है—

साधू ऐसा चाहिए, जैसा सूप सुभाय
सार-सार को गहि रहै, थोथा देइ उड़ाया।¹⁰
आटा तजि भूसी गहै, चलनी देखु निहारि।
कबीर सारहि छाड़ि कै, करै असार अहार।¹¹

एक दूसरे रूपक में कबीर ने भौरा तथा कीड़े के स्वभावगत अंतर से संतों की सारग्राहिणी दृष्टि का परिचय इस प्रकार किया है—

औगुण को तो ना गहै, गुनही को लै बीन
घट-घट महकै मधुप ज्यों, परमातम लै चीन्ह।¹²
कबीर कीट सुगंधि तजि, नरक गहै दिन-रात
असार-ग्राही मानवा, गहै असारहि बात।¹³

दादूदयाल के विचार से संतों को गाय और उसके बछुड़े के वास्तविक रहस्य को समझकर उन्हें वत्सवत् व्यवहार करना चाहिए। जिस प्रकार बछड़ा गाय के सींग, पूँछ और

उसके पैर पर ध्यान न देकर दूध-भरे थन से जा लगता है, उसी प्रकार संतों को निस्सार तत्वों पर ध्यान न देकर सारतत्वों पर अपनी दृष्टि रखनी चाहिए—

गऊ बच्छ का ज्ञान गहि, दूध रहै ल्यौ लाइ
सींग पूँछ पग परिहरै, अस्थन लागै धाइ।¹⁴

इस प्रकार संतों ने उस युग में प्रचलित समस्त दार्शनिक, धार्मिक सामाजिक, विचारधाराओं में अंतर्भूत सनातन सत्य को ग्रहण तो किया है, लेकिन उसे अपनी प्रखर मेधा से अपना बनाकर, अनुभव की कसौटी पर कस कर, विवेक की तराजू पर तौलकर तथा मौलिकता की छाप लगाकर प्रस्तुत किया है। यही कारण है कि उन्होंने अपनी सारग्राही प्रवृत्ति डंके की चोट पर स्वीकार की और संतमत को सारमत तथा अन्य मतों को भ्रमजाल की संज्ञा दी।¹⁵ इस संदर्भ में डॉ० बडथवाल का कहना उचित है कि संतसाधक का काम उस दाने को खोज निकालना है, जो छिलके के भीतर छिपा रहता है।¹⁶

अनुभव जन्यता :

संतमत की प्रधान विशेषता उसकी स्वानुभूतिपरकता है। सत्यान्वेषी संतजन किसी तथ्य को इसलिए स्वीकार नहीं करते कि वह किसी ज्ञानी विद्वान द्वारा कही या मान्य पुस्तकों में लिखी हुई है। यह भी नहीं कि वे किसी अन्य के विचारों को महत्त्व ही नहीं देते। उन्होंने अनेक विचार-स्रोतों से सत्य को ग्रहण तो किया, लेकिन अध्यानुगामी बनकर नहीं, अपितु अनुभव की प्रयोगशाला में जाँच-परखकर। वस्तुतः वे साक्षात्कृत अथवा स्वानुभूत ज्ञान के पक्षधर थे तथा उसी की प्रतिष्ठा पर बल देना चाहते थे। यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक है कि सत्य का स्वरूप अत्यंत गूढ़ है, रहस्यमय है। उसके अनादि तथा अनंत होने के कारण भी उसे समग्रतः अनुभवगम्य करना या कहना मिथ्या है। फिर एक का अनुभव सत्य दूसरे के लिए उसी प्रकार का तथ्य कैसे बन सकता है? साथ ही जब प्रत्येक संत का लक्ष्य अपने-अपने अनुभूत सत्यों का चयन-मात्र करना था, तब सबकी विचारधारा को एक व्यवस्थित मत के रूप में कैसे माना जा सकता है। डॉ० गोविंद त्रिगुणायत का मत है कि वास्तव में इस प्रकार के भ्रांतिमूलक प्रश्न तर्कमूलक एवं अनुभवमूलक ज्ञान के अंतर को न समझने के कारण ही उठते हैं। ज्ञान के जो सत्यखंड केवल तर्क की कसौटी पर कर किए जाते हैं, उनमें कभी भी पूर्ण व्यवस्था नहीं आती, क्योंकि तर्क के बल पर कुछ लोग एक बात को सत्य सिद्ध करते हैं और दूसरे उसी बात को असत्य सिद्ध करते हैं, किंतु अनुभव ज्ञान में इस प्रकार की दुविधा नहीं दिखाई पड़ती। प्रत्येक साधक के अनुभूत सत्यखंड व्यावहारिक दृष्टि से चाहे भिन्न-भिन्न दिखलाई पड़े, किंतु तात्त्विक दृष्टि से एक और अद्वैत रूप होते हैं।¹⁷

संत दादूदयाल का मत है कि सत्य 'एक' और 'अद्विती' है। इसका जिसने साक्षात्कार कर लिया है, उसने उसे 'एक' माना है। इसके विपरीत विचार करनेवाले लोग बिचौलिए हैं—

दादू जे पहुँचे ते पूछिए, तिनकी एकै बात।

सब साधौ का एक मत, ए बिचके बाहर वाटा।¹⁸

जिसने उस परमसत्य, परमशिव तथा परम सौंदर्य की अपरोक्ष अनुभूति कर ली,

वही तत्त्ववेत्ता है। ज्ञान के साधन रूप में विद्या और बुद्धि का महत्त्व प्रसिद्ध है। विद्याएँ मानव-सृजित हैं। बुद्धि की एक सीमा है। सीमित बुद्धि से सृजित विद्याएँ सीमित तथा संकुचित होंगी। इनसे तर्क-वितर्क, खंडन-मंडन किया जा सकता है, प्रत्यक्ष का ज्ञान संभव है, परोक्ष का नहीं, क्योंकि बुद्धि सहायक नहीं हो सकती। इनसे प्रत्यक्ष का ज्ञान ही संभव है, परोक्ष की अनुभूति नहीं। सहजोबाई ने लिखा है—

अनुभव ही सूँ जानिए, चित बुधि थकि-थकि जाहिं
तीन भाँति हंकार की, सो भी पावै नाहिं।¹⁹

संतों ने स्वयंसंवेद्य ज्ञान को प्रामाणिक और प्रमाण्य माना तथा पुस्तकीय ज्ञान को पर-संवेद्य। यह स्वयंसंवेद्य ज्ञान गूँगे का गुड़ है।²⁰ जिसका आस्वादन किया जा सकता है, वर्णन नहीं। यही कारण है कि संतों ने शास्त्रीय परंपरा से आए हुए ज्ञान को महत्त्व न देकर उसका विरोध किया—

कागद काले करि मुए, केते वेद पुरांन।
एकै अषिर पीव का, दादू पढ़े सुजान।²¹

इसके साथ ही उन्होंने उसे असत्य कहना भी अनुचित ठहराया। कबीर का कहना है—

वेद कतेब कहौ क्यूँ झूठा, झूठा जो निविचारै।²²

दोष वेद-पुराण का नहीं, उसमें वर्णित ज्ञान का नहीं, दोष बिना विचार पाठ का है। नानक ने लिखा है, लोग धार्मिक पुस्तकों को पढ़ते हैं तथा स्मृतियों का पाठ करते हैं, वे ठाठ से वेद-पुराण पढ़ते और सुनते हैं, किंतु चित्तवृत्तियों के बहिर्मुखी होने के कारण, उनके हृदय में परमात्मा के प्रति अनुराग उत्पन्न नहीं होता; बिना परमतत्त्व के रस में अनुरक्त हुए उनका मन नट की भाँति नटता रहता है—

पड़ि पड़ि-पोथी सिमृति पाठा। बेद-पुराण पढ़ै सुणि थाटा।

बिनु रस राते मनु बहु नाटा।²³

बुद्धि-संभूत ज्ञान व तर्क-वितर्क के सिद्धांत से ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण करनेवाले षट्शास्त्रों पर संत सुंदरदास को विश्वास नहीं है। षट्शास्त्र के ये विविध वाद-ईश्वरवाद, कर्मवाद, कालवाद, योगवाद, प्रकृति-पुरुषवाद और ब्रह्मवाद उस परमतत्त्व का निदर्शन न कराकर अपनी वादात्मक सांप्रदायिकता से विवाद या भ्रमवाद की सृष्टि किए हैं। जबकि अनुभवाधारित ज्ञान ही सार्वभौमिक, सार्वकालिक, अखंड और सत्य होता है। उनका कहना है—

‘सुंदर’ कहत षट्शास्त्र माहि भयौ बाद,
जाकै अनुभव, ज्ञानबाद मैं न बह्यौ है।²⁴

इसी तरह वेद के विभाग, विविध भाषाओं में लिखित संपूर्ण साहित्य आदि सभी वाणीगम्य हैं। वाणी से परे उस ब्रह्म की अनुभूति की जा सकती है, अभिव्यक्ति नहीं—

बचन कै परे है सु बचन मैं आवै नाँहि,
‘सुंदर’ कहत वह अनुभौ प्रमान जू।²⁵

सुंदरदास ने चार प्रमाणों— शब्द, उपमान, अनुमान तथा अनुभव में से अनुभव को ही

प्रत्यक्ष-प्रमाण माना है। उनका कहना है कि जब उस ब्रह्म का अनुभव हो जाता है, तब सारे संदेह मिट जाते हैं। यह अनुभव का प्रत्यक्ष प्रमाण है—

अनुभव जानै तब सकल संदेह मिटै,
'सुंदर' कहत यह प्रत्यक्ष प्रमाण है।²⁶

संतों का यह अनुभव ज्ञान उनकी निरंतर आत्मसाधना, ज्ञानमार्गी विचारणा, भावात्मक राग, अहर्निशी सत्यानुसंधान का परिणाम है।²⁷ उन्हें विश्वास है कि विचारपूर्वक धैर्य धारण के साथ उसे स्मरण करते रहने से उस परोक्ष परम सत्य की प्रत्यक्ष अनुभूति होगी— 'धीरज धारि विचार निरंतर, तोहि रच्यौ सु तौ आपुहि ऐहैं'।²⁸ इसी विश्वास का परिणाम है कि संत दरिया साहिब (बिहार वाले) ने शास्त्रविहित तथ्य को सुनी-सुनाई कह उसे असत्य तथा अंतःकरण में अनुभूत तथ्य को आँखोंदेखी अर्थात् प्रत्यक्ष सत्य की उद्घोषणा की है—

साध पुरुष देखी कहैं, सुनी कहैं नहिं कोय।
कानों सुनी सो झूठ सब, देखी साची होय।²⁹

निर्गुणोपासना :

संत निराले थे, उनका ब्रह्म परम निराला। संतों में निरालापन उनकी सारग्राही प्रवृत्ति और विलक्षण विचारणा की देन थी। अन्यत्र दिखाया जा चुका है कि संतों ने बिना भेद-भाव के जहाँ कहीं भी शुभ और उपयोगी तथ्य पाया उसे अपना बनाकर अपनाया। अध्यात्म-दर्शन के क्षेत्र में उस समय परमात्माविषयक जितनी मान्यताएँ अवधारणाएँ प्रचलित थीं, उनका समन्वय कर उन्होंने निर्गुणमत का प्रतिपादन किया। ब्रह्म का यह निर्गुण स्वरूप एक ओर तो उनके बाह्याचार-निषेध में सहायक व आत्मानुभूति के योग्य था, तो दूसरी ओर कट्टर इस्लाम के एकेश्वरवाद के अत्यंत निकट। वह ज्ञान से ज्ञेय था, योग से उसका अभिज्ञान होता था तथा भावविह्वलता की स्थिति में उससे तादात्म्य स्थापित किया जा सकता था। अर्थात् भारतीय ज्ञानमार्ग, योगमार्ग तथा भक्तिमार्ग में निरूपित और सूफी इस्लामिक सिद्धांतों में प्रतिपादित विचारणाओं से प्रभावित होने के बावजूद संतों का ब्रह्म विलक्षण, निराला और निर्गुण है। संतों ने ब्रह्म के सगुण स्वरूप को छोड़कर उसके निर्गुण-निरंजन रूप को क्यों अपनाया? इसका कारण संत सुंदरदास ने इस प्रकार दिया है—

ब्रह्म-कुलाल रचै बहु भाजन, कर्मनि कै बसि, मोहि न भावै।
विष्णुहु संकट आइ सहै ग्रम, काहु कौ रक्षक, काहु सतावै।
शंकर भूत पिसाचनि के पति, पानि कपाल लिए बिललावै।
याहि तैं 'सुंदर' त्रीगुन त्यागि, सु निर्मल एक निरंजन ध्यावै।³⁰

दादूदयाल अलख, अरूप, निर्गुण, ब्रह्मविषयक जिज्ञासा अपने गुरु के सामने रखते हैं और पूछ बैठते हैं— गुरुदेव! शब्द ब्रह्म कौन है, उसकी जानकारी रखनेवाला कौन है? सुरति क्या है, उसका विचार करनेवाला कौन है? ग्यान किसे कहते हैं, ज्ञाता कौन है? उनमनि अवस्था क्या है? ध्यान किसे कहते हैं, सहजावस्था क्या है? समाधि किसे कहते हैं, भक्ति क्या है, किसी अराधना की जाती है?³¹

सहजोबाई की समझ में नहीं आता कि अलख, अरूप, पवित्र उस अनिर्वचनीय ब्रह्म

को किस अभिधान से संयुक्त किया जाए। वह अनाम है फिर भी जितने नाम हैं, सब उसी के हैं। वह रूपहीन है फिर भी सब रूप उसी के हैं। इस प्रकार प्रकट या गुप्त जो कुछ भी है, ब्रह्म है—

नाम नहीं औ नाम सब, रूप नहीं सब रूप।
सहजो सब कुछ ब्रह्म है हरि परगट हरि गूप।³²

कबीर ने ब्रह्म को रूपायित करने में अपनी असमर्थता व्यक्त की है।³³ उस अनिर्वचनीय का वर्णन भी किया जाए तो कैसे? क्या लोग उसकी बात पर विश्वास करेंगे? अतएव भगवान जैसा है वैसा ही है, कैसा है, कहा नहीं जा सकता।

संदर्भ

1. (क) साषत से सूकर भला, सूचा राखे गाँव।
(ख) साषत ब्रह्मणजिनि मिलै, बैसनौ मिलौर चंडाल। कबीर ग्रंथावली, 15, 16, पृ० 28
(ग) साकित ब्रह्मन नहिँ भला, भक्ता भला चमारा। संतबानी संग्रह, धरनीदास, पृ० 110
2. डॉ० लक्ष्मीसागर वाष्णीय, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० 118
3. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० 65
4. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, मध्यकालीन धर्म-साधना, पृ० 64
5. रामचरितमानस, बालकांड, श्लोक-7
6. औगुन को तो ना गहै, गुनही को लै बीन।
घट-घट महकै मधुप ज्यों, परमातम ले चीन्ह।
संतबानी संग्रह, भाग पहला, सारगहनी 2, पृ० 31
7. संतबानी संग्रह, भाग पहला, सारगहनी-3, पृ० 31
8. वही, पृ० 184
9. दादूदयाल ग्रंथावली, साध कौ अंग, 87, पृ० 186
10. संतबानी संग्रह, भाग पहला, सारगहनी 2, पृ० 31
11. वही, पृ० 31
12. वही, पृ० 31
13. वही, पृ० 31
14. वही, पृ० 84
15. संत मता है, सार और सब जाल पसारा। संतबानी संग्रह भाग दो, पृ० 220
16. डॉ० पीतांबरदत्त बड़थवाल, हिंदीकाव्य में निर्गुण संप्रदाय, पृ० 317
17. डॉ० गोविंद त्रिगुणायत, हिंदी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृ० 683-84
18. दादूदयाल ग्रंथावली, साँच कौ अंग, 159, पृ० 168
19. संतबानी संग्रह, भाग पहला, सहजोबाई, नित्य-अनित्य सांख्यमत, 5, पृ० 154
20. वही, पृ० 154
21. दादूदयाल ग्रंथावली, साँच को अंग, 91 पृ० 158
22. कबीर ग्रंथावली, पद 62, पृ० 84
23. नानक वाणी, डॉ० जयराम मिश्र, गउड़ी, 11, पृ० 231

24. सुंदरविलास, संपादक किशोरीलाल, अथ आत्मानुभव को अंग, पृ० 294
25. वही, पृ० 289
26. सुंदरविलास, अथ आत्मानुभव को अंग, 457, पृ० 299
27. देखत-देखत-देखत मारग, बूझत-बूझत-बूझत आयौ।
सूरझ-सूझत सूझि परी सब, गावत-गावत-गावत-गावत गोविंद गायौ।
सोधत-सोधत सुद्ध भयौ पुनि, तावत-तावत कंचन तायौ।
जागत-जागत जागि पर्यौ जब, 'सुंदर' सुंदर-सुंदर पायौ।
28. वही, अर्थ विश्वास को अंग, 124, पृ० 122
29. संतबानी संग्रह भाग-पहला, दरिया साहिब (बिहार वाले), पृ० 215
30. सुंदरविलास, अर्थ निर्गुण उपासना को अंग, 220, पृ० 175
31. दादूदयाल ग्रंथावली, अथ पद, राग गौड़ी 52, पृ० 326
32. संतबानी संग्रह, भाग पहला, सहजोबाई, पृ० 155
33. भारी कहौं त बहुत डरौं, हलका कहूँ तौ झूठ।
मैं का जाँणों राम कूँ, नैनुँ, कबहूँ न दीठ। कबीर ग्रंथावली 8/9 पृ० 13

□ पुत्री श्री ओ०पी० सिंह

एस 24/6-9 ए टकटकपुर (महावीर मंदिर रोड), वाराणसी

हिंदी-ग़ज़ल में दलित सवाल

डॉ० रामगोपाल भारतीय

ग़ज़ल का ज़िक्र आते ही ज़हन में एक रूमानी-सी तस्वीर उभरने लगती है, जिसमें प्यार और मुहब्बत की बातें होती हैं। ग़ज़ल का शाब्दिक अर्थ ही 'महबूबा या औरत से बातचीत है, किंतु पिछले 50 सालों में ग़ज़ल ने जो यात्रा तय की है, उसने ग़ज़ल के विविध विषयों के कई पड़ाव तय किए हैं। ग़ज़ल राज महलों और मयख़ाने से निकलकर सड़क पर आ गई है और आम आदमी की रोज़मर्रा की परेशानियों से रू-ब-रू है। विशेष रूप से हिंदी-ग़ज़ल ने स्वयं को आज आम आदमी के सरोकारों से जोड़ा है और इसका श्रेय हिंदी-ग़ज़ल के सम्राट कहे जानेवाले विद्रोही कवि और ग़ज़लकार दुष्यंत कुमार को जाता है, जिसने रोटी, कपड़ा और मकान के सवाल को अपनी ग़ज़लों के माध्यम से उठाया और ग़रीब अभावग्रस्त दलितआदमी के हक़ में आवाज़ बुलंद की। उन्होंने दलित की दुर्दशा के लिए व्यवस्था को फटकारा और राजनीति को आम ग़रीब सर्वहारा लोगों की कठिनाइयों का ज़िम्मेदार ठहराया। उन्होंने कहा—

एक चिंगारी कहीं से ढूँढ लाओ दोस्तो
इस दिए में तेल से भीगी हुई बाती तो है।
मेरे सीने में नहीं तो तेरे सीने में सही
हो कहीं भी आग लेकिन आग जलनी चाहिए।
वह आदमी नहीं है मुकम्मल बयान है
माथे पे उसके चोट का गहरा निशान है।
सामान कुछ नहीं है फटेहाल है मगर
झोले में उसके पास कोई संविधान है।¹

हर तरफ़ एतराज़ होता है
मैं अगर रोशनी में आता हूँ।

भारतीय समाज में जाति-प्रथा एक कडुवी सच्चाई है। इस पर प्रहार करने में भी कवि और शायर पीछे नहीं रहे हैं। अपनी ग़ज़ल के शेर में शायर ओमप्रकाश 'नदीम' ने कहा है—

अँधेरा बढ़ रहा है और दिया ख़ामोश है हद है
सितम के ख़ोफ़ से सच की सदा ख़ामोश है हद है²

हिंदी-ग़ज़ल में प्रतीकों के माध्यम से दलितों के शोषण का चित्रण बख़ूबी किया गया है। मेरठ के प्रसिद्ध ग़ज़लकार ओंकार गुलशन के शब्दों में—

मेरे ख़ातिर ज़ाम जो लाया गया
उसमें मेरा ही लहू पाया गया।
उसका जिसने बात की अधिकार
की बाग़ियों में नाम लिखवाया गया।³

आर्थिक विषमता पर चोट करते हुए जाने-माने कवि डॉ० कुँअर बेचैन लिखते हैं—
नन्ही झोंपड़ियों से लेकर इन ऊँची मीनारों तक
सबके सिर इक रोज़ गए है टकराने दीवारों तक।
अचरज है ये पहुँच न पाई इंसानों के कानों तक
वैसे आहें पहुँच रही हैं अब भी चाँद-सितारों तक।⁴

यह विडंबना ही है कि अपना तन-मन-धन देकर भी इस देश का दलित स्वयं को
उपेक्षित अनुभव करता है। कवि गिरिजानंदन 'आकुल' अपने शेरों में इसे स्पष्ट करते हैं—

फिर नई संवेदना का गुल खिलाया जाएगा
फिर किसी निर्दोष का लोहू बहाया जाएगा।
चीथड़े तन पर, बदन पर झुर्रियाँ कर में गुलाब
दृश्य यह टेलीविजन पर अब दिखाया जाएगा।⁵

अनेक अवरोध और कठिनाइयों के बावजूद डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल की ग़ज़ल हमें
आगे बढ़ने का हौसला देती है—

बंधे हों पाँव में पत्थर हमें तो दौड़ना होगा
रुकें कैसे कि कल के रास्ते हमको बुलाते हैं।⁶

ग़ज़ल और गीत में सिद्धहस्त श्री चंद्रसेन विराट अपनी ग़ज़ल के शेर में ग़रीब की
लड़ाई का ज़िक्र करते हुए कहते हैं—

अनुशंसा के बिना रह गए जो सुपात्र होकर भी वंचित
उन लोगों की लड़े-लड़ाई वह निस्वार्थ वकील कहाँ हैं।⁷

शायर ज़हीर कुरैशी दलितों के पहले संतकवि कबीर की लड़ाई को आगे बढ़ाते हुए
लिखते हैं—

किस्से नहीं हैं ये किसी राँझे की हीर के
ये शेर हैं अँधेरों से लड़ते ज़हीर के।
चिंतन ने कोई गीत लिखा या ग़ज़ल कही
जन्में हैं अपने-आप ही दोहे कबीर के।⁸

आज के कवि और शायर यदि अपने लेखन में दलित सवाल नहीं उठाते हैं तो अपने
लेखन के साथ न्याय नहीं करते, क्योंकि अन्याय के विरुद्ध लिखना ही सच्ची शायरी का
कर्तव्य है। माहेश्वर तिवारी अपनी ग़ज़ल के शेर में कहते हैं—

जिनका लेखन एक गाली है ग़रीबों के लिए
वे सुखनवर ऊँची-ऊँची महफ़िलों की शान हैं।⁹

शायर रमेश शेखर ने देश के बिगड़े हुए हालात पर तंज कसते हुए कहा है—

निर्माण है, कल्याण है, राहत है प्रगति है
ऊँचा है मेरा देश मगर डूब रहा है।¹⁰

प्रसिद्ध गीतकार नीरज ने भी ज्ञात और मजहब पर अपने शेरों में खूब चोट की है

अब तो मजहब कोई ऐसा भी चलाया जाए
जिसमें इंसान को इंसान बनाया जाए।¹¹

उन्होंने दलितों को अन्याय के विरुद्ध लड़ने की हिम्मत देते हुए कहा है—
है बहुत आँधियार अब सूरज निकलना चाहिए
जिस तरह से भी हो ये मौसम बदलना चाहिए।

छीनता हो जब तुम्हारा हक़ कोई, उस वक़्त तो
आँख से आँसू नहीं शोला निकलना चाहिए।

शायर राजेंद्र व्यथित अपने शेरों में दलित की व्यथा की विस्तृत व्याख्या करते हुए
कहते हैं—

कर फैलाकर जब भी माँगा मैंने एक उजारा दिन
दाता ने मुझको दे डाला इक नीरस नाकारा दिन।

इस युग के इतिहासकार ने जगह-जगह ये लिक्खा है
हमने उसका पर्व मनाया जो भी था हत्यारा दिन।¹²

विजयवीर त्यागी ने अपने शेर में ग़रीब के दर्द को कुछ इस प्रकार व्यक्त किया है—
हमारे दर्द की उन तक, भला कैसे ख़बर पहुँचे
जहाँ सपने नहीं जाते, वहाँ कैसे नज़र पहुँचे।¹³

अपने हक़ को पाने के लिए वक़्त से लड़ना होगा। इस बात को अपने शेरों में श्री
विनोद तिवारी इस प्रकार कहते हैं—

वक़्त से होड़ क्यों नहीं लेते
रास्ता मोड़ क्यों नहीं लेते।
पेड़ घर आके फल नहीं देते
हाथ हैं, तोड़ क्यों नहीं लेते।¹⁴

बिजनौर के कवि जयनारायण 'अरुण' की पंक्तियाँ सोचने को विवश करती हैं—

तनिक-सी चीख़ से घबरा उठे तुम
न जाने हम तो कबसे सह रहे हैं।
हमारे होंसले को तो सराहो
सड़क पर घर बनाकर रह रहे हैं।¹⁵

डॉ० उर्मिलेश अपने शेरों में सियासती नेताओं की असलियत को उजागर करते हुए
लिखते हैं—

पूजा में कोई व्यस्त है कोई अज्ञान में
आता नहीं है मुल्क किसी के भी ध्यान में।
वो शख्स ही कमीज उतारेगा इनकी कल
कंबल जो दे रहा है ग़रीबों को दान में।¹⁶

दलितों के लिए सरकारी योजनाओं की पोल खोलते हुए शायर निश्तर ख़ानकाही ने
कहा है—

पाँव की जंजीर तोड़ेगा तो मेरा रहनुमा
इक नए जंजाल में लाकर फँसा देगा मुझे।

जानता हूँ मैं कि पहले की तरह इस बार भी
कुछ नहीं देगा वह केवल योजना देगा मुझे।¹⁷

वरिष्ठ गजलकार हनुमंत नायडू अंधी-बहरी सरकार को फटकारते हुए लिखते हैं—
सपने बिछा के चार तो दो-चार ओढ़कर
सोता है देश देखिए सरकार ओढ़कर।

भूखों के हर जुलूस में उनका ही शोर है
जीते हैं लोग जो यहाँ त्योहार ओढ़कर।¹⁸

कवि अश्वघोष अपनी बात कुछ इस तरह से कहते हैं—
एक दरिया कल मिला था राजधानी में हमें
आदमी के खून से अपना बदन धोता हुआ¹⁹

गुलशन मदान ने दलितों की दुर्दशा का सजीव चित्रण करते हुए लिखा है—
जिस तरफ़ भी देखिए है बेबसी हर मोड़ पर
आँख में आँसू लिए है ज़िंदगी हर मोड़ पर।

अपने घर में ही दिया रखने से होगा कुछ नहीं
अब हमें करनी पड़ेगी रोशनी हर मोड़ पर।²⁰

डॉ० माधव कौशिक दलित-क्रांति का उद्घोष करते हुए कहते हैं—
जिस दिन सूरज बदला लेगा खोफ़नाक आँधियों से
उस दिन चीख़ सुनाई देगी सत्ता के गलियारों से।

इतिहासों को लिखनेवाला क़लम नहीं उपलब्ध अगर
लिखने वाले लिख देते हैं लोहे के औज़ारों से।²¹

कवि राजेश रेड्डी भेदभाव के खिलाफ़ नई पीढ़ी के डर को अभिव्यक्त करते हैं—
मेरे दिल के किसी कोने में इक मासूम-सा बच्चा
बड़ों की देखकर दुनिया, बड़ा होने से डरता है।²²

ग़रीब की मौत पर भी लोग राजनीति करने से बाज नहीं आते। रामेश्वर वैष्णव के
शब्दों में—

वो मर गया ग़रीब उसूलों के वास्ते
लोगों ने उसकी मौत को जलसा बना लिया।²³

अपनी करतूत भूल जाते हैं लोग
जब उँगलियाँ उठाते हैं।²⁴

गजलकार डॉ० रोहिताश्व अस्थाना मानते हैं कि दलितों के लिए आज भी कुछ बदला
नहीं है—

जारी है आज भी वही रोटी की इक बहस
दिल पर सभी के घाव हैं आघात हैं वही।²⁵

विनोद तिवारी भी लिखते हैं—

वो लड़की रोशनी का नाम सुनकर काँप जाती है
ये किस दहशत के लम्हे बो गई हैं चाँदनी रातों।

आप तो विद्वान हैं रखते हैं पल-पल का हिसाब
माँगता है 'आज' पहले दीजिए 'कल' का हिसाब।²⁶

शंकरप्रसाद करगोती का मानना है कि दलित का भला मंदिरों में जाने पर भी नहीं
होगा, क्योंकि भगवान भी पत्थर का बना है—

बड़ी मुश्किल में था फिर भी वह मंदिर तक नहीं आया
उसे मालूम था भगवान पत्थर का बना होगा।²⁷

गरीबी हटाओ के नारों का मज़ाक उड़ाते हुए शायर सरदार आसिफ़ अवाम को आगाह
करते हुए अपने शेर में कहते हैं—

उसी गली में मेरे भूखे बच्चे रहते हैं
वो मेरे नाम का पत्थर जहाँ लगाते हैं।²⁸

शायर का मानना है कि जो लोग उजाले के ठेकेदार बने बैठे हैं, वे ही उजालों को
डस रहे हैं—

चिराग, धूप का लश्कर बुझाने लगता है
बहुत उजाला, उजाले को खाने लगता है।²⁹

अपने हक़ को छीन लेने का सबक़ देते हुए शायर कहता है—

तुम अपने हक़ के लिए भीख माँगते क्यों हो
लपक के छीन लो तुम भी यहाँ के शहरी हो।³⁰

प्रसिद्ध शायर नवाज़ देवबंदी ने मुफ़लिसी का ज़िक्र करते हुए कहा है—

भूखे बच्चों की तसल्ली के लिए
माँ ने फिर पानी पकाया देर तक।³¹

कवि रमेशचंद्र शर्मा 'चंद्र' अपने शेरों में गरीबी का सजीव चित्र करते हुए कहते हैं—

कोमल कंधे बोझ उठाएँ, हाय गरीबी
फुटपाथों पर रात बिताएँ, हाय गरीबी।³²

मजलूमों का दर्द समझने के लिए सच्चा अहसास ज़रूरी है। ग़ज़लकार किशनस्वरूप
कहते हैं—

फटी बिवाई अपनी तो फिर उसका दर्द समझ आया
मजलूमों का दर्द समझ में आया नहीं कुलीनों को।³³

शायर रामप्रकाश गोयल 'सोज' ने हर शख्स को इंसान की नज़र से देखने की
वकालत की है—

हर किसी शख्स को इंसान समझते रहिए
और इस बात को ईमान समझते रहिए।³⁴

कवि और चित्रकार इंद्रदेव भारती के शब्दों में गाँव हो या शहर जातियों का ज़हर सब
जगह फैल गया है।³⁵ अब ग़ज़ल केवल फूल की बातों तक ही सीमित नहीं रह गई, बल्कि

वक्त्र के सरोकारों से रू-ब-रू होकर चलती है। कमलकिशोर भावुक ने इसी बात को अपनी ग़ज़ल के मतले में यूँ कहा है—

फूल ही केवल नहीं, अब खार भी होगी ग़ज़ल
वक्त्र की आवाज़ है, तलवार भी होगी ग़ज़ल।³⁶

डॉ० परशुराम शुक्ल ने आज भी सिर पर मैला ढोने की प्रथा पर अफसोस करते हुए कहा है—

हो चुकी आधी सदी, आज़ाद भारत को मगर
सर पे हम मैला उठाते और सब ख़ामोश हैं।³⁷

कहने को तो रामराज में सबको समान अधिकार मिले हुए हैं, लेकिन वास्तविकता कुछ और है। राम अवतार गुप्त मुज़्तर कहते हैं—

रामराज में कुछ लोगों ने यूँ, भी जीवन काटा है
रातों को घुटने ओढ़े हैं, फ़ाका दिनभर चाटा है।

वो क्या जाने भूखे पेट की ज्वाला का संताप है या
जिसके घर में दाल है साँई, नून, तेल है, आटा है।³⁸

अब जुल्म का मुक़ाबला करने के लिए ग़रीबों को भी तैयार रहना होगा। डॉ० रामगोपाल भारतीय के शब्दों में—

बदुआएँ इन ग़रीबों की न खाली जाएँगी?
अब कमानें जुल्म के आगे सँभाली जाएँगी।³⁹

दलितों को अपने हक़ के लिए हर क़दम लड़ना पड़ रहा है। शायर राम मेश्राम ने अपने शेरों में इसे यूँ व्यक्त किया है—

बहस लाज़िम है अपने मालिकों से मुझे जमकर निचोड़ा जा रहा है।
नशे की नींद है टूटेगी कैसे इन्हें कबसे झिझोड़ा जा रहा है।⁴⁰

कैसी विडंबना है कि हम जिन लोगों के सिर पर ताज रखते हैं, वही बेख़ौफ़ घूम रहे हैं। हरेराम 'पथिक' ने अपनी बात इन पंक्तियों के माध्यम से कही है—

हम रहे नादान, सिर पर ताज उनके रख दिया
वो जिए बेख़ौफ़ हम तो ख़ौफ़ में मरते रहे।⁴¹

मेहनतकशों को अपनी मज़दूरी का पूरा दाम नहीं मिलता, इसीलिए डॉ० रामगोपाल भारतीय कहते हैं—

अपनी मेहनत की कमाई माँगनेवाला यहाँ
एक दिन ख़ाली तुम्हारे दर से लौटाया गया।⁴²

जब भी कभी दलितों को आरक्षण या कुछ सुविधाएँ देने की बात उठती है तो किसी-न-किसी बहाने उसका विरोध होने लगता है—

जब भी हक़ का सवाल होता है अच्छा-ख़ासा बवाल होता है
परकटे पंख जब भी उड़ते हैं, आसमाँ को मलाल होता है।⁴³

कवि रामकुमार कृषक का विचार है कि आज़ादी पाने के लिए दलित योद्धाओं ने भी

बराबर की लड़ाई लड़ी, परंतु इनको अपने हिस्से की धूप नहीं मिली—

इंकलाब के कारण हमने जमकर ज़िंदाबाद कहा

पड़ी माँजनी तलवारों के भ्रम में म्यानें दुनिया की।⁴⁴

यह एक कड़वी सच्चाई है कि हमारे देश में दलित गुलामों के भी गुलाम थे, इसलिए आजादी की छटपटाहट के साथ अस्पृश्यता को दूर करने के लिए भी दलित योद्धा स्वतंत्रता-संग्राम में कूद पड़े थे। कवि रामावतार त्यागी ने इन पंक्तियों में उक्त मंतव्य स्पष्ट किया है—

चेहरे पढ़े हैं गौर से हर खासो-आम के

लिखा है हम गुलाम हैं वह भी गुलाम के।⁴⁵

और देखें—

तुम कर्ज इस समाज का बिककर चुका चुके

लो आ गई रसीद भी अब तो कहीं चलें।⁴⁶

कवि विजयकिशोर मानव मजदूरों की व्यथा को इस प्रकार कहते हैं—

यही वो पाँव हैं, जो आँख खुलते ही निकलते हैं

ये खाली हाथ पुशतों से जिन्हें हम शाम मलते हैं।⁴⁷

एक मजबूर आदमी अपनी व्यथा को प्रकट भी नहीं कर सकता। जहीर कुरैशी अपने शेर में कहते हैं—

रोना भी अगर चाहूँ तो रोने नहीं देते

वे लोग मुझे आँख भिगोने नहीं देते।⁴⁸

हजारों उलझने हैं साथ मेरे तुम्हें बतलाऊँ किस उलझन की बातें

जहाँ दो जून की रोटी भी मुश्किल वहाँ पर संतुलित भोजन की बातें।⁴⁹

श्री दुष्यंतकुमार ने शोषितों के इतिहास का वर्णन करते हुए कहा है—

हमको पता नहीं था हमें अब पता चला

इस मुल्क में हमारी हुकुमत नहीं रही।⁵⁰

कवि कुमार अनिल अपनी पंक्तियों में सर्वहारा के आक्रोश को ये शब्द देते हैं—

जुल्म है अब हद से ज्यादा, और कब तक चुप रहें

देखते यह खूनी मंज़र और कब तक चुप रहें।

रोक ली महलों ने अपनी जब हवा भी धूप भी

हाथ में तब लेके पत्थर और कब तक चुप रहें।⁵¹

न्याय व्यवस्था पर कटाक्ष करते हुए कवि राजगोपाल सिंह कहते हैं—

मैं जानता हूँ कि मुंसिफ़ का फ़ैसला क्या है

कहानी कुछ है मगर कुछ बयान लेता है।⁵²

आजादी के बाद सुविधाएँ देशवासियों को ख़ूब मिली, मगर शोषितों के हिस्से केवल मजबूरी ही आई। जावेद नदीम इस बात को यूँ कहते हैं—

बादल बरसे, बर्फ़ भी पिघली, सूरज सोया, रात हुई

फिर भी आँगन खुश्क़ है मेरा जाने कहाँ बरसात हुई।⁵³

अपनी लड़ाई शिद्दत से लड़ने का आहवान करते हुए कवि मनोज अबोध अपने शेरों में कहते हैं—

मौसम के तीखे तेवर से बचना चाहो तो
अब सोने की आदत डालो अंगारों के साथ।⁵⁴

अपने अधिकारों के लिए युग-परिवर्तन आवश्यक है। अतः एक और क्रांति करनी होगी। मनोज अबोध अपने शेर में कहते हैं—

युग-परिवर्तन ख़ाली नारों से कब हो पाया
एक लड़ाई लड़नी होगी अधिकारों के साथ।⁵⁵

सर्वहारा का हक़ छीननेवाले अक्सर धार्मिक होने का ढोंग करते हैं। शायर शकील जमाली अपनी ग़ज़ल में यही बात कह रहे हैं—

हमारा हक़ दबा रक्खा है जिसने
सुना है हज को जाना चाहता है।⁵⁶

किसी ग़रीब को इंसान मिल नहीं सकता
गवाह जाके अदालत में टूट जाते हैं।⁵⁷

ग़ज़ल के बदलते तेवर की चर्चा करते हुए शकील जमाली लिखते हैं—
लिखने के लिए क़ौम का दुख दर्द बहुत है
अब शेर में महबूब के नख़रे नहीं चलते।⁵⁸

कब तलक लोग अँधेरे में रहें
अब ये माहौल दिया चाहता है।⁵⁹

यह भी सच्चाई है कि राजनीति ने सर्वहारा वर्ग को जातियों में बाँट रखा है और हमें एक नहीं होने देती—

अगर कुछ देर को हम लोग लड़ना भूल जाते हैं
हमारी राजनीति को पसीना छूट जाता है।⁶⁰

और

कब तलक देखेगा मेरे साथ नाइंसाफ़ियाँ
यार मेरे! तेरी पेशानी पे बल कब आएगा।⁶¹

हाशिए पर रहे दलित लोगों को चुप रहने के लिए मजबूर होना पड़ रहा है। डॉ॰ रामगोपाल भारतीय इसे इस प्रकार कहते हैं—

जैसा चाहोगे कहेंगे, हाशिए के लोग हैं
चुप रहे हैं, चुप रहेंगे, हाशिए के लोग हैं।⁶²

यूँ तो हमारे देश ने काफ़ी प्रगति कागज़ों पर कर ली है, परंतु वास्तविकता कुछ और है—
मुल्क ने की है तरक्की तो बहुत, अब भी मगर
पेट भरते हैं यहाँ मासूम कचरा बीनकर।⁶³

अपनी हद से गुज़र गया होगा
भूख से वो जो मर गया होगा।⁶⁴

शायर तेजपाल सिंह तेज़ अपने शेरों में दलित सवालियों को बड़ी शिद्दत से उठाते हैं—
 यूँ ही बवाल मत कर
 कुछ नए सवाल मत कर ⁶⁵
 अँधेरा शहर है, कुछ बत्तियाँ रख दे
 रोटी की बात अब ग़ज़ल में ज़रूरी हो गई है। ⁶⁶
 बेजुबान लोगों की व्यथा को बयान करते हुए कवि माघव कौशिक कहते हैं—
 हुआ है क़त्ल बहुत बेजुबान पत्थर का
 किया न दर्ज किसी ने बयान पत्थर का। ⁶⁷
 कुछ इसी प्रकार की बात डॉ॰ रामगोपाल भारतीय ने कही है—
 जो बेजुबान हैं, उनकी जुबान बनके दिखा
 ज़मीन कहती है तू आसमान बनके दिखा। ⁶⁸
 अमीर बाप के घर में बड़े हुए तो क्या
 किसी ग़रीब के घर में महान बनके दिखा। ⁶⁹
 आरक्षण की हिमायत करते हुए कवि कहता है—
 भूखा है तो को दौड़ में पिछड़ा ही रहेगा
 यूँ हौसला उसका भी किसी से नहीं कम है। ⁷⁰
 कवि राजगोपाल सिंह ने हर आग में ग़रीब का मकान ही जलने पर सवाल उठाया है—
 आग ने बस्ती जला डाली मगर हैरत है ये
 किस तरह बस्ती में मुखिया का मक़ाँ बाकी रहा। ⁷¹
 देश के वर्तमान विकास की खिल्ली उड़ाते हुए कवि माणिक वर्मा अपने शेर में यूँ
 अभिव्यक्ति करते हैं—
 चिथड़े-चिथड़े लिबास बाकी है
 और कितना विकास बाकी है। ⁷²
 विनोद भृंग देश की पंचवर्षीय योजनाओं की निरर्थकता की चर्चा करते हुए कहते हैं—
 फ़ायदा कुछ भी नहीं, बेशक बजा लो भृंग तुम
 योजना के पाँच साला झुनझुने ए दोस्तो। ⁷³
 दलितों को हर तरफ़ से धोखे और फ़रेब ही मिल रहे हैं। कवि राजेश आनंद 'असीर'
 इसे यूँ व्यक्त करते हैं—
 किसी को अपना कहने में हम अब डर-सा लगता है
 वही देता है धोखा हमें जिसे अपना समझते हैं। ⁷⁴
 सुप्रसिद्ध शायर निशतर ख़ानकाही ने अपने शेर में सर्वहारा वर्ग के लोगों की विवशता
 का चित्रण कुछ इस तरह किया है—
 काश कुछ दिन अपनी मर्जी से भी जीकर देखते
 जाने किस-किसके इशारों पर जिए जाते थे लोग। ⁷⁵
 बड़ी-बड़ी इमारतों की नींव में ग़रीबों का खून मिला होता है। इस भाव को कवि
 सत्यपाल सत्यम अपने शेर में इस प्रकार कहते हैं—

देखते हो सामने इमारत खड़ी हुई
जानते हो कैसे वो इतनी बड़ी हुई।⁷⁶

आजकल पुराने ही नहीं बल्कि नये रचनाकार भी अपनी ग़ज़लों में दलित सवालों को उठाने में कोई गुरेज़ नहीं करते, कवि अमित अनंत की पंक्तियाँ हैं—

ये मुँसिफ़ों को बता दे कोई बयान मेरा
कि मेरे क़त्ल में शामिल था सायेबान मेरा।⁷⁷

हिंदी ग़ज़ल में संत्रास को लेकर डॉ० रोहिताश्व अस्थाना ने ग़ज़ल के नए तेवरों की चर्चा की है—

आदमी के साथ नंगे पाँव ही
ढो रही संत्रास है हिंदी-ग़ज़ल।⁷⁸

कवि अनिल वशिष्ठ ने झुगियों की व्यथा को इन शब्दों में व्यक्त किया है—

झुगियों में शहर का कचरा पड़ा है
इक कुँआरी ने कोई बच्चा जना है।⁷⁹

कवि अश्वघोष दलित जीवन की तुलना जाल में फँसी मछली से करते हुए कहते हैं—

ज़िंदगी मछली सरीखी मुफ़लिसी के जाल में
छटपटाती मुक्त होने के लिए फिर ताल में।⁸⁰

प्रायः अख़बारों में दलित उत्पीड़न के समाचार सुर्खियों में रहते हैं, परंतु सबूतों के अभाव में गुनहगार अक्सर छूट जाते हैं। इसी भाव को जनाब निश्तर ख़ानकाही यूँ बयान करते हैं—

सिद्ध है अपराध इनका किंतु कागज़ पर नहीं
देखना ये सब अदालत से बरी हो जाएँगे।⁸¹

राजेंद्र तिवारी ने ग़ज़ल लिखने के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए शेर कहा है—

गर मेरी ग़ज़लें न भूखों को निवाला दे सकें
भूख से लड़ने की हिम्मत दें, उजाला दे सकें।⁸²

प्रगति के नाम पर धनाढ्य लोग निर्धनों के कल्याण के लिए कितने ढोंग करते हैं। डॉ० रामसनेहीलाल शर्मा ने अपने शेर में स्पष्ट कर दिया है—

धूप को औँधियार के घर पर सुलाया जाएगा
गाँव में यों भोर का अहसास लाया जाएगा।⁸³

डॉ० हनुमंत नायडु इस बात को अपने शेर में इस प्रकार कहते हैं—

दर्द की स्याही से चेहरों पर लिखा पढ़ लीजिए
घूँट भर पानी की चाहत, पेट भर दोनों की है।⁸⁴

ग़रीबी और शोषण में जीनेवालों ने दुर्भाग्य को ही अपनी नियति मान लिया है। शायर बदनसिंह मस्ताना अपने शेर में कहते हैं—

भुखमरी शोषण अनय के बोझ से दुहरा हुआ
मृत्यु को ही ज़िंदगी कहने लगा है आदमी।⁸⁵

यदि आदमी की ज़िंदगी को बाँटा जाए तो दलित जीवन से बहुत अधिक अंतर नहीं मिलेगा। कवि डॉ० किशोर काबरा इस बात को यूँ बयान करते हैं—

एक रोटी, दो लंगोटी तीन गज्र कच्ची ज़मीं
तीन चीज़ें ज़िंदगी में जोड़ता है आदमी।⁸⁶

आज जात का सवाल हर सवाल से पहले क्यूँ आ जाता है, अपनी बात को स्पष्ट करते हुए डॉ॰ रामगोपाल भारतीय लिखते हैं—

ये सवालात पूछते क्यूँ हो
फिर वही बात पूछते क्यूँ हो
आदमी हूँ क्या ये नहीं काफ़ी
तुम मेरी जात पूछते क्यूँ हो⁸⁷

यदि शोषित जन अपने अधिकारों की माँग करते हैं तो उसे साज़िश करार दिया जाता है। दुष्यंतकुमार कहते हैं—

गूँगे निकल चुके हैं जुबाँ की तलाश में
सरकार के खिलाफ़ ये साज़िश तो देखिए।⁸⁸

आदमी से आदमी के भेदभावपूर्ण व्यवहार पर कटाक्ष करते हुए आज़ाद कानपुरी का कहना है—

वातावरण है क़त्ल का हर ज़िंदगी के साथ
व्यवहार ये है आदमी का आदमी के साथ।⁸⁹

दलितोत्थान के नाम पर जनता को नेताओं ने केवल नारे ही दिए हैं। सूर्यदेव पाठक 'पराग' अपने शेर में कहते हैं—

केवल बातों से ही बातें बनतीं कैसे दुनिया में
मुल्क़ विकास करेगा कब तक रंग-बिरंगे नारों से।⁹⁰

शोषण के संसार में यदि कोई योग्यता पा भी जाता है तो उसे छल से हराने का प्रयास किया जाता है। पराग फिर कहते हैं—

काट ले कोई अँगूठा चाल से एकलव्य का
आज तक जीवन में साथे तक निशाना हो न हो।⁹¹

आज आरक्षण के सवाल पर शोषित वर्ग को कटघरे में खड़ा किया जा रहा है। इस साज़िश का पर्दाफाश करते हुए कवि भारतीय अपने शेर में कहते हैं—

एक आरक्षित के हक़ पर जब हो इतनी उँगलियाँ
याद रखेगा जलालत या कि वह अपना सबक़।⁹²

आज सर्वत्र भेदभाव और नफ़रत के सबक़ बच्चों को पढ़ाए जा रहे हैं। इनसे आगाह करते हुए कवि कृष्ण सुकुमार कहते हैं—

वर्तमान फिर घायल होकर पूछ रहा है
मज़हब की सच्ची परिभाषा चारों ओर।⁹³

अमीर लोग ग़रीबों के खून से अपनी खुशियाँ सजाते हैं। इसे अपने शेर में शायर ब्रजलाल गुंजन इस बात को इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

मुफ़्लिसी के लहू से अमीरी, माँग जब भी निखारा करेगी
ज़िंदगी मौत के वास्ते तब, अपना आँचल पसारा करेगी।⁹⁴

ग़ज़लकार किशनस्वरूप अपने शेर में पेट भरने के लिए राजनीति के नारे लगानेवालों की मजबूरी का वर्णन करते हुए कहते हैं—

दो रोटी के बदले में
लगा रहे हैं नारे लोग।⁹⁵

सर्वहारा वर्ग के संघर्ष का मुद्दा बहुत अधिक होता है। मरतेदम तक वह व्यवस्था से लड़ता रहता है। कवि संपतराव धरणीधर बाबा अपनी पंक्तियों में कहते हैं—

लड़ी उम्र भर अन्यायों से, हार न मानी डटी रही
झुकी कमर, पर मरते दम तक सर न झुकाया अम्मा ने।⁹⁶

आदमी को पेट भर रोटी नहीं और मंदिरों में छप्पन भोग लगाए जाते हैं। कवि डॉ॰ श्यामबहादुर श्रीवास्तव इस पीड़ा को व्यक्त करते हुए कहते हैं—

पेट पिचकाए फिरे बचपन गली में
मंदिरों में भोग-मोहन लग रहे हैं।⁹⁷

क्रांति की कामना करते हुए कवि भारतीय लिखते हैं—

जब किसी मुफ़लिस ने हक़ माँगा शिवाला चल दिए
छीनकर मज़लूम के मुँह से निवाला चल दिए।⁹⁸

सदियों से चलते आ रहे अमानवीय अत्याचार से छुटकारा पाने की कोशिशें तो बहुत की मगर कामयाबी नहीं मिली। वीरेंद्र आस्तीक के शब्दों में—

वे न चौंके, वे न बदले, उनको ना सदमा हुआ
इक सदी तक हमने दी आवाज़ लेकिन क्या हुआ।⁹⁹

कवि राजेंद्र वर्मा पूजा के पाखंड का चित्रण करते हुए अपने शेर में लिखते हैं—

पत्थर के सब देवता, पत्थर के ही लोग
दुखिया को रोटी नहीं, ठाकुर जी को भोग।¹⁰⁰

अपने हकों के लिए लड़नेवालों को होसला देते हुए कवि आनंद परमानंद कहते हैं—

निर्धनों, मज़दूर लोगों, मुफ़लिसों मिलकर लड़ो
सिर पे है जिनके नशा, इक दिन हवा हो जाएगा।¹⁰¹

आज का दलित लेखक अपनी लेखनी में आग लिए फिरता है। हरपाल सिंह अरुष अपनी बात कुछ इस तरह से कहते हैं—

वे लिखें आलेख जमकर आज के युग बोध पर
पर अरुष की लेखनी में शाश्वत तड़पन भरी।¹⁰²

आचार्य भगवत दुबे ने अपनी पंक्तियों में दलित वर्ग की महत्ता को स्वीकारा है—

यह मत भूलो चर्चाओं में हो तुम मेरे ही कारण,
किंतु हमारे बिना तुम्हारा नाम अधूरा है।¹⁰³

इनके अतिरिक्त हिंदी में ग़ज़ल लिखने। कहने वालों की लंबी शृंखला है, परंतु किसी भी लेख या आलेख की सीमा होती है। परंतु इतना सच है कि हिंदी-ग़ज़ल में दलित सवालों को शायरों व कवियों द्वारा जिस शिद्दत से उठाया गया है, वह दलित-लेखन में क्रांति की ओर एक क़दम सिद्ध होगा।

संदर्भ

1. साए में धूप, दुष्यंतकुमार
2. दिया खामोश है, ओमप्रकाश नदीम, पृ० 97
3. हिंदी की सर्वश्रेष्ठ गज़लें 1982, पृ० 34
4. हिंदी की सर्वश्रेष्ठ गज़लें 1982, पृ० 45
5. हिंदी-गज़ल यात्रा भाग-2, 196, पृ० 58
6. हिंदी की सर्वश्रेष्ठ गज़लें 1982, पृ० 63
7. वही, पृ० 70
8. हिंदी की सर्वश्रेष्ठ गज़लें, 1982, पृ० 80
9. हिंदी की सर्वश्रेष्ठ गज़लें, 1982, पृ० 129
10. गज़लें ही गज़लें, सं० डॉ० शेरजंग गर्ग 1982
11. गज़लें ही गज़लें, सं० डॉ० शेरजंग गर्ग 1982, पृ० 79
12. हिंदी की सर्वश्रेष्ठ गज़लें, 1982, पृ० 148
13. वही, पृ० 153
14. वही, 157
15. वही, पृ० 176
16. हिंदी गज़ल यात्रा-1, सं० डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल-1994, पृ० 32
17. वही, पृ० 106
18. वही, पृ० 139
19. हिंदी गज़ल यात्रा-2, सं० गिरिराजशरण अग्रवाल 1996, पृ० 31, 34
20. वही, पृ० 63
21. वही, पृ० 94
22. वही, पृ० 107
23. वही, पृ० 116
24. वही, पृ० 117
25. वही, पृ० 124
26. वही, पृ० 141, 144
27. वही, पृ० 145-146
28. दरिया-दरिया रेत, सरदार आसिफ़ 1999, पृ० 4
29. वही, पृ० 7
30. वही
31. पहली बारिश, नवाज देवबंदी, पृ० 215
32. हिंदी गज़लें, शैलेश 1997, पृ० 101
33. गज़ाला, किशनस्वरूप 2006, पृ० 90
34. सफ़र तंहाइयों का, रामप्रकाश गोयल सोज़ 2003
35. खुशबुओं का सफ़र, सं० अनिल चौधरी 2006, पृ० 35
36. वही, पृ० 45

37. वही, पृ० 67
38. वही, पृ० 84
39. वही, पृ० 86
40. वही, पृ० 88
41. वही, पृ० 119
42. आदमी के हक में, डॉ० रामगोपाल भारतीय 1996, 14
43. वही, पृ० 22
44. गजलें ही गजलें, पृ० 204
45. गजलें ही गजलें, पृ० 208
46. गजलें ही गजलें, पृ० 210
47. गजलें ही गजलें, पृ० 219
48. समंदर थाहने आया नहीं है, जहीर कुरैशी 1992
49. वही
50. गजल और उसका व्याकरण निश्तर खानकाही 1999, पृ० 141
51. और कब तक चुप रहें, कुमार अनिल 2004, पृ० 21
52. गजल और उसका व्याकरण, पृ० 169
53. वही, पृ० 174
54. वही, पृ० 181
55. गुल मुहर की छाँव में, मनोज अबोध 2000, पृ० 49
56. धूप तेज है, शकील जमाली-1999, पृ० 25
57. वही, पृ० 32
58. वही, पृ० 58
59. वही, पृ० 59
60. वही, पृ० 64
61. वही, पृ० 66
62. कैसे कहूँ, डॉ० रामगोपाल भारतीय 2005, पृ० 29
63. वही, पृ० 58
64. वही, पृ० 36
65. गुजरा हूँ जिधर से तेजपाल सिंह तेज
66. वही
67. मसि कागद, सं० श्याम सखा श्याम अंक-31
68. अप्रकाशित
69. वही
70. वही
71. मसि कागद, सं० श्याम सखा श्याम अंक-31
72. शोध दिशा, डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल अक्टू-दिस० 2006
73. वही

74. रू-ब-रू राजेश आनंद असीर
75. शोध-दिशा से, डॉ. गिरिराजशरण अग्रवाल अप्रैल-जून 2006
76. बहारों में बनफूल-गजल संग्रह 2006, पृ० 80
77. अप्रकाशित
78. गजलपुर, सागर मीरजापुरी 1997, पृ० 121
79. वही, पृ० 32
80. वही, पृ० 36
81. वही, पृ० 51
82. वही, पृ० 58
83. वही, पृ० 61
84. वही, पृ० 72
85. वही, पृ० 119
86. वही, पृ० 116
87. अप्रकाशित
88. साये में धूप, दुष्यंतकुमार
89. गजलपुर, सागर मीरजापुरी 1997, पृ० 79
90. आईने के पास, सूर्यदेव पाठक पराग 2001, गजलपुर, सागर मीरजापुरी 1997, पृ० 121
91. वही, गजलपुर, सागर मीरजापुरी 1997, पृ० 121
92. अप्रकाशित
93. पानी की पगडंडी, कृष्ण सुकुमार 1997, पृ० 55
94. यादों का सफर, ब्रजलाल गुंजन 2005, पृ० 94
95. अगला पड़ाव, किशन स्वरूप 2005, पृ० 73
96. नवगजलपुर, सागर मीरजापुरी 2002, पृ० 36
97. वही, पृ० 49
98. कैसे कहूँ, डॉ. रामगोपाल भारतीय 2004, पृ० 117
99. नवगजलपुर, सागर मीरजापुरी 2002, पृ० 60
100. वही, पृ० 100
101. गीतिकायनम्, सागर मीरजापुरी 2005, पृ० 38
102. वही, पृ० 42
103. वही, पृ० 69

□ 6-ए, ब्रजकुंज, रोहटा रोड
मेरठ (उ०प्र०)

रसखान का दर्शन

विनयकुमार पांडेय

शोध-छात्र, हिंदी विभाग, शिब्ली नेशनल कॉलेज, आजमगढ़

डॉ० आलमगीर अली अहमद

शोध निर्देशक, शिब्ली नेशनल कॉलेज, आजमगढ़

रसखान माधुर्य भक्ति के अनुयायी हैं। माधुर्य भक्ति का विकास बल्लभाचार्य के दर्शन से परावर्तित होता है। अतः रसखान के दर्शन को सिद्धांत रूप में समझने के लिए बल्लभाचार्य के दर्शन को समझना आवश्यक है।

रामानुज से लेकर बल्लभाचार्य तक जिसने भक्त दार्शनिक या आचार्य हुए हैं, सबका लक्ष्य शंकराचार्य के मायावाद और विवर्तवाद से पीछा छुड़ाना था, जिसके अनुसार भक्ति अविद्या या भ्रांति ही ठहरती है। शंकर ने केवल निरुपाधि निर्गुण ब्रह्म की ही परमार्थिक सत्ता स्वीकार की। बल्लभ ने ब्रह्म में सब धर्म माने। सारी सृष्टि को उन्होंने लीला के लिए ब्रह्म की आत्मकृति कहा। अपने को अंश रूपों जीवों में बिखराना ब्रह्म की लीला-मात्र है। अक्षर ब्रह्म अपना आविर्भाव और तिरोभाव करता रहता है। जीव में सत् और चित् का आविर्भाव रहता है पर आनंद का तिरोभाव। जड़ में केवल सत् का आविर्भाव रहता है, चित और आनंद दोनों का तिरोभाव। माया कोई वस्तु नहीं।¹

श्रीकृष्ण ही परमब्रह्म है, जो दिव्य गुणों से संपन्न होकर 'पुरुषोत्तम' कहलाते हैं। आनंद का पूर्ण आविर्भाव इसी पुरुषोत्तम में रहता है, अतः यही श्रेष्ठ रूप है। पुरुषोत्तम कृष्ण की सब लीलाएँ नित्य हैं। वे अपने भक्तों के लिए 'व्यापी बैकुंठ' में अनेक प्रकार की क्रीड़ाएँ करते रहते हैं। गोलोक इसी व्यापी बैकुंठ का एक खंड है, जिसमें नित्य रूप में यमुना, वृंदावन, निकुंज इत्यादि सब कुछ हैं। भगवान की इस 'नित्यलीला' सृष्टि में प्रवेश करना ही जीव की सबसे उत्तम गति है।

शंकर ने निर्गुण को ही ब्रह्म का परमार्थिक या असली रूप कहा था और सगुण को व्यवहारिक या मलिक।

बल्लभाचार्य ने बात उलटकर सगुण रूप को ही असली परमार्थिक रूप बताया और निर्गुण को उसका अंशतः तिरोहित रूप कहा। भक्ति की साधना के लिए बल्लभ ने उसके 'श्रद्धा' के अवयव को छोड़कर, जो महत्त्व की भावना में मग्न करता है, केवल 'प्रेम' लिया। प्रेम लक्षणा भक्ति ही उन्होंने ग्रहण की।

प्रेम-साधना में बल्लभ ने लोकमर्यादा और वेदमर्यादा दोनों का त्याग विधेय ठहराया। इस प्रेम-लक्षणा भक्ति की ओर जीव की प्रवृत्ति तभी होती है, जब भगवान का अनुग्रह होता है, जिसे 'पोषण' या पुष्टि कहते हैं। इसी से बल्लभाचार्य जी ने अपने मार्ग का नाम 'पुष्टि

मार्ग' रखा है। पोषणं तदनुग्रहः² बल्लभाचार्य भागवत के इस वाक्य को अपने पुष्टि मार्ग से संपुष्ट करते हैं।

बल्लभ मत में ब्रह्म ही एकमात्र अद्वैत तत्त्व है। ब्रह्म सर्वधर्म विशिष्ट है एवं विरुद्ध धर्माश्रय भी है। ब्रह्म में विरुद्ध धर्मों की स्थिति स्वाभाविक है, मायिक नहीं। ब्रह्म कार्य-कारण दोनों रूपों में शुद्ध है। भगवान् श्रीकृष्ण ही परब्रह्म है। भगवान् की शक्ति और महिमा अनंत है। वे एक भी हैं, अनेक भी हैं और सविशेष सगुण भी हैं। वे परम स्वतंत्र और भक्ताधीन भी हैं। वे सच्चिदानंद हैं। वे अणु से अणु और महान से महान हैं। वे अपने सत, चित्त और आनंद स्वरूप का इच्छारूपी शक्ति के विविध अंशों में आविर्भाव और तिरोभाव करते हुए जड़ जगत, चेतन जीवों और अंतर्यामी नियामकों के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। यह अभिव्यक्ति वास्तविक है, मायाकल्पित नहीं। यह जगत और ब्रह्म होने से सत्य और नित्य है। माया ब्रह्म की वास्तविक अपघटित-घटना पटीयसी शक्ति है, जो उन्हीं में स्थित रहती है। अविद्या इस माया का भ्रांतिजनक पक्ष है। इससे जीवों में ज्ञान का तिरोभाव और अज्ञान का आविर्भाव होता है।³

पुरुषोत्तम परब्रह्म अखंडानंद परिपूर्ण है और उसकी प्राप्ति अनन्य भक्ति से पुष्टिमार्ग द्वारा होती है। सच्चिदानंद भगवान् की जब रमण करने की इच्छा होती है, एक से अनेक रूपों में अभिव्यक्ति की इच्छा होती है, तब वे स्वयं जगत, जीव और अंतर्यामी रूपों में अभिव्यक्त होते हैं। इसमें भगवान् की इच्छा, क्रीड़ा या लीला ही एकमात्र हेतु है। यह अभिव्यक्ति वास्तविक है, मायाकल्पित नहीं है, यह विवर्त नहीं है। यह विकायुक्त परिवर्तन भी नहीं है। बल्लभाचार्य का मत है कि सोने का आभूषण भी सोना ही है। बल्लभ मत में आविर्भाव का अर्थ अनुभव-योग्य होना है, तिरोभाव का अर्थ अनुभव-योग्य न होना है। जिस प्रकार सूर्य से या दीपक से या मणि से प्रकाश की किरणें निकलती हैं अथवा जिस प्रकार अग्नि से स्फुलिंग निकलते हैं, उसी ब्रह्म से जगत और जीव निकलते हैं।⁴

रामानुजाचार्य के समान बल्लभाचार्य ने भी भारत के बहुत से भागों में पर्यटन और विद्वानों से शास्त्रार्थ करके अपने मत का प्रचार किया था। अंत में अपने उपास्य श्रीकृष्ण की जन्मभूमि में जाकर उन्होंने अपनी गद्दी स्थापित की।

वस्तुतः बल्लभाचार्य के पुष्टि मार्ग में भक्ति ईश्वर के अनन्य प्रेम द्वारा उनके प्रति आत्म-समर्पण है। इसमें ईश्वर के अनुग्रह के अतिरिक्त कोई अन्य साधन नहीं है, भक्ति का स्थायी भाव प्रेम है, आचार्य शुक्ल ने हिंदी साहित्य के इतिहास में लिखा है, कृष्णभक्त भागवत में वर्णित कृष्ण की ब्रजलीला को ही लेकर चले।⁵ सूरसागर में हमें माधुर्य भाव का प्रवाह देखने को मिलता है। इसके पहले बल्लभाचार्य ने अपने मत की पुष्टि में भागवत का उदाहरण दिया है। भागवत में कृष्ण के प्रति गोपियों के अनन्य प्रेम का निदर्शन है।

भागवत में प्रेम का स्वरूप एक महत्त्वपूर्ण श्लोक में इस प्रकार दिया गया है— जिस प्रकार भूख से व्याकुल पक्षियों के छोटे बच्चे, जिनके पंख अभी नहीं निकले हैं, अपने घोंसलों में माता की आतुरता से प्रतीक्षा करते हैं, जिस प्रकार छोटे बछड़े भूख से व्याकुल होकर माता के दूध की प्रतीक्षा करते हैं, जिस प्रकार विरहिणी प्रिया अपने बाहर गए हुए प्रियतम के दर्शन के लिए दुख से व्याकुल होकर तड़पती है, उसी प्रकार हे कमलनयन, यह हमारा मन आपके लिए तड़प रहा है।⁶

रसखान जिस भक्ति को मानते हैं, वह प्रेमानुग्य माधुर्य-भक्ति हैं। उनकी इस भक्ति में प्रभु के अनंत के सौंदर्य की प्रशंसा है, समर्पण है। डॉ० नगेंद्र ने रसखान को मीराबाई के साथ रखा है। डॉ० विद्यानिवास मिश्र ने प्रेम-दर्शन का विचार करते हुए लिखा है— रसखान का काव्य-कर्म सायास नहीं। काव्य उनकी प्रेमानुभूति का भावोन्माद-भावावेश का साधन मात्र है। उनकी प्रेमाभिव्यक्ति सहज और निर्मल है। वस्तुतः उनका प्रेम वासना-पंक से बेदाग, निर्बंध, उदात्त और अनिर्वचनीय है, यह चित्त का संस्कार करनेवाला, प्रेमी मन का विसर्जन करनेवाला, स्त्री पुरुष की सहज प्रणयाभिव्यक्तियों का उदात्तीकृत⁷ रूप है। यहाँ उदात्तीकृत का अर्थ है उदात्तीकरण के फलस्वरूप परिष्कार। फ्रायड ने काम-भावना के उदात्तीकरण की बात कही है।⁸ उदात्तीकरण आत्मा के विकास का साधन है। ईश्वर के प्रति आस्था इच्छा-शक्ति को असीम बनाती है। आस्था के लिए प्रेम आवश्यक है, प्रेम को उद्बुद्ध करने में सौंदर्य अप्रतिम प्रेरणा बन जाता है, यदि हम रसखान के सौंदर्य-चित्रण को देखें तो यह बात पूरी तरह स्पष्ट हो जाती है। राधा-कृष्ण की रूपराशि को उन्होंने अत्यंत सफलतापूर्वक रेखांकित किया है। कृष्ण की अन्यान्य मनोहारी छवियाँ 'सुजान रसखान' में अंकित हैं। बाँसुरी की मधुर तान छेड़ते कृष्ण, कटाक्षपात करते कृष्ण, अलवेली वेशभूषा धारण किए कृष्ण, काजल लगाए पैंजनियाँ पहने बालकृष्ण आदि अनेक रूपाकृतियाँ रसखान ने अपने काव्य में समेटी हैं।⁹

रसखान के भक्तिदर्शन में हमें श्रीकृष्ण का सौंदर्य जिन रूपों में दिखाई देता है, उसमें शृंगार रूप प्रमुख है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि शृंगार-चित्रण जो भक्ति भावित है, उससे ध्यान की प्रक्रिया सहज हो जाती है, जो वस्तु हमें प्रिय होती है, वहाँ ऊँची प्रेरणा के अवसर सदैव विद्यमान रहते हैं। भावना की टकराहट से एक ऊर्जा पैदा होती है, यह ऊर्जा इलैक्ट्रानों की भाँति चेतना को उच्चतम स्तरों पर पहुँचा देती है।

इलैक्ट्रान परमाणु की विभिन्न कक्षाओं में चक्कर लगाते रहते हैं, अचानक उन्हें ऊर्जा प्राप्त होती है और वे केंद्र की ओर क्रमागत कक्षाओं में प्रवेश करते जाते हैं।¹⁰

प्रेम भक्ति (माधुर्य-भक्ति) में सौंदर्य से ऊर्जा प्राप्त होती है, यह ऊर्जा अंतःप्रज्ञा तक पहुँचाने में समर्थ होती है। रसखान भगवान कृष्ण के प्रेम में कितने अन्मत्त हैं, इसका अनुमान निम्नलिखित पंक्तियों को पढ़कर लगाया जा सकता है :¹¹

मानुष हो तो वही रसखानि बसौं ब्रज-गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पशु हौं तो कहा बसु मेरो, चरौं नित नंद की धेनु मँझारन।
पाहन हौं तो वही गिरि को, जो धर्यौ कर छत्र पुरंदर धारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं, मिलि कालिदी-कूल-कदंब की डारन।

कवि की रूपाशक्ति, प्रेमाशक्ति और तज्जन्यविरह की चरम परिणति उसके आत्मसमर्पण में होती है। प्रभु अनन्य हैं और कवि उनका अनन्य भक्त उसका सारा जीवन, जन्म-जन्मांतर का जीवन कृष्णमय हो। जड़-जंगम किसी भी रूप या योनि में उसे आराध्य का सहवास, साहचर्य मिले यही उसकी मनोकामना है और यही प्रेम है और यही भक्ति।

रसखान के काव्य में जो विरह है, वह युग-युग से प्रियतम प्रभु से बिछुड़ी प्रीति-दग्ध प्राणया कुल आत्मा रूप विरहिणी की व्यथा-कथा है। यह व्यथा उनके पदों में हृदय के संपूर्ण आवेश से उच्छलित है।

रसखान के प्रेम को किसी निश्चित दर्शन में नहीं बाधा जा सकता। रसखान सच्चे अर्थ में मरजीवा कवि हैं, ऐसी बेखुदी के शिकार हो गए हैं कि वे रसखान भी नहीं रह पाते, वे सबकुछ भूल जाते हैं पर वह भूल नहीं भूलते, जो उनसे एक बार हो गई है। वह भूल यह हुई कि वह श्रीकृष्ण से प्यार कर बैठे। जिस प्रकार वह गोपी प्यार करने की भूल कर बैठी, जो तीर्थ यात्रा की भीड़ में भटक गई थी। धाय की बाँह छूट गई भटकती हुई यशोदा के भीतर की तरफ चली गई और वहाँ एकाएक श्रीकृष्ण की मुस्कान पर उनको प्यार करने की भूलकर बैठी। और सब तो भूल गई, भटकना भूल गई, पर कृष्ण से प्यार करने की भूल नहीं भूलती, न उनके पीछे रात-दिन का भटकाव भूलता है।¹²

रसखान प्रेम को एक शिक्षा के रूप में देखते हैं, जो वियोग के ताप से सुलगती रहती है, जो वियोग के ताप में सुलगती रहती है, खौलते हुए स्नेह में तपती रहती है, थोड़ी-थोड़ी भीतर भभकती भी रहती है। पर जब प्रिय के आने की बात सुनती है तो जैसे कोई बाती उकसा दे, वैसे ही जल उठती है।¹³ रसखान के प्रेम को किसी निश्चित दर्शन में नहीं बाँधा जा सकता। वे अगाध प्रेम के यात्री हैं।

हद चलै सो मानवा बेहद चलै सो साध।
हद बेहद दोनों तजै ताकर मता अगाध।¹⁴

संदर्भ

1. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 103
2. भागवत, 2, 10, 4
3. डॉ० चंद्रधर शर्मा : भारतीय दर्शन : आलोचन अनुशीलन, पृ० 322
4. वही, पृ० 321
5. आचार्य शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० 105
6. भागवत, 6, 11/26
7. सं० डॉ० विद्यानिवास मिश्र : रसखान रचनावली, पृ० 132
8. डॉ० अरुणकुमार सिंह : मनोविज्ञान के संप्रदाय एवं इतिहास, पृ० 291
9. रसखान रचनावली, सं० डॉ० विद्यानिवास मिश्र, पृ० 134
10. डॉ० के०एन० शर्मा, आधुनिक अकार्बनिक रसायन, पृ० 86
11. सुजान रसखान, पृ० 21
12. वही, पृ० 63
13. रसखान रचनावली, सं० डॉ० विद्यानिवास मिश्र, पृ० 137
14. कबीर ग्रंथावली, पृ० 230



जायसी की काव्यभाषा का स्वरूप

दिनेशकुमार त्रिपाठी

शोध-छात्र, हिंदी विभाग, शिब्ली नेशनल कॉलेज, आजमगढ़

डॉ० आलमगीर अली अहमद

शोध निर्देशक, शिब्ली नेशनल कॉलेज, आजमगढ़

काव्यभाषा चिंतन अभिव्यक्ति का माध्यम है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'बुद्धचरित' के अनुवाद की भूमिका में काव्यभाषा शीर्षक में काव्यभाषा पर विचार किया है। उन्होंने जायसी ग्रंथावली की भूमिका में काव्यभाषा पर विचार किया है। उन्होंने काव्यभाषा पर विचार करते हुए लिखा है : काव्य में बिंबस्थापना (इमैजरी) प्रधानवस्तु हैं। बाल्मीकि, कालिदास आदि प्राचीन कवियों में यह पूर्णता को प्राप्त है। अँग्रेजी कवि शैली इसके लिए प्रसिद्ध हैं। भाषा के दो पक्ष होते हैं— 1. सांकेतिक (सिंवालिक), 2. बिंबाध्यायक (प्रेजेंटेटिव) एक में तो नियत संकेत द्वारा अर्थबोध-मात्र हो जाता है, दूसरे में वस्तु का बिंब या चित्र अंतःकरण में उपस्थित होता है। वर्णनों में सच्चे कवि द्वितीय पक्ष का आलंबन लेते हैं। वे वर्णन इस ढंग पर करते हैं कि बिंब ग्रहण हों।¹ डॉ० सियाराम तिवारी काव्यभाषा को ही काव्य स्वीकार करते हैं, वे कहते हैं कि सामान्य भाषा की वह आकृति, वह संरचना जो काव्य बन गई है— काव्यभाषा कहलाती है।²

काव्यभाषा पर महत्त्वपूर्ण चिंतन डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने किया है। उनके अनुसार 'साहित्यिक भाषा मूलतः बोल-चाल की वह भाषा है, जो विभिन्न रचनाकारों की सृजन-प्रक्रिया में समाहित होकर अपने स्वरूप को परिवर्तित कर लेती है।'

आचार्य रामचंद्र शुक्ल की भाँति डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी भी काव्यभाषा की व्याख्या में बिंबन-क्रिया को महत्त्व देते हैं— 'एक अर्थ के दो सूक्ष्म स्तर हैं, जो अपनी टकराहट में अर्थ की गहरी क्षमता विकसित करते हैं। बिंब, रचना-द्वारा परिचालित अर्थ की यह प्रक्रिया आधुनिक काव्यविधान का अभिन्न अंग है और जटिलतर होते अनुभव-अर्थ-संश्लेषण को उसकी समग्रता में पकड़ने तथा व्यक्त करने का अचूक माध्यम है। साहित्य यदि बिखरे और खंडित जीवनानुभवों और यथार्थ की पुनर्रचना है, तो बिंबविधान इस पुनर्रचना-प्रक्रिया का मुख्य अंग है।'³

काव्यभाषा की उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्यभाषा बोलचाल की भाषा का रचनात्मक रूप है। जहाँ तक जायसी की काव्यभाषा का प्रश्न है। वे अवधी बोली को काव्यभाषा का रूप प्रदान करनेवाले सबसे प्रमुख कवि हैं। उनकी काव्यभाषा में अवधी का माधुर्य है और यह माधुर्य ही उनकी काव्यभाषा प्राणतत्त्व है।

जायसी हिंदी के सूफी कवियों के शिरोमणि हैं। वे अवधी भाषा के महाकवि हैं।

उनके पद्मावत में सर्वत्र अवधी भाषा का प्रयोग हुआ है। पद्मावत में तत्कालीन अवधी का रूप सुरक्षित है। इसी कारण डॉ० श्यामसुंदर दास⁴ ने पद्मावत की अवधी को प्रामाणिक अवधी भाषा कहना युक्तिसंगत माना है। डॉ० गिर्यर्सन⁵ का कथन है कि पद्मावत में 16-वीं शताब्दी में बोली जानेवाली अवधी का जीवंत रूप द्रष्टव्य है।

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार :

जायसी की अवधी भाषाशास्त्रियों के लिए स्वर्ग है, जहाँ उनकी रुचि की अपरिमित सामग्री सुरक्षित है। मैथिली के लिए जो स्थान विद्यापति का है, मराठी के लिए जो महत्त्व ज्ञानेश्वरी का है, वही महत्त्व अवधी के लिए जायसी की भाषा का है।⁶

सोलहवीं शती में जब हिंदी का प्रखर सूर्य अपने अपराहन को छूने की तैयारी कर रहा था, पद्मावत की रचना उस उत्थानशील युग में हुई। जैसा कि प्रायः ऐसे काव्यों में होता है, उस काल की भाषा और भाव-समृद्धि की संपूर्ण छाप इस पर लगी हुई है। जायसी अत्यंत संवेदनशील कवि थे। संस्कृत के महाकवि बाण की भाँति वे शब्दों में चित्र लिखने के धनी हैं, चित्र भी ऐसे कि जिनके पीछे अर्थों का अक्षयस्रोत बहता है। अलंकार, रस, भाव आदि की काव्यसमृद्धि का तो यहाँ कोई अंत नहीं मिलता। किंतु कवि की सहज प्रतिभा बाहरी वर्णनों में परिसमाप्त नहीं हो जाती। वह अलंकार-विधान के माध्यम से रस तक पहुँचने में सफल होती है।⁷

जायसी सचमुच शब्दों में चित्र लिखने की कला के अमर कलाकार हैं। अँग्रेजी के कवि ब्राउनिंग और हिंदी के कवि जायसी कल्पनाजनित चित्र की पूरी रेखाओं को मानस में प्रत्यक्ष करते हुए उसका उतना ही अंश शब्द-परिगृहीत करते हैं, जितना उनकी दृष्टि में व्यंजना के लिए न्यूनतम आवश्यक होता है। पद्मावत की भाषा की अद्भुत शक्ति जायसी की पहली विशेषता है। अपभ्रंश-साहित्य की शब्दार्थ परंपरा जिस प्रकार विकसित होकर हिंदी को प्राप्त हुई थी, उसका पूरा स्वरूप जायसी में देखा जा सकता है।

उत्तर भारत की प्रधान साहित्यिक भाषा के रूप में अवधी का विकास 14-वीं शती में हो चुका था। मौलाना दाऊद कृत 'चंदायन' से यह बात स्पष्ट है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश के बहुमुखी उत्तराधिकार को अवधी भाषा ने प्राप्त किया था।

सूफ़ी कवियों की यह विशेषता रही है कि वे प्रायः स्थानीय भाषाओं में ही अपने काव्य की रचना करते रहे हैं। दौलत क़ाज़ी आला ओल आदि ने, जो बंगाल के रहनेवाले थे, बंगला में लिखा। पंजाब के सूफ़ी कवियों ने पंजाबी में 'ससिपूनों', 'हीर-रौंझा' आदि की सर्जना की है।⁸

फ़ारसी के प्रसिद्ध महाकवि अमीर खुसरो की हिंदी-रचनाओं को पर्याप्त प्रसिद्धि मिल चुकी है। जनता में अपना संदेश सुनाने के लिए मुल्ला दाऊद ने अवधी का ही चयन किया। डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने ठीक ही लिखा था कि कोशली भाषा बारहवीं शताब्दी के मध्य में पूर्ण रूप से विकसित हो चुकी थी।⁹ जिसे आजकल हम अवधी भाषा कहते हैं, उसे डॉ० चाटुर्ज्या ने पूर्वी हिंदी की एक बोली कोशली कहा है। यह अवध जनपद और पूर्वी मध्य प्रदेश की भाषा थी। स्पष्ट है कि अवधी के रूप में यह कोशली पूर्वी हिंदी का एक रूप है, इसी में पीछे चलकर पद्मावत, रामचरितमानस आदि लिखे गए हैं।

जायसी ने अपनी प्रेम-पीर की मार्मिक अभिव्यंजना और काव्याभिव्यक्ति के लिए अवध जनपद की ही बोली को चुना है। यह बोली पूरबी अवध के गाँवों में बोलचाल की भाषा है, इस बोली का थोड़ा विकसित रूप आज भी इस प्रदेश में बोला जाता है।

ए०जी० शिरेफ़ ने जायसी की भाषा पर विचार करते हुए लिखा है : 'जायसी की भाषा वह स्थानीय बोली है, जो आज भी वहाँ बोली जाती है।' ¹⁰

ऊपर के विवचन से स्पष्ट है कि जायसी ने अवधी बोली को काव्यभाषा का दर्जा दिलाया।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने जायसी ग्रंथावली की भूमिका में लिखा है कि जायसी ने ठेठ पूरबी अवधी के शब्दों का जितना व्यवहार किया है, उतना अधिक तुलसीदास जी ने नहीं।

इस संदर्भ में कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

1. राँध जो मंत्री बोले सोई।

तेहि डर राँध न बैठों, मकु साँवरि होइ जाऊँ
(राँध= निकट, पास)

इस शब्द का व्यवहार अब केवल यौगिक रूप में रह गया है, जैसे— राँध पड़ोसी।

2. आहक मोरि पुरुषास्थ देखहु (आहक = लालसा)

3. मौजि होइ घर पुरुष बिहूना। (मौजि = ईश्वर न करे)

4. जहिया लंक दही श्रीरामा (जहिया = जब)

5. जस यह समुद दीन्ह दुख मोकाँ। (मोकाँ = मोंकहँ = मुझको)

6. जाना नहिं कि होब अस महुँ। (महुँ = मैं भी)

7. हहरि हहरि अधिकौ हिय काँपे। (अधिकौ = और भी अधिक) ¹¹

जायसी ने अपनी भाषा अधिकांश पूरबी या ठेठ अवधी रखते हुए भी जो बीच-बीच में नए-पुराने, पूरबी-पच्छिमी कई प्रकार के रूपों को स्थान दिया है, इससे भाषा कुछ अव्यवस्थित सी लगती है। पर उन रूपों का विवेचन कर लेने पर यह अव्यवस्था नहीं रह जाती। केशव के अनुयायी भूषण, देव आदि फुटकरिए कवियों की भाषा से इनकी भाषा कहीं स्वच्छ और व्यवस्थित है। चरणों की पूर्ति के लिए अर्थ-संबंध और व्याकरण-संबंध-रहित शब्दों की भरती कहीं नहीं है। शब्दों के व्याकरणविरुद्ध रूप अवश्य कहीं-कहीं मिल जाते हैं, जैसे— दसन देखि कै बीजू लजाना।

लजाना के स्थान पर 'लजानी' चाहिए। पूरबी अवधी में भी 'लजानि' ¹² रूप होगा जिसे छंद के विचार से यदि दीर्घांत करेंगे तो 'लजानी' होगा।

जायसी ने मुहावरों का प्रयोग सटीक किया है।

जोबन नीर धरे का घटा। सत्त के बर जौ नहिं हिय फटा।

यहाँ कवि ने 'हृदय फटना' या 'जी फटना' इस मुहावरे का बड़े कौशल से प्रयोग किया है। कवि ने हृदय को सरोवर माना है, यद्यपि 'सरोवर' पद आ नहीं सका है। पद की न्यूनता से अभिप्राय ज़रा देर से खुलता है। जब जल घटने लगता है, तब ताल की गीली मिट्टी सूखकर फट जाती है। कवि का अभिप्राय है कि जिस प्रकार जल घटने से ताल फट

जाता है, उसी प्रकार यदि यौवन के हास से प्रिय से जी न फटे, प्रीति वैसी ही बनी रहे तो कोई हर्ज नहीं।¹³

लोकोक्तियों का प्रयोग जायसी ने अपने काव्य में व्यवस्थित ढंग से किया है—

- (क) सूधी अँगुरि न निकसै घीऊ
- (ख) दरब रहै भुइँ, दियै लिलारा
- (ग) धरती परा सरण को चाटा

इस प्रकार जायसी की भाषा सोंधी मिट्टी की गंध है। जायसी की भाषा बहुत ही मधुर है, पर उसका माधुर्य निराला है। वह माधुर्य 'भाषा' का माधुर्य है, संस्कृत का माधुर्य नहीं। वह संस्कृत की कोमलकांत पदावली पर अवलंबित नहीं। उसमें अवधी अपनी निज की स्वाभाविक मिठास लिए हुए हैं।¹⁴

पद्मावत के भाष्यकार डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने पद्मावत की भाषा-शक्ति पर विचार करते हुए लिखा है— 'मलिक मुहम्मद जायसी कृत पद्मावत की भाषा ऊपर से देखने पर बोल-चाल की देहाती अवधी कही जाती है, किंतु वस्तुतः वह अत्यंत प्रौढ़, अर्थ-संपत्ति से समर्थ शैली है। अनेक स्थानों पर जायसी ने ऐसी श्लेषात्मक भाषा का प्रयोग किया है, जिसके अर्थ लगातार कई दोहों तक एक से अधिक पक्षों में पूरे उतरते हैं। डॉ० अग्रवाल ने इस प्रकार के पाँच दोहों के उदाहरणों द्वारा इस बात के स्पष्टीकरण का प्रयत्न किया है।¹⁵ इनकी संजीवनी टीका के अध्ययन से भी स्पष्ट हो जाता है कि सचमुच जायसी की भाषा-शक्ति अभूतपूर्व है। ठेठ अवधी के बोल-चाल के शब्दों में श्लेष के द्वारा जो समर्थता और चमत्कार-शक्ति भर दी गई, वह प्रभविष्णु और हृदयस्पर्शी है—

बरसै मेह चुवहिं नैनाहा। छपर-छपर होइ रहि विनुनाहा।'¹⁶

प्रस्तुत पंक्ति में 'नैन' का अर्थ नेत्र के अतिरिक्त छप्पर में धुवाँ निकलने या प्रकाश आनेवाला छेद भी है। जायसी का यह भी आशय है कि टूटे हुए छप्पर में से इन छिद्रों के रास्ते घर के भीतर पानी टपक रहा है।

काह हँसी तुम मों सौँ किएउ और सोंनेह।
तुम मुख चमकै बीजुरी हम मुख बरसै मेह।

नागमती का यह वक्तव्य अत्यंत सहज और सरल भाषा में व्यक्त किया गया है, किंतु यह अपनी मार्मिकता के कारण सीधे हृदय को स्पर्श कर लेता है। इन पंक्तियों में लोक-व्यवहार की अवधी भाषा की व्यंजकता और प्रभविष्णुता दर्शनीय है। ऐसे सैकड़ों उदाहरण पद्मावत में भरे पड़े हैं। पद्मावत की भाषा में जायसी के मनोभावों की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है। उनकी भाषा अपने देश, काल, समाज और वक्तव्य-वस्तु की अभिव्यक्ति में पूर्ण समर्थ है। डॉ० कमल कुलश्रेष्ठ ने उचित कहा है— उनकी भाषा जनसाधारण की परिष्कृत भाषा थी।¹⁷

उपर्युक्त के प्रकाश में यह स्पष्ट हो जाता है कि जायसी की भाषा जीवंत, सहज एवं मर्मस्पर्शी है।

संदर्भ

1. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, जायसी ग्रंथावली, पृ० 87
2. डॉ० सियाराम तिवारी, काव्यभाषा, पृ० 8
3. डॉ० सत्यप्रकाश मिश्र, काव्यभाषा पर तीन निबंध, पृ० 35
4. डॉ० श्यामसुंदर दास और सत्यजीवन वर्मा, संक्षिप्त पद्मावत, पृ० 25
5. सर जार्ज गिर्यर्सन, पद्मावती, भूमिका, पृ० 5
6. डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, पद्मावत प्राक्कथन, पृ० 28
7. वही, पृ० 5-6
8. पंजाबी सूफी पोएट्स, लाजवती रामकृष्ण, पृ० 2
9. उक्ति व्यक्ति प्रकरण (दामोदर पंडित), भूमिका, पृ० 70
10. ए०जी० शिरेफ़, पद्मावती, भूमिका, पृ० 6
11. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, जायसी ग्रंथावली, पृ० 142
12. वही, पृ० 149
13. वही, पृ० 149
14. वही, पृ० 152
15. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, हीरक जयंती अंक, सं० 2010, वर्ष 58, अंक 3
16. डॉ० शिवसहाय पाठक, मलिक मुहम्मद जायसी और उनका काव्य, पृ० 371
17. डॉ० कमल कुलश्रेष्ठ, हिंदी प्रेमाख्यान काव्य, पृ० 368



अमृतराय के कहानी-पात्रों का मनोवैज्ञानिक पक्ष

डॉ० गीता रानी

फ्रायड एवं युंग जैसे मनोविश्लेषकों ने मानव-मन के भिन्न-भिन्न व्यापारों को उद्घाटित किया। काम-वृत्ति, पर-लिंग आकर्षण, दमित यौनवृत्ति, विकृत यौनप्रवृत्ति तथा स्वप्न-सिद्धांत आदि पर प्रकाश डाला है। हिंदी कथा-साहित्य में फ्रायड तथा युंग आदि मनोवैज्ञानिकों के इन विचारों का यथेष्ट प्रभाव पड़ा है। अमृतराय की कहानियों में भी मनोविश्लेषण का यह स्वरूप अभिव्यक्त हुआ है। नारी-मन के चित्रण में अमृतराय ने बिल्कुल नए रंग प्रस्तुत किए हैं। आपके कथा-साहित्य में जातिगत विद्वेष, गुटबंदी, पूँजीवादी व्यवस्था के प्रति आक्रोश तथा नारी-संस्कार आदि का सूक्ष्म चित्रण हुआ है। बाल-मनोविज्ञान के चित्रण में भी अमृतराय सफल रहे हैं, किंतु इस दृष्टि से प्रायः उनकी उपेक्षा हुई है। उनकी कहानियों के पात्रों को इस आधार पर विश्लेषण किया जाना शोध-पत्र की उपादेयता स्वतःसिद्ध करता है।

अमृतराय ने अपने पिता कथा-सम्राट् प्रेमचंद की भाँति सैकड़ों कहानियाँ लिखीं। आपकी चुनी हुई पचास कहानियाँ 'सरगम' में संगृहीत हैं। अपनी छोटी एवं नुकीली कहानियों में अमृतराय ने अनेक प्रकार के मुखौटे प्रस्तुत किए हैं। कुछ पात्र ऐसे भी हैं, जिनका कोई नाम नहीं, परंतु वे बेनाम चेहरे कुछ ऐसा कह जाते हैं, जो पाठक की पसलियों में चाकू-सी चुभन पैदा करते हैं। नफरत कहानी की 'लाश' एक ऐसा की अनाम पात्र है।

अमृतराय की कहानियों में एक वर्ग स्थायी धनलोलुप शोषकों का है। समाज में पग-पग पर होनेवाले अनाचार की वस्तुस्थिति को प्रस्तुत करके इसके विरुद्ध विद्रोही चेतना जाग्रत करने का प्रयास किया गया है। 'इतिहास' नामक कहानी के कुँवर उदयवीरनारायण सिंह ऐसे ही पात्र हैं। सुमेर ने जब उनसे अपने श्रम के रूपए माँगे तो कुँवर साहब बोले— 'मैं इससे ज्यादा एक पाई भी न दे सकूँगा।' ¹ 'पैसे न मिलने से सुमेर का अस्वस्थ बेटा अकाल मृत्यु का ग्रास बन जाता है। सुमेर के हृदय की विवशता को प्रस्तुत करने के लिए अमृतराय का शब्द-चयन द्रष्टव्य है— 'सुमेर की आँखों में आँसू आए, मगर नहीं आए— वैसे ही जैसे जलते हुए तवे पर पानी की बूँदें गिरती हैं, मगर नहीं गिरती।' ²

इसी प्रकार रिटायर्ड नायब तहसीलदार ठाकुर दिग्विजय सिंह गरीब लोगों का राशन स्वयं हड़प कर जाते हैं। ³ सेठ रामप्रसाद भी 'गोबर गणेश' नामक कहानी में ऐसे पात्र हैं, जो 'ब्लैक मार्केट' करते हैं और इसे बुरा भी नहीं समझते— 'सेठ जी को तेज़ गुस्सा आ गया था। ओठ फड़कने लगे थे और आवाज़ चढ़ गई थी। उसी तैश की हालत में बोले, आपसे नहीं होगा, नहीं होगा, मैं जानता हूँ, आपसे नहीं होगा। आप बड़े अच्छे आदमी हैं, सच्चे आदमी हैं, ईमानदार आदमी हैं, धर्मात्मा आदमी हैं और मैं आपकी कद्र करता हूँ मगर मुझे धर्मात्मा लोगों की जरूरत नहीं है। ...मुझे चलते-पुरजे आदमी चाहिए, तेज़ आदमी जो बिजनेस का गुर समझते हों, उस्तरे

की तरह तेज़, मिर्च की तरह तेज़, जिसकी ज़बान कतरनी की तरह चलती हो और जिसके हाथों में वही बारीकी, वही सफ़ाई हो, जो एक अच्छे गिरहकट में होती हैं। हाँ, हाँ गिरहकट। मुझे वैसा ही आदमी चाहिए। आप तो बिल्कुल गोबर गणेश हैं। गोबर गणेश पूजा के लिए ठीक होता है, मैं भी अलग एक कोठरी में उसकी पूजा कर लेता हूँ, मगर बिजनेस के लिए वह ठीक नहीं होता। आप जा सकते हैं। अगले महीने से आपकी छुट्टी।'⁴

इतिहास कहानी-संग्रह की 'प्याज के छिलके' कहानी में मिसरी, लालटनटनियाँ, रामकिशोर गुप्त, रामरत्न जेठिया आदि ऐसे ही पात्र हैं, जिनका अहम् असद्वृत्ति का पोषक है। अमृतराय की कहानी-कला की यह विशेषता है कि वह पाठकों पर अभीष्ट प्रभाव डालने के लिए शोषण और अन्याय के भी दृश्य प्रस्तुत करते हैं। हमारी संवेदनाएँ उद्वेलित करते हैं। पाठक उन कारणों के संबंध में विचार करने के लिए विवश हो जाते हैं, जो शोषण के लिए उत्तरदायी हैं। इस भाँति अमृतराय की कहानियों का विन्यास मनोवैज्ञानिक हो जाता है।

अमृतराय की कहानियों के नारी-पात्र प्रेम, संतति-पालन एवं काम आदि वृत्तियों के उद्घाटक हैं। इन व्यक्तियों के सम्मुख अहंभाव क्षीण पड़ जाता है। अमृतराय ने दुखी, बेबस एवं पिसती-सिसकती नारी को प्रस्तुत किया है। 'लोग' कहानी की पार्वती ऐसे पात्रों में से एक है। 'सती का शाप' की रमा बीमार पति के साथ विवाह के लिए भी किसी को दोषी नहीं मानती। 'रमा' के माध्यम से अमृतराय हिंदू-समाज में नारी की स्थिति को उजागर करते हैं। 'रमा का विवाह 14 वर्ष की आयु में होता है और 16 वर्ष की आयु में वह विधवा हो जाती है। इसी बीच वह माँ भी बन जाती है— 'जो काम करना है उसमें देर करने से फ़ायदा? अब उसे राँड की ज़िंदगी बिताने के लिए बहुत फुर्सत थी।'⁵

'प्राकृत' कहानी की 'सुनंदा' नारी के काम-वृत्ति-प्रधान चरित्र के रूप में पाठक के समक्ष आती है। अमृत जी देह की स्वाभाविक माँग को जायज मानते हैं— 'सुनंदा की माँ का सिंदूर पुँछे आठ बरस से ऊपर हो चुके हैं। तीन हजार मरघट जैसी सूनी रातें सड़क काटनेवाले इंजन की तरह उस पर से गुजर चुकी हैं। उसे पता है जिस स्पर्श से देह कल मुँह खोल देती थी, उस स्पर्श के लिए अब सदा वह यों ही तरसती रहेगी, लेकिन उसके बाद भी किसी के सीने से लग जाने की, किसी को अपनी छाती से लगा लेने की, किसी की गोद में दुबक जाने की, किसी को अपनी गोद में दुबका लेने की यह भूख शायद कभी शमित नहीं होगी।'⁶

अमृतराय मानव-मनोविान के इस तथ्य को भी उद्घाटित करने से नहीं चूकते कि तन और मन की प्राकृतिक भूख धर्म और सामाजिक बंधनों से अधिक प्रबल है। नारी-मन के अंतर्द्वंद्व का प्रबल चित्रण आपकी कहानियों की विशेषता है।

अमृतराय के कहानी-साहित्य में वेश्याएँ भी हैं, किंतु आपने इन चरित्रहीन अनैतिक पात्रों के लिए भी पाठक की ममता जुटाने का प्रयास किया है। अमृतराय का मत है कि आर्थिक विषमता वेश्यावृत्ति का प्रमुख कारण है। 'भोर से पहले' की 'पुतुल' ऐसी ही पात्रा हैं। परंतु 'पुतुल' का मन इस शरीर-व्यापार को स्वीकार नहीं कर पाता। उसके अंतर्मन में कहीं एक और नारी-चरित्र भी है, जो पवित्रता में विश्वास करता है और अपनी बहिन 'छासी' को इस नरक से

दूर रखना चाहता है। अमृतराय का मत है कि परिस्थितियाँ, मात्र व्यक्ति के व्यवहार में ही परिवर्तन नहीं लाती, अपितु उसके समूल जीवन-दर्शन को भी बदल डालती हैं। अमृतराय के नारी-पात्रों में कामवृत्ति निर्बल नहीं है। वे भी सहृदय हैं और पाठकों को किसी-न-किसी सामाजिक शोषण से परिचित करा जाते हैं। आप मन और तन के रिश्ते को अलग-अलग मानते हैं। 'समय' कहानी की पात्रा गीता का कथन इस तथ्य की पुष्टि करता है— 'अच्छा हुआ कि तुमने बाल-बच्चे के बारे में कुछ नहीं पूछा। 'मेरे को बच्चा नहीं है।' सब समझते हैं कि मैं बाँझ हूँ पर मैंने तो उसी दिन तय कर लिया था, माँ कहती थी, बच्चा शरीर से नहीं, मन से पैदा होता है।'⁷

अमृतराय के नारी-पात्रों के विषय में यह कह देना भी आवश्यक है कि वे समाज में प्रचलित विवाह-परंपरा को स्वीकार नहीं करते। आप इसे मात्र सामाजिक बंधन मानते हैं। 'मंगलाचरण'⁸ कहानी इसका प्रमाण है। अमृतराय नारियों द्वारा घूँघट निकलवाने, नारियों से चरणस्पर्श कराने जैसे रुढ़ रीति-रिवाजों के विरोधी हैं। संयुक्त परिवार की अवधारणा में भी आपका बहुत विश्वास नहीं है।

अतः अमृतराय रूढ़ि, अंधविश्वास एवं परंपरा के विरोधी हैं। वे नारी की शारीरिक भूख को उचित मानते हैं। वे इस नैतिक बंधन के लिए कहीं-न-कहीं समाज को दोषी ठहराते हैं। इसलिए कहा जा सकता है कि अमृतराय के कहानी-पात्र पाठक को चुभते नहीं, अपितु अपने लगते हैं। ये पात्र पाठक को मन के भीतर से छूने की क्षमता रखते हैं। ये पात्र परिस्थितियों के सम-विषम चक्रों में उलझने-गिरते, उठते-चढ़ते मानव-जीवन की मर्मस्पर्शी जीवन-यात्रा के यात्री हैं। अमृतराय ने अपने पात्रों को किसी देवलोक की स्वर्गमयी दुनिया से नहीं चुना है और न कल्पना की हवाओं से गढ़ा है, अपितु अधिकांश पात्रों को मध्यवर्गीय जीवन के यथार्थ से सृजित किया है। पुरुष-पात्रों में अहम्, काम, चिंता, भय, घृणा, ग्लानि और अंतर्द्वंद्व विशेष रूप से प्रस्तुत किया गया है। मार्क्सवादी विचारधारा के पूर्ण समर्थक अमृतराय ने व्यक्ति और व्यक्ति-मन के गहरे में बैठकर जो मनःस्थितियाँ पात्रों के माध्यम से पाठक के समक्ष प्रस्तुत की हैं, निस्संदेह वे प्रशंसनीय हैं। नारी को वे पुरातन रूढ़ियों से मुक्त कर खुली हवा में जीने का अवसर प्रदान करते हैं। उनके पात्र प्रेम को अपनी परिभाषा के रूप में प्रस्तुत करते हैं और सैक्स को पाप नहीं समझते हैं।

इस भाँति अमृत जी के पात्र समाज के जीते-जागते युवा-युवतियाँ, बालक-बालिकाएँ और प्रौढ़ हैं। काल्पनिक पात्र वे प्रायः निर्मित नहीं करते। समाज में दिखे, भोगे, किसी स्त्री-पुरुष को वे पहले अपने मनोभावों के साथ साधारणीकृत करते हैं और फिर उन्हें पाठक के सामने प्रस्तुत कर देते हैं। यही कारण है कि उनकी कहानियों के पात्रों के भाव और कर्म पाठक को अजनबी प्रतीत नहीं होते।

विश्वप्रसिद्ध एवं महान कथाकार प्रेमचंद की शक्ति एवं लोकप्रियता ने अमृतराय के साहित्यिक योगदान की महत्ता पर लंबी अवधि तक आवरण डाले रखा, जिससे हिंदी-कथा के विकास एवं समृद्धि में उनकी स्वतंत्र सत्ता को स्थापित होने में बहुत समय लगा। यद्यपि प्रेमचंद की चिंतन और सृजन की ऐतिहासिक सीमाएँ भी रही हैं। अमृतराय इन सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए अपनी रचनाधर्मिता में अग्रसर हुए। अमृतराय को उनके अवदान एवं अभिनवता के कारण उचित स्थान मिलना ही चाहिए।

संदर्भ

1. इतिहास (सरगम के बहाने), अमृतराय, पृ० 29
2. वही, पृ० 31
3. इतिहास (चावल, मीठ और खुशबूदार), अमृतराय, पृ० 23-25
4. कठघरे (गोबर गणेश), अमृतराय, पृ० 57-58
5. सरगम, अमृतराय, पृ० 48
6. सरगम (प्राकृत), अमृतराय, पृ० 36
7. सरगम (समय), अमृतराय, पृ० 313
8. चित्र फलक (मंगलाचरण), अमृतराय, पृ० 110-118

□ प्रवक्ता हिंदी विभाग,
जनता वैदिक कॉलेज, बड़ौत (बागपत)

लोकमंगल की भावना : निराला-काव्य के प्रसंग में

अजिताभनारायण मिश्र

शोध-छात्र हिंदी विभाग,

वीरबहादुर सिंह, पूर्वांचल विश्वविद्यालय जौनपुर (उ०प्र०)

निराला सच्चे मानवतावादी 'सर्वे भवंतु सुखिनः सर्वे संतु निरामयः' के पक्षधर थे। उनका मानस स्नेह, करुणा, उदारता, परदुःखकातरता की लहरों में तरंगायित होता रहता है। उनका यथार्थवाद मानवता की कोख से उपजा है। निराला जी के सामाजिक चित्रण पर जब हम विहंगम दृष्टि डालते हैं, तो हमें बिखरा, टूटा समाज, समाज में निरीह दलितों पर सामंतों के अत्याचार और वेदना से रुदन का स्वर ही मिलता है। इसीलिए कवि निराला ने समकालीन समस्याओं के निराकरण में कारणों की खोज की है। उन्हें हम वेदांती चेतना का कवि कह सकते हैं, इसीलिए उनकी कविता में मानव-मानव में भेद दिखाई नहीं देता।

निराला आत्मसंघर्ष भूलकर संसार के लोगों के बारे में चिंतन करते हैं। वनकुसुमों की शैय्या में निराला जी की यही व्यथा-कथा व्यक्त हुई है—

त्रस्त विश्व की आँखों से बह-बहकर
धूलि-धूसरित उसके चिंता लोल-कपोल
श्वासों और उच्छ्वासों की, आवेग-भरी हिचकी
दलित हृदय की रुद्ध अर्गला खोल।¹

वे समाज को देखते हैं, तो उन्हें समाज में शोषक और शोषित ही नज़र आते हैं, केवल बाह्याडंबर, त्रासदी, पीड़ा के अलावा और कुछ नहीं। मंदिर के एक पुजारी का चित्र देखते ही बनता है—

ठके हृदय में स्वार्थ लगाए ऊपर चंदन,
करते समय नदीश-नंदिनी का अभिनंदन
तुम्हें चढ़ाया कभी किसी ने था देवी पर
दिन-भर में मुरझाए।²

निराला की क्रांति जनक्रांति थी, उनके मौलिक चिंतन में समाज की पीड़ा है, पीड़ित लोग हैं, एक चित्र देखें—

जीर्ण बाहु है, शीर्ण शरीर,
तुझे बुलाता कृषक अधीर
ऐ! विप्लव के वीर चूस लिया है उसका सार,
हाड़-मांस ही है आधार, ऐ जीवन के पारावार।³

अतः दीनों-दलितों पर होनेवाले अत्याचार निराला के लिए असह्य हैं, क्योंकि वे

समस्त संसार के शुभेच्छु हैं। वे प्रार्थना करते हैं—

दीन जन पर करो करुणा

दीनता पर उतर आए, प्रभु तुम्हारी शक्ति अरुणा।

हरे तन-मन भीति पावन मधुर हो सुख मनोभावन।

सहज चितवन पर तरंगित हो तुम्हारी किरण तरुणा।⁴

कवि विह्वल है। वह समस्त संसार को पावन कर देना चाहता है। कवि की लोककल्याण की भावना इतनी विशद् है कि वह प्रकृति में भी मानवीय क्रियाओं की संकल्पना करता है। इसीलिए 'वासंती' कविता में निराला जी वासंती से सुख और मंगल-कामनाओं का संवर्षण चाहते हैं—

प्रिय नील-गगन-सागर-तिर

चिर काट तिमिर के बंधन

उतरी जग में, उतरो फिर

भर दो पग-पग नव स्पंदन।⁵

यही नहीं, कवि संसार के पर्वों और उत्सवों का अवलोकन करके उन पर्वों की खुशियों में दलितों के लिए अट्टहास पाता है। उसकी कामना है कि शांति का वातावरण बने, खुशियों की बहार छाए और फागुनी बयार फागुन का राग-विराग लिए रंगों की वर्षा करे, तभी सारा वातावरण आनंदमय होगा। वे लिखते हैं—

फागुन का फाग मचे,

फिर गावें अलि-गुंजन होली।

हँसती नवहास रहें घिर,

बालाएँ डालें रोरी।

कहीं भी निराशा का राज्य न हो। सभी जगह आनंद ही आनंद हो। सभी यहाँ श्रम की गंगा को बहाएँ। आशा के राग-नूपुर छनक जाएँ। तभी तो निराला जी कहते हैं—

भर रेणु-रेणु में नभ की

फैला दो जग की आशा

खुल जाय खिली कलियों में

नव-नव जीवन की आशा।⁶

कवि ने भावना के साथ-साथ चिंतन का भी विस्तार किया है। उसकी दृष्टि में कामना के आकाश में स्वर्ग का कोई महत्त्व नहीं, वह उसे धरती पर उतारकर उसके मधुर गान को आकाश में पुनर्स्थापित करना चाहता है। उसकी इस चेतना में अतीत की संकल्पना है—

बढ़े वह परिचय विंधा जो

क्षुद्र भावों से हमारा

क्षिति-सलिल से उठ

अखिल बन देख लें, हम गगन सारा—

दूर हो तम-भेद यह जो

वेद बनकर वर्ण-शंकर

पार प्राणों के करें उठ
गगन को भी अवनिके स्वर।⁷

निराला जी की 'अधिवास' कविता में उनकी अनुरक्ति-विरक्ति का अंतर्द्वंद्व है, जो कभी स्वामी विवेकानंद जी के जीवन में आया था। वे भी पीड़ित मानवता के लिए उठे थे। निराला का मन भी मानवतावादी है, इसीलिए उनका मन पीड़ित मानवता को गले लगाने के लिए छटपटा रहा है। अपने दुखी भाई को गले लगाने की तीव्र उत्कंठा है—

मैंने 'मैं' शैली अपनाई, देखा दुखी एक निज भाई
दुख की छाया पड़ी हृदय में मेरे, झट उमड़ वेदना आई
उसके निकट गया मैं धाय, लगाया उसे गले से हाथ
फँसा माया में हूँ निरुपाय, कहो फिर कैसे गति रुक जाए।⁸

निराला जी आत्मसंघर्ष को भूलकर सामाजिक व्यवस्था पर कुछ ज़्यादा चिंतित दिखाई पड़ते हैं। वे स्वयं उसके साथ तादात्म्य करते हुए दिखाई पड़ते हैं—

पड़े हुए सहते हो अत्याचार
पद-पद पर सदियों के पद-प्रहार
बदले में, पद में कोमलता लाते
किंतु हाथ, वे तुम्हें नीच ही हैं कह जाते।⁹

केवल काव्य में ही नहीं, अपने उपन्यासों और कहानियों में भी निराला जी क्षुब्ध दिखाई देते हैं। उन्होंने 'चतुरी चमार', 'कुल्ली-भाट', 'काले कारनामे', 'अलका', 'अप्सरा' उपन्यासों तथा 'चमेली', 'ज्योतिर्मयी', 'पद्मा', 'क्या देखा?' में किसानों की दुर्दशा, मजदूरों की पीड़ा, वेश्याओं का दर्द ही नहीं देखा, बल्कि 'जानकी' कहानी में साम्यवाद की कल्पना भी की।

इस प्रकार निराला जी की लोकमंगल की भावना उन्हें तुलसी के समकक्ष पहुँचाती है। तुलसी ने समाज को आत्मसात करने के लिए उससे तादात्म्य स्थापित करने के लिए सबको समान मानने का मूलमंत्र दिया। निराला जी भी साम्यवाद की कल्पना करते हैं, तभी उन्हें समाज में दो वर्ग दिखाई देते हैं— निर्बल वर्ग और सबल वर्ग। दलित वर्ग शोषण का शिकार है, सामंतों के अन्याय असीमित हैं। वे दलितों को सताते हैं। निराला दोनों की खाई पाटकर परस्पर सौहार्द स्थापित करना चाहते हैं। उनकी लोकमंगल की भावना इतनी विशाल और विराट है कि उन्होंने उदार साम्यवाद के साथ गांधीवाद की मूलचेतना को भी अपने में समेट लिया है। उनकी लोकमंगलमयी कामना है—

खुली हवा में, जीवन बहे सदा निर्वेदन
भरे सुमन फल-वन-वन
देश और हो सुंदर बेला।¹⁰

संदर्भ

1. निराला, परिमल, पृ० 145
2. निराला, परिमल (बादल-राग-6), पृ० 168
3. निराला, अणिमा, पृ० 6

4. निराला, परिमल, पृ० 71
5. वही, पृ० 72
6. वही, पृ० 71
7. वही, पृ० 94
8. वही, पृ० 118
9. वही, पृ० 158
10. निराला, बेला, पृ० 88

□ ग्राम मिसिरपुर पोस्ट महरूपुर (जफराबाद)
जनपद जौनपुर (उ०प्र)

दूरवर्ती शिक्षा के माध्यम से अध्यापक शिक्षा, मुद्दे एवं चुनौतियाँ डॉ० शिल्पी शर्मा

सा विद्या या विमुक्तये।

मानव-जीवन के विभिन्न लक्ष्यों को प्राप्त करने में शिक्षा एक महत्वपूर्ण साधन है। शिक्षा के अभाव में मनुष्य किसी भी योग्यता एवं उपलब्धि को प्राप्त करने में असफल होता है। शिक्षाशास्त्री जॉन डी०वी० ने भी शिक्षा के द्वारा सामाजिक विकास को महत्वपूर्ण माना है। शिक्षा-प्रक्रिया में शिक्षकों का स्थान अति महत्वपूर्ण है। विद्यालयों की उन्नति तथा समाज में शिक्षा की प्रतिष्ठा तभी स्थापित रह सकती है, जब शिक्षक अपनी जिम्मेदारी को निष्ठा एवं लगन के साथ अपना दायित्व समझते हुए करें। बुद्ध ईसा, गांधी, सुकरात, मुहम्मद, कनफ्यूशियस सभी सच्चे अर्थों में मानव-जाति के शिक्षक थे। डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन के अनुसार, 'समाज में अध्यापक का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। वह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को बौद्धिक परंपराओं व तकनीकी कौशलों के हस्तांतरण के साधन के रूप में तथा सभ्यता की ज्योति को प्रज्वलित रखने में सहायता प्रदान करता है।' कोठारी आयोग (1964-66) ने अपने प्रतिवेदन 'शिक्षा तथा राष्ट्रीय विकास' में स्पष्ट किया है कि शिक्षा के स्तर तथा राष्ट्रीय विकास में शिक्षा के योगदान को जितनी भी बातें प्रभावित करती हैं, उनमें अध्यापक के गुण, क्षमता व चरित्र सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

अध्यापक शिक्षा का अर्थ :

अध्यापक-शिक्षा से अभिप्राय उन सभी औपचारिक तथा अनौपचारिक क्रियाओं तथा अनुभवों का ज्ञान प्रदान करने से है, जो किसी व्यक्ति को अध्यापक के उत्तरदायित्वों के प्रभावशाली ढंग से निर्वाह करने में समर्थ बनाते हैं। अध्यापक शिक्षा से अभिप्राय भावी व वर्तमान अध्यापकों के सर्वांगीण विकास से है। अभिप्राय है कि अध्यापक शिक्षा का कार्यक्रम भावी अध्यापकों तथा सेवारत अध्यापकों का व्यक्तिगत, सामाजिक, नैतिक, व्यावसायिक तथा सांस्कृतिक विकास करके उन्हें अध्यापक के विभिन्न उत्तरदायित्वों को सफलतापूर्वक व प्रभावशाली ढंग से पूरा करने के योग्य बनाता है। विश्वविद्यालय के द्वारा प्रदान की जाने वाली प्रथम शिक्षा-उपाधि का नाम शिक्षा स्नातक (बी०एड०) है तथा अध्यापक-शिक्षा प्रदान करनेवाली संस्थाओं को शिक्षा महाविद्यालय अथवा अध्यापक शिक्षा महाविद्यालय कहते हैं।

स्वतंत्रता के उपरांत भारतवर्ष में अध्यापक-प्रशिक्षण के क्षेत्र में काफी विकास हुआ है। अध्यापक-शिक्षा के संख्यात्मक विकास से संबंधित कुछ आँकड़े प्रस्तुत हैं—

शैक्षिक सत्र	1950-51	1960-61	1970-71	1980-81	1990-91
प्रशिक्षण विद्यालयों की संख्या	800	1150	1300	1600	1800
प्रशिक्षण महाविद्यालयों की संख्या	50	150	300	350	400
प्राथमिक स्तर पर प्रशिक्षित अध्यापकों का प्रतिशत	60%	70%	80%	90%	90%
माध्यमिक स्तर पर प्रशिक्षित अध्यापकों का प्रतिशत	50%	60%	80%	85%	90%

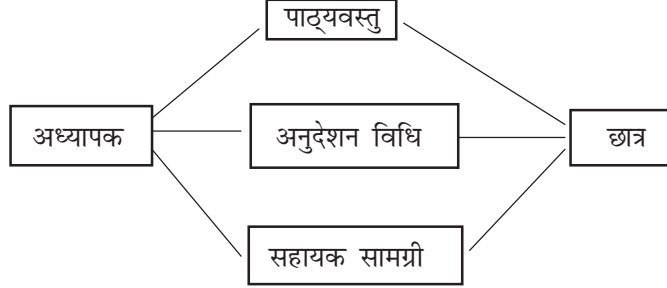
सुदूर शिक्षा का अर्थ :

सुदूर शिक्षा से अभिप्राय दूर बैठकर शिक्षा देने अथवा दूरी बनाकर शिक्षा प्रदान करने से है। सुदूर शिक्षा शब्द का प्रयोग सन् 1982 से प्राप्त हुआ। जब चार दशक पुरानी International Council for Correspondence Education (ICCE) ने अपना नाम International Council for Distance Education (ICDE) कर दिया। सुदूर शिक्षा-कार्यक्रमों में प्रौद्योगिकी के विकसित उपकरणों का प्रयोग शिक्षा देने में किया जाता है। दृश्य-श्रव्य साधन, दूरदर्शन, आकाशवाणी, कंप्यूटर आदि शिक्षक, पाठ्यक्रम तथा छात्र को जोड़ते हैं। इसके अतिरिक्त पत्राचार के माध्यम से छात्रों को विभिन्न विषयों के विशेषज्ञों द्वारा लिखित पाठ डाक द्वारा भेजे जाते हैं। वर्तमान में पत्राचार शिक्षा और खुली शिक्षा दोनों ही दूर शिक्षा के अंतर्गत आते हैं। इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय (IGNOU) के एक बुलेटिन में खुली शिक्षा को निम्नलिखित रूप में परिभाषित किया गया—

दूर शिक्षा वह शिक्षा है, जिसमें शिक्षक अथवा शैक्षिक संस्थान तथा शिक्षार्थी के मध्य मुख्य रूप से दूर का संबंध होता है, चाहे वह शिक्षा किसी भी विषय की हो तथा उसमें किसी भी संप्रेषण माध्यम का प्रयोग किया गया हो।

दूरवर्ती शिक्षा के निम्नलिखित मुख्य उद्देश्य हैं :

1. ज्ञान व अधिगम को विभिन्न उपायों से बढ़ाना और भिन्न-भिन्न स्थानों तक पहुँचाना।
2. शिक्षा के क्षेत्र में विषमताओं को दूर करने के लिए अर्थात् सभी को शिक्षा का समान अवसर देना।
3. शिक्षा की कोटि में सुधार लाना तथा शिक्षा प्रदान करने के कार्य में आधुनिक तकनीकी विकास तथा संचार व संप्रेषण के माध्यमों का उपयोग करना।



अध्यापक तथा छात्र के बीच अंतर्क्रिया :

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 स्पष्ट रूप से मुक्त विश्वविद्यालय और दूरवर्ती अधिगम तथा संचार माध्यमों की भूमिका के महत्त्व को मान्यता प्रदान करती है। मुक्त विश्वविद्यालय के बारे में राष्ट्रीय शिक्षा नीति के दस्तावेज़ में स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि—

The Open University System has been initiated in order to augment opportunities for higher education and as an instrument of democratising education. The Indira Gandhi National Open University, established in 1985 in fulfillment of these objective will be strengthened. This powerful instrument will have to be developed with care and extend with education.

IGNOU का एक प्रमुख उद्देश्य संपूर्ण देश में दूरवर्ती शिक्षा के स्तर का निर्धारण करना तथा उनमें समन्वय स्थापित करना है। इस दृष्टि से IGNOU द्वारा किए गए कार्यों के समुचित निष्पादन एवं उद्देश्यों की पूर्ति के बारे में सत्त मूल्यांकन एवं समीक्षा हेतु 1992 ई० में दूरवर्ती शिक्षा परिषद (DEC) की स्थापना की गई। वर्तमान में हमारे देश में कई राज्यों में मुक्त विश्वविद्यालय हैं।

जैसे—

1. डॉ० बी०आर० अंबेडकर मुक्त विश्वविद्यालय, हैदराबाद (आंध्रप्रदेश) 1982
2. इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली (भारत) 1985
3. कोटा मुक्त विश्वविद्यालय, कोटा (राजस्थान) 1987
4. नालंदा मुक्त विश्वविद्यालय, पटना (बिहार) 1987
5. यशवंतराव चंहाण महाराष्ट्र मुक्त विश्वविद्यालय, नासिक (महाराष्ट्र) 1989
6. मध्यप्रदेश शोध (मुक्त) विश्वविद्यालय, भोपाल (मध्य प्रदेश) 1991
7. डॉ० बाबा साहब अंबेडकर मुक्त विश्वविद्यालय, अहमदाबाद (गुजरात) 1994
8. कर्नाटक राज्य मुक्त विश्वविद्यालय, मैसूर (कर्नाटक) 1996
9. नेता जी सुभाषचंद्र मुक्त विश्वविद्यालय, कलकत्ता (पश्चिमी बंगाल) 1997
10. उ०प्र० राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद (उ०प्र०) 1999
11. तमिलनाडु मुक्त विश्वविद्यालय, चेन्नई (तमिलनाडु) 2003

डॉ० रुद्रदत्त ने अपने एक लेख में वर्ष 1995-96 तथा 2000-01 में उच्च शिक्षा के दूरवर्ती शिक्षा के प्रक्षेपित प्रवेश से संबंधित आँकड़े दिए हैं। वे नीचे दिए गए हैं—

वर्ष 1995-96 तथा 2000-01 में दूरवर्ती शिक्षा के प्रक्षेपित प्रवेश :

दृश्य लेख	वर्ष	दूरवर्ती शिक्षा प्रवेश	कुल उच्चशिक्षा का प्रतिशत प्रवेश
1.	1995-96	1369321	19.5%
	2001-01	2942347	32.2%
2.	1995-96	1364517	21.1%
	2000-01	2809576	31.2%
3.	1995-96	1105975	17.1%
	2000-01	2079502	24.0%

इस सारणी से स्पष्ट है कि तीनों ही दृश्यलेखों में दूरवर्ती शिक्षा के लिए वृद्धि-दर में परिवर्तन बहुत अधिक है परंतु अन्य विकसित देशों की तुलना में यह वृद्धि नगण्य है। भारतवर्ष में अभी दूरवर्ती शिक्षा के क्षेत्र में काफी कार्य होना है।

दूरवर्ती शिक्षा के माध्यम से अध्यापक-शिक्षा :

भारतवर्ष में अध्यापक-शिक्षा की वर्तमान स्थिति अत्यंत शोचनीय है। हमारे देश के शिक्षक-प्रशिक्षण से संबंधित एक अत्यंत गंभीर समस्या- विद्यालयों में कार्य करनेवाले अप्रशिक्षित शिक्षकों की है। अप्रशिक्षित शिक्षकों की समस्या का समाधान करने के लिए भारत सरकार ने 'पत्राचार विद्यालयों एवं पाठ्यक्रमों' की योजना का निर्माण किया और 1962 में दिल्ली में 'पत्राचार पाठ्यक्रम निदेशालय' (Directorate of Correspondence Courses) की सृष्टि की। 1968 में पत्राचार के द्वारा अध्यापक प्रशिक्षण की उद्देश्यात्मकता तय करने के लिए U.G.C. ने सोवियत संघ में एक शिष्टमंडल भेजा था। शिष्टमंडल ने पत्राचार-विधि से अध्यापक-प्रशिक्षण-कार्यक्रम का प्रबल समर्थन किया। फलस्वरूप सत्तर तथा अस्सी के दशकों में पत्राचार विधि से बी.एड. (दूर शिक्षा) कार्यक्रम प्रारंभ कर दिया है। अधिकांश विश्वविद्यालयों के बी.एड. (पत्राचार या दूर शिक्षा) कार्यक्रमों का क्षेत्र संपूर्ण भारत है तथा प्रशिक्षणार्थियों को संस्था में नियमित अध्ययन करने की आवश्यकता या तो बिल्कुल भी नहीं है अथवा अत्यंत कम है। प्रश्न यह है कि क्या बिना किसी नियमित प्रशिक्षण प्राप्त किए अर्जित की गई बी.एड. (पत्राचार या दूर शिक्षा) उपाधि को मान्यता दी जानी चाहिए? NCERT की राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद् (NCTE) ने वर्ष 1980 में एक समिति का गठन किया था, जिसमें यह निष्कर्ष निकाला गया था कि पत्राचार द्वारा बी.एड. की शिक्षा को समाप्त कर देना चाहिए। समुचित विचार देते हुए, NCTE पत्राचार द्वारा अध्यापक शिक्षा के प्रासंगिक पहलुओं का अवलोकन करने तथा दूरवर्ती शिक्षा के उपयोग पर संस्तुतियाँ देते हुए एक अन्य समिति का गठन 1989 में किया, जिसमें यह संस्तुति दी है कि दूरवर्ती शिक्षा में नवीन संभावनाओं

को सम्मिलित करते हुए स्पष्ट तथा संदेहरहित दिशा-निर्देशनों को तय कर लिया जाना चाहिए। राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद् को मान्यता दे दी गई है। इसका एक्ट (1993) भी बना दिया गया है। इसे पूरे भारत के अध्यापक-शिक्षा के कार्यक्रमों के संचालन का अधिकार तथा वित्तीय सहायता प्रदान का भी उत्तरदायित्व दे दिया गया है।

दूरवर्ती शिक्षण से संबंधित महत्वपूर्ण मुद्दे :

दूरवर्ती शिक्षण से संबंधित कुछ महत्वपूर्ण मुद्दे निम्नलिखित हैं :

1. दूरवर्ती शिक्षक एवं परंपरागत शिक्षक में विभेद :

दूरवर्ती शिक्षक को जिन कार्यों को करना होता है, उनके लिए कॉलेज या स्कूल शिक्षण ही सक्षम हो, यह आवश्यक नहीं है। जिन समस्याओं से दूरवर्ती शिक्षार्थी को जूझना होता है, वे समस्याएँ दूरवर्ती शिक्षक से भी जुड़ी होती हैं। इसका आशय यह है कि अभिप्रेरणा, पृथकता एवं अध्ययन-विमुखता की समस्या से दूरवर्ती शिक्षक भी ग्रस्त होता है। अतः दूरवर्ती शिक्षकों एवं परंपरागत शिक्षकों में विभेद की आवश्यकता है।

2. मूल्यांकित उत्तर पत्रकों की निदर्श जांच :

मूल्यांकन कार्य हेतु दूरवर्ती शिक्षक को परंपरागत कक्षा-शिक्षक के समान योग्य एवं सक्षम नहीं माना गया है। निदर्श जांच के पक्ष में तर्क दिया जाता है कि परंपरागत कक्षा-शिक्षक अपने कार्य को जानता-समझता है तथा उसे संतोषजनक ढंग से निष्पादित कर सकता है।

3. संपर्क कार्यक्रम एवं कक्षा-शिक्षण में विभेद :

संपर्क कार्यक्रम के अंतर्गत किया जाने वाला शिक्षण परंपरागत कक्षागत शिक्षण से भिन्न होता है। संपर्क कार्यक्रम ऐसा अवसर प्रदान करता है जब दूरवर्ती शिक्षक, दूरवर्ती शिक्षार्थी को भली-भाँति समझ जाता है। ऐसी स्थिति में परंपरागत कक्षा-शिक्षक भी संपर्क कार्यक्रम के अंतर्गत दूरवर्ती शिक्षक की तरह ही शिक्षण कार्य निष्पादित कर सकता है।

4. बाहरी विशेषज्ञों की सेवाएँ :

आयोग द्वारा निदर्श जांच हेतु बाहरी विशेषज्ञों की सेवाएँ प्राप्त करने का सुझाव दिया गया है। किंतु बाहरी विशेषज्ञ पाठ इकाई की विषयवस्तु, उसकी कमियों तथा दूरवर्ती शिक्षार्थी की कठिनाइयों को दूरवर्ती शिक्षक से अधिक नहीं जान सकता है।

5. सहायक संप्रेषण की स्थिति :

सहायक संप्रेषण से तात्पर्य है कि मुख्य संप्रेषण के पश्चात् भी दूरवर्ती शिक्षक एवं दूरवर्ती शिक्षार्थी के बीच समस्याओं की जानकारी एवं उनके निराकरण हेतु संप्रेषण की प्रक्रिया चलती रहे। सहायक संप्रेषण से संबंधित तीन प्रमुख मुद्दे हैं :

1. दूरवर्ती शिक्षण की भूमिका
2. गृहकार्य (सत्रीय कार्य) का घनत्व
3. संपर्क कार्यक्रम एवं अनुवर्ग शिक्षण

दूरवर्ती शिक्षक को दूरवर्ती शिक्षण की सफलता के लिए, दूरवर्ती शिक्षार्थी को पाठ्यक्रम के प्रति अभिप्रेरित करना चाहिए। व्यक्तिगत निर्देशन प्रदान करना चाहिए, पृथकता की भावना का निराकरण करना चाहिए।

प्रायः छात्र प्रदत्त कार्य के प्रति उदासीनता दिखाते हैं अतः दूरवर्ती शिक्षण-प्रक्रिया की

सफलता की दृष्टि से उल्लेखनीय यह है कि गृहकार्यों की संख्या तथा उन्हें पूर्ण करके भेजने की अनिवार्यता जितनी अधिक होगी, दूरवर्ती शिक्षक एवं शिक्षार्थी के बीच संपर्क स्थापित होने के अवसर भी उतने ही अधिक होंगे।

संपर्क कार्यक्रम का उद्देश्य शिक्षार्थी को व्यक्तिगत स्तर पर अनुदेशन प्रदान करना होता है। इसके लिए शिक्षार्थी को कुछ निश्चित समय के लिए दूरवर्ती अध्ययन केंद्र पर जाना होता है। वहाँ पर उसे शिक्षक के साथ-साथ पाठ्यक्रम के दूसरे साथियों से भी अंतःक्रिया का अवसर मिलता है। किंतु कुछ सेवारत विद्यार्थियों को अवकाश की असुविधा रहती है तथा कुछ को आवास, भोजन एवं परिवहन की समस्या रहती है।

6. बड़ी संख्या में शिक्षकों को प्रशिक्षित करना :

भारत जैसे विशाल जनसंख्या वाले देश में किसी भी क्षेत्र में संख्या की समस्या स्वाभाविक है। वर्तमान में विशिष्ट बी.टी.सी. प्रशिक्षण की बी.एड. की अनिवार्यता के कारण अधिकाधिक शिक्षक-प्रशिक्षण की समस्या उत्पन्न को गई है।

7. प्रशिक्षित करने हेतु अधिक की धन की आवश्यकता :

वर्तमान प्रशिक्षण-संस्थाओं के विस्तार अथवा उनकी संख्या में वृद्धि के प्रयास को भारतीय अर्थव्यवस्था के अंतर्गत आर्थिक स्वीकृति नहीं दी जा सकती है।

8. शिक्षकों को प्रशिक्षण प्रदान करने हेतु अधिक समय की आवश्यकता :

प्रशिक्षित किए जाने वाले शिक्षकों की अधिक संख्या के कारण उन्हें विविध प्रकार के प्रदर्शन पाठों की आवश्यकता होती है, जिन्हें अल्प अवधि में पूर्ण कर पाना संभव नहीं होता है।

9. प्रशिक्षण की प्रासंगिकता की समस्या :

शिक्षक-प्रशिक्षण कार्यक्रमों के असंतोषजनक होने के कारण हैं कि ये प्रशिक्षार्थियों की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करते। कार्यक्रम सिर्फ शहरी क्षेत्रों में संचालित किए जाते हैं तथा शिक्षकों को समुचित शिक्षण-कौशल प्रदान करने में असफल रहते हैं। अतः हमें ऐसे विकल्प की ओर ध्यान देना होगा, जो प्रशिक्षणार्थियों की आवश्यकताओं को पूर्ण करने में सफल सिद्ध हो सके।

10. दूरवर्ती शिक्षा की द्विरूपी संरचना :

भारत में दूरवर्ती शिक्षा के दो रूप प्रचलित हैं एक मुक्त विश्वविद्यालय जो स्वतंत्र रूप में दूरवर्ती शिक्षा प्रदान कर रहे हैं तथा दूसरा दूरवर्ती अथवा पत्राचार शिक्षा संस्थान/निदेशालय, जो परंपरागत विश्वविद्यालयों से जुड़े हुए हैं। इस द्विरूपी संरचना के कारण दूरवर्ती शिक्षा के विकास को समुचित प्रोत्साहन नहीं मिल पा रहा है।

IGNOU की भूमिका :

इन्हीं तथ्यों को दृष्टिगत रखते हुए राष्ट्र ने दूरवर्ती शिक्षा के स्तरों को बढ़ाने तथा बरकरार रखने के लिए IGNOU की स्थापना की थी, जो प्रभावकारी विधि के रूप में 'दूरगामी शिक्षा' के ज्ञानात्मक, भावात्मक तथा क्रियात्मक उद्देश्यों को सफलतापूर्वक पोषित कर सके।

IGNOU शैक्षिक विधियों व गति के संबंध में लचीली व मुक्त विश्वविद्यालय स्तरीय शिक्षा, पाठ्यक्रमों के संयोजन, प्रवेश, आयु मूल्यांकन विधियों आदि की नवाचारी प्रणाली की

व्यवस्था करता है।

IGNOU द्वारा वर्ष 2005 के दौरान 4.60 लाख से अधिक छात्रों का पंजीकरण विभिन्न अध्ययन-कार्यक्रमों में किया गया। IGNOU ने देश के विभिन्न भागों में 60 क्षेत्रीय केंद्र, 7 उपक्षेत्रीय केंद्र एवं 1298 अध्ययन केंद्रों वाला एक व्यापक छात्र सहायता सेवाओं का नेटवर्क स्थापित किया है। IGNOU ने महिलाओं, अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति और शारीरिक रूप से विकलांग व्यक्तियों के 269 अध्ययन केंद्रों की स्थापना की है। IGNOU ने 26 जनवरी 2001 को एक शैक्षिक चैनल 'ज्ञानदर्शन' की शुरुआत की थी जो अब 24 घंटे का चैनल है तथा छह लगातार प्रसारण करने की इसकी क्षमता है। IGNOU ने नवंबर, 2001 में छात्रों को अतिरिक्त सुविधाएँ देने के लिए एफ०एम० रेडियो नेटवर्क शुरू किया। इस समय 17 एफ.एम. रेडियो नेटवर्क चालू हालत में हैं, जो कुछ समय बाद बढ़कर 40 हो जाएँगे। शिक्षित भारत बनाने हेतु दूरवर्ती शिक्षा के उन्नयन और विकास को बढ़ावा देने के लिए एक विशेष शैक्षिक चैनल 'एजुसेट' की शुरुआत एक ऐतिहासिक अवसर है, जो लोगों को अच्छी शिक्षा देकर उनका सशक्तिकरण करेगा और जनाकांक्षाएँ पूरी करेगा। वर्ष 2005 में विश्वविद्यालय ने देशभर में स्थित अपने क्षेत्रीय अध्ययन केंद्रों में एसआईटी के साथ 100 'एजुसेट' स्थापित किए। विश्वविद्यालय द्वारा एक वैधानिक निकाय के रूप में गठित दूरशिक्षा परिषद् देश की दूरशिक्षा के समन्वयन और मानकों के निर्धारण करनेवाली शीर्ष संस्था है।

शिक्षा की बढ़ती माँग तथा संसाधनों की सीमित स्थिति को दृष्टि में रखते हुए दूर शिक्षा-प्रणाली को अधिकाधिक बढ़ाया जाना अत्यंत आवश्यक है। निःसंदेह आने वाले समय में दूरस्थ शिक्षा-प्रणाली ही शिक्षा प्रदान करनेवाली मुख्य शिक्षा-प्रणाली होगी। बदलते वैश्विक परिदृश्य में शिक्षा-व्यवस्था में यह परिवर्तन आना अवश्यंभावी है। इस चुनौती का सामना करने के लिए राष्ट्र को तथा इसके सभी नागरिकों, शिक्षकों तथा शिक्षा-संस्थाओं को न केवल मनोवृत्तिक स्तर पर वरन् व्यावहारिक स्तर पर तैयार करने के लिए यथा संभव सभी प्रयासों को यथाशीघ्र करना आवश्यक तथा अपरिहार्य है।

संदर्भ

1. डॉ० जी०सी० भट्टाचार्य, अध्यापक शिक्षा, विनोद पुस्तक मंदिर आगरा।
2. डॉ० सियाराम यादव, दूरवर्ती शिक्षा, विनोद पुस्तक मंदिर आगरा।
3. डॉ० एस०पी० गुप्ता, डॉ० अलका गुप्ता दूरस्थ शिक्षा, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद।
4. डॉ० आर०ए० शर्मा, दूरस्थ शिक्षा, सूर्या पब्लिकेशन, मेरठ।
5. डॉ० एस०पी० गुप्ता, डॉ० अलका गुप्ता, भारतीय शिक्षा का इतिहास विकास एवं समस्याएँ, शारदा पुस्तक भवन, आगरा।

□ शिक्षा संस्थान, बुंदेलखंड विश्वविद्यालय
झाँसी (उ०प्र०)

उत्तर भारतीय हिंदू-समाज पर मुस्लिम समाज का प्रभाव

अंसार खाँ शोध-छात्र प्राचीन इतिहास

काशी नरेश राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, ज्ञानपुर, संत रविदास नगर (भदोही)

भारत पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् अरब और तुर्क आक्रांताओं ने भारतीय क्षेत्रों पर अपना स्थाई साम्राज्य स्थापित कर लिया, जिसके परिणामस्वरूप दो विरोधी संस्कृतियाँ एक-दूसरे के संपर्क में आईं। यह स्वाभाविक ही था कि हिंदू-समाज और संस्कृति पर मुस्लिम समाज और संस्कृति का प्रभाव पड़ता, परंतु महत्वपूर्ण बात तो यह है कि प्रारंभिक काल में इन दो शक्तिशाली धर्मों और संस्कृतियों के संघर्ष ने उत्तर भारतीय समाज और संस्कृति पर कोई वास्तविक रचनात्मक प्रभाव नहीं डाला। इसका कारण संभवतः यह था कि यहाँ की हिंदू जनता ने मुसलमानों और उनकी सभ्यता और संस्कृति में ऐसे कोई गुण नहीं देखे कि जिससे वे प्रभावित होते। बल्कि उनकी धर्मांधता और बर्बरता उन्हें उनसे दूर ही करती रही और वे उन्हें म्लेच्छ ही समझते रहे। मुसलमानों ने भी हिंदुओं को काफ़िर शब्द से संबोधित किया और उन्हें दोजख (नरक) भेजने लायक समझा। वे अपने धर्म और सभ्यता को हिंदुओं के धर्म और सभ्यता से श्रेष्ठ समझते थे। इसलिए एक-दूसरे के धर्म और संस्कृति के प्रति परस्पर कोई सहानुभूति उत्पन्न नहीं हुई तथा वास्तविक अर्थों में कोई आदान-प्रदान भी नहीं हुआ। दोनों सभ्यताओं के दीर्घकालीन संपर्क से परस्पर जो भी प्रभाव पड़ा, वह केवल संयोगमात्र है, क्योंकि दोनों संस्कृतियाँ अधिक समय तक एक देश में साथ-साथ थीं।

आठवीं से बाहरवीं शताब्दी तक के काल को कभी-कभी अंधकार युग की संज्ञा दी जाती है, जब हिंदुओं की उच्च संस्कृति का हास हुआ और राजनीतिक विशृंखलता के फलस्वरूप एक पूर्णतया विदेशी शक्ति को इस उपमहाद्वीप में विजय प्राप्त करने में सुविधा हुई, परंतु यह अंधकार युग न होकर निर्माणात्मक युग था।¹

आठवीं और नवीं शताब्दी में अरब के लोग काफ़ी संख्या में दक्षिण भारत के पश्चिमी समुद्रतट पर आवासित हो गए थे। सर्वप्रथम यहीं पर हिंदू-समाज मुस्लिम समाज के संपर्क में आया। उत्तर भारत सिंध पर अरब-आक्रामण के पूर्व तक इस्लामी समाज के संपर्क से मुक्त था। सिंध पर आधिपत्य स्थापित करने के पश्चात् अरबों ने यहाँ के लोगों से विवाह कर या अन्य उपायों से मुसलमान बनाकर भारतीय मुसलमानों का एक नया वर्ग तैयार किया। उसमें उन्हें हिंदू-समाज में व्याप्त ऊँच-नीच की भावना, छुआछूत के दोषों और सामाजिक विषमताओं से बहुत सहायता प्राप्त हुई, क्योंकि इस्लाम धर्म में नवदीक्षितों को भी बराबरी का दर्जा दिया गया था।²

सिंध में अरबों ने शासन और वास्तुनिर्माण के कार्यों में हिंदुओं की बहुत बड़ी श्रेष्ठता

के कारण उन्हें बड़े पदों पर नियुक्त किया। वे काफिरों (हिंदुओं) के ही समान वस्त्र पहनने लगे तथा उन्हीं के ढंग की दाढ़ियाँ बढ़ाने लगे। यही नहीं सिद्धांत, ज्योतिष और गणितशास्त्र की बहुत सी बातें अरबों ने भारतीयों से सीखीं। अलबरूनी लिखता है कि अरबों द्वारा प्रयुक्त संख्याओं के चिह्न हिंदू-चिह्नों के सर्वसुंदर स्वरूपों से निकले थे।³

एक सुप्रसिद्ध विद्वान ने यह मत व्यक्त किया है कि 'एकेश्वरवाद' भारत को इस्लाम की देन है। क्या यह स्वीकार करने योग्य है कि शंकराचार्य (8वीं-9वीं सदी) इस्लाम धर्म से इतने प्रभावित थे कि उन्होंने मुसलमानों के 'एकेश्वरवाद' के सिद्धांत को अपना लिया? यह एक विचारणीय प्रश्न है कि यदि शंकराचार्य ने एकेश्वरवाद का सिद्धांत इस्लाम धर्म से प्रभावित होकर लिया था, तो उन्होंने मूर्ति-पूजा का विरोध क्यों नहीं किया, जो कि इस्लाम धर्म का एक प्रमुख सिद्धांत है।

यह सर्वविदित है कि शंकराचार्य के अद्वैतवाद दर्शन का जन्म श्रुतियों से हुआ था और उन्होंने जो मत प्रतिपादित किया, वह वास्तव में वेदों और उपनिषदों में निहित सत्य का ही विकसित रूप था। अतः निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अरबों और तुर्कों ने उत्तर भारतीय हिंदुओं की धार्मिक विचारधारा और उनके समाज पर कोई क्रांतिकारी प्रभाव नहीं डाला। बल्कि कट्टर हिंदू और मुसलमान दोनों ने ही धर्म के क्षेत्र में एक-दूसरे के प्रभाव का समान रूप से विरोध किया।⁴ आज भी हिंदू-धर्म और इस्लाम धर्म के परस्पर संपर्क के पश्चात् भी ग्रामीण क्षेत्रों में हिंदुओं के धार्मिक विश्वास, भोजन, वेश-भूषा और जीवन-यापन में इस्लामी विचारधारा या आचार-विचार का कोई भी महत्वपूर्ण प्रभाव नहीं दिखाई देता।

उत्तर भारतीय हिंदू-समाज में इस्लामी समाज के प्रवेश से दो प्रकार के परिवर्तन हुए। प्रथम तो यह कि मुसलमानों के धार्मिक प्रचार-प्रसार और हिंदुओं को मुसलमान बनाने के प्रयत्नों से हिंदुओं की रूढ़िवादिता और दृढ़ हो गई। हिंदुओं ने सोचा कि इस्लाम के प्रभाव से अपने धर्म और संस्कृति की रक्षा का एकमात्र उपाय हिंदू आचार-विचारों की कट्टरता है, इसलिए जाति-व्यवस्था और जटिल कर दी गई। दैनिक जीवन के नियमों को इतना कठोर बना दिया गया कि जितना वे कभी नहीं थे। हिंदुओं ने अपने स्मृतियों में से नए-नए नियमों की व्यवस्था की। माधव, विज्ञानेश्वर और अन्य ऐसे ही विद्वानों और सुधारकों ने हिंदुओं के कठोर धार्मिक जीवन व्यतीत करने के नियम निर्धारित किए गए। द्वितीय यह कि मुसलमानों के सामाजिक संगठन के कुछ जनवादी सिद्धांतों को हिंदुओं ने अपना लिया। हिंदू-सुधारकों ने सभी हिंदू-जातियों की एकता पर बल दिया और बताया कि मोक्ष प्राप्त करने के लिए किसी विशेष जाति में जन्म लेना आवश्यक नहीं है।

कालांतर में भक्ति-आंदोलन यद्यपि हिंदू-धर्म पर इस्लाम के प्रभाव के फलस्वरूप नहीं प्रारंभ हुआ था, परंतु फिर भी वह इस्लाम से कुछ प्रभावित अवश्य था। हिंदू-सुधारकों और उपदेशकों ने सभी धर्मों की आधारभूत एकता और एक ही ईश्वर के विचार को प्रतिपादित किया। सूफी मत का पूर्वी रूप भी हिंदू वेदांत की ही देन था, इसलिए हिंदू सूफी संप्रदाय के कुछ सिद्धांतों के प्रभाव से न बच सके। वे विशेष रूप से चिश्तिया संप्रदाय से प्रभावित थे, क्योंकि चिश्तिया सूफी-संत हिंदू-संतों की भाँति आचार-व्यवहार करते थे तथा उनका हिंदुओं के प्रति व्यवहार भी सहानुभूतिपूर्ण था। अकबर के शासनकाल से उच्चवर्गीय हिंदुओं और

मुसलमान सूफी-संतों के बीच संपर्क और अधिक बढ़ गया था।

हिंदू-समाज के उच्चवर्गीय लोगों के आचार-विचार और सामाजिक रीति-रिवाजों पर मुस्लिम समाज का प्रभाव अधिक दृष्टिगत होता है। विदेशी यात्रियों के विवरणों से स्पष्ट है कि हिंदू और मुसलमान मुगलकाल में लगभग एक ही प्रकार के वस्त्र धारण करते थे। उनके वस्त्र धारण करने में केवल एक यही विशेष अंतर था कि मुसलमान अपने कबा को तनियों से दाहिनी ओर बाँधते थे और हिंदू बायीं ओर। दोनों ही जातियाँ घुटनों तक लंबा कबा और लंबी बाहों का कुर्ता तथा पायजामा पहनते थे। साफ़ा या पगड़ी सभी हिंदू और मुसलमान धारण करते थे। हिंदू जनसाधारण और अधिकांश ब्राह्मण, मुस्लिम-समाज से प्रभावित नहीं हुए थे। भोजन में उच्चवर्गीय हिंदू (विशेषकर वे हिंदू जो शाही सेवा में थे) मांसाहार करने लगे थे। मुगलकालीन संपन्न फ़ारसी पढ़े-लिखे हिंदुओं का प्रिय खाद्य पदार्थ मुस्लिम भोजन पुलाव, कबाब, कोफ़ता आदि थे। उनमें से बहुत से लोगों ने मुसलमानों के सामाजिक और दरबारी तौर-तरीके और उनके आचार-व्यवहार भी अपना लिए थे।

मुसलमानों की सभ्यता का सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव भारतीय ललित कलाओं (विशेषकर स्थापत्य कला) पर दृष्टिगत होता है। हिंदुओं को जो कुछ भी उपयोगी और सुंदर लगा, उसे ग्रहण करने में उन्होंने कभी भी उपेक्षात्मक दृष्टि नहीं अपनाई। राजपूत शासकों ने तत्परता से मुग़ल स्थापत्य कला के अंगों को अपना लिया और उन्हें अपने महलों में स्थान दिया। हिंदू मंदिर तक मुग़ल स्थापत्य कला के प्रभाव से नहीं बच सके। उदाहरणार्थ वृंदावन के कई मंदिरों में मुग़ल स्थापत्य कला की शैली अपनाई गई है। इस संदर्भ में पर्सी ब्राउन लिखते हैं कि, 'वृंदावन के मंदिरों में बहुत कुछ अपना मौलिक है, लेकिन कुछ अन्य हिंदू इमारतों में गोविंददेव के मंदिर की अपेक्षा मुसलमानों की प्रचलित शैली का प्रभाव अधिक है।' हिंदू-शासकों के इस काल के महलों पर मुग़ल निर्माण-शैली का काफ़ी प्रभाव पड़ा। इसके सबसे सुंदर उदाहरण आमेर के रूमानी नगर की इमारतें, बीकानेर के राजमहल, जोधपुर और ओरछे के महली क़िले तथा दतिया के महल और डीग के भवन हैं। ऐसी इमारतों में यह देख लेना कठिन नहीं है कि कैसे प्रारंभिक मुग़लों की पत्थरी इमारतों में दाँतेदार मेहराब, काँच के मोजेक, रंगीन पलस्तर, मुलममेदार चूने की पृष्ठभूमि जोड़कर उन्हें हिंदू राजाओं की अधिक रंगीली आवश्यकताओं के अनुकूल बना लिया गया है।⁵

हिंदुओं की चित्रकला पर भी मुसलमानों की चित्रकला का प्रभाव दिखाई देता है। मुगलकाल की चित्रकला शैली ने हिंदू-चित्रकला के विषयों, तकनीकी और विविध अंगों को प्रभावित किया। इसका समन्वय जब स्थानीय भारतीय शैली से हुआ तो उससे भारतीय चित्रकारों के समक्ष नए क्षेत्र खुले और प्राचीन हिंदू चित्रकला-शैली में क्रांतिकारी परिवर्तनों का सूत्रपात हुआ। इसके परिणामस्वरूप भारतीय चित्रकारों ने आकृति-चित्रण और भित्ति-चित्रों को अंकित करने की कला में श्रेष्ठतम प्रतिभा प्रदर्शित की। मुग़ल चित्रकला के इस प्रभाव ने राजपूत चित्रकला-शैली को पूर्ण रूप से परिवर्तित कर दिया, जिसके परिणामस्वरूप 18वीं शताब्दी में काँगड़ा शैली का विकास हुआ।

उत्तर भारतीय इतिहास में मुस्लिम सत्ता की स्थापना निःसंदेह एक अति महत्वपूर्ण घटना थी। 12वीं शताब्दी में मुस्लिम शासकों के आगमन के साथ ही उत्तर भारत में अनेक

महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए, जिन्होंने भारतीय हिंदू-समाज में पूर्व प्रचलित तत्त्वों के तीव्रीकरण की प्रक्रिया में सहयोग दिया, फिर भी पुरातन हिंदू-समाज जीवित रहा। अतः 12वीं शताब्दी में हिंदू समाज पर मुस्लिम समाज के प्रभाव के परिणामस्वरूप जिन परिवर्तनों के लिए ज़मीन तैयार हुई उसका स्पष्ट परिणाम 14 वीं शताब्दी से दृष्टिगोचर होता है।

संदर्भ

1. रोमिला थापर, भारत का इतिहास, पृ० 239
2. इलियट एंड डाउसन, हिस्ट्री ऑफ इंडिया ऐज टोल्ड बाइ इट्स ओन हिस्टोरियंस, पृ० 23
3. हेमचंद्र राय, एंसाइक्लोपीडिया ऑफ इस्लाम, पृ० 257, उद्धृत विशुद्धानंद पाठक, उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास, पृ० 212
4. रोमिला थापर, भारत का इतिहास, पृ० 252
5. कैंब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, भाग 4, पृ० 558



साम्यवाद का पतन और वैश्वीकरण के परिप्रेक्ष्य में मार्क्सवाद-लेनिनवाद की प्रासंगिकता

संतोष श्रीवास्तव

प्रवक्ता व शोध-छात्रा, सी०एम०पी० डिग्री कॉलेज इलाहाबाद

डॉ० अजय सिंह

शोध-निदेशक एवं रीडर राजनीतिशास्त्र, हॉडिया पी०जी० कॉलेज, हॉडिया इलाहाबाद

सन् 1990 के दशक से ही विश्व के विभिन्न देशों में साम्यवाद के पतन की प्रक्रिया प्रारंभ हुई। सन् 1990 में सोवियत संघ का विघटन और वहाँ साम्यवाद का अवसान 20 वीं शताब्दी की सबसे महत्वपूर्ण घटना थी। इसके पूर्व पूर्वी यूरोप के देशों रोमानिया, हंगरी, पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया, पूर्वी जर्मनी, बुल्गेरिया और अल्बानिया में भी साम्यवादी शासन-व्यवस्थाओं का पतन हुआ। तत्कालीन सोवियत राष्ट्रपति मिखाइल गोर्बाच्योव की ग्लासनोस्त (खुलेपन) और पेरोस्ट्रोइका (पुनर्निर्माण) की नीतियों ने इन देशों की जनता को अपनी भावनाएँ व्यक्त करने का अवसर दिया।

फलतः इन देशों की जनता का वर्षों से दबा असंतोष फूट गया, जिसके कारण सोवियत संघ सहित पूर्वी योजना के देशों में साम्यवादी शासन की व्यवस्थाएँ धराशायी हो गईं। यह घटनाक्रम विश्व-भर के साम्यवादियों तथा मार्क्सवाद में विश्वास रखनेवालों के लिए गहरा आघात था। इससे मार्क्सवाद की प्रासंगिकता के आगे प्रश्न-चिह्न लग गया। लेकिन अगर निष्पक्ष दृष्टि से तथ्यों का विश्लेषण किया जाए तो यह कहा जा सकता है कि सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप के देशों में साम्यवाद के पतन के लिए मार्क्सवादी विचारधारा उत्तरदायी नहीं रही है। इसके लिए इन देशों का साम्यवादी नेतृत्व उत्तरदायी रहा है, जिसने अपनी जनता की मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा करने के स्थान पर हथियारों के उत्पादन पर अंधाधुंध व्यय किया और वहाँ जनता के असंतोष को दबाने के लिए तानाशाही व्यवस्था की स्थापना की।

अतः सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप के देशों में साम्यवाद की असफलता मार्क्सवादी विचारधारा की असफलता नहीं है। कुछ भी हो, विश्व के कुछ हिस्सों में समाजवाद या साम्यवाद के पतन का यह अर्थ नहीं है कि यह विचारधारा अपनी संपूर्ण लोकप्रियता खो चुकी है। यह बात ध्यान देने की है कि मार्क्सवाद से जुड़ा हुआ समाजवाद एक संवैधानिक प्रणाली के रूप में जितना विफल हुआ है, विचारधारा के रूप में उतना विफल नहीं हुआ है, फिर भी मार्क्सवाद की कुछ मान्यताएँ यथार्थ की कसौटी पर खरी नहीं उतरी हैं।

कम्युनिज़्म के पतन ने सिद्धांत और व्यवहार में मार्क्सवाद की कमियाँ साबित कर दीं। वह उदार जनतंत्र का विकल्प बनने के बजाय अधिक-से-अधिक आलोचक बनकर रह गया। लेकिन शोषण और अलगाव की उनकी आलोचना और सही मायनों में मुक्त समाज के निर्माण की आशा किसी भी यूटोपियाई योजना का आरंभ-बिंदु रहेगी।

सेबाइन के अनुसार, 'उन्होंने कोई ऐसा कारण पेश नहीं किया, जिसके आधार पर यह

माना जाए कि मूलगामी राजनीतिक सत्ता में यथास्थितिवाद राष्ट्रवाद से कम प्रभुत्वकारी होगा।'¹

मार्क्सवादियों को यह आशा थी कि समाजवाद की छत्रछाया में नए मानव का उदय होगा, जो आत्मप्रेरणा से सामाजिक जीवन में अपना सर्वोत्तम योगदान करेगा। परंतु यथार्थ के धरातल पर यह समाजवाद मानव-प्रकृति को नहीं बदल पाया। यथार्थ अनुभव से यह सिद्ध हो गया है कि मनुष्य अपनी प्रतिभा की अभिव्यक्ति के लिए निरंतर नागरिक स्वतंत्रताओं की कामना करता है। फिर यह समाजवाद जाति, धर्म और संस्कृति से जुड़े हुए पूर्वाग्रहों को भी मनुष्य के मन से नहीं निकाल पाया।

मनुष्य को अपने मन की शांति के लिए किसी आध्यात्मिक तत्त्व के प्रति आस्था की ज़रूरत लगातार बनी रहती है, समाजवाद इस ज़रूरत को समाप्त नहीं कर पाया।

मार्क्सवादियों को यह आशा थी कि राजनीतिक और अधिकारी तंत्रीय शक्ति को आर्थिक शक्ति से पृथक् कर दिया जाए तो वह मनुष्य के चरित्र को भ्रष्ट नहीं कर सकेगी, परंतु यथार्थ अनुभव ने इस आशा को निर्मूल सिद्ध कर दिया। कुछ भी हो, इन सब विफलताओं के बाद यह नहीं मान लेना चाहिए कि एक विचारधारा के रूप में मार्क्सवाद की कोई सार्थकता नहीं रह गई। वास्तव में इस विचारधारा में उत्पीड़ित वर्ग की स्वतंत्रता का संदेश निहित है।

समकालीन सभ्यता ने मनुष्य के अलगाव और पराधीनता की जो परिस्थितियाँ पैदा कर दी हैं। यह विचार उनके आलोचनात्मक विश्लेषण का उपकरण प्रदान करता है। इसका भौतिक महत्त्व भावी समाज की उस भव्य कल्पना में निहित है, जिसके तहत कम्युनिस्ट मैनीफेस्टो के शब्दों में, 'प्रत्येक व्यक्ति का स्वतंत्र विकास सबके स्वतंत्र विकास की आवश्यक शर्त बन जाएगा।' समाजवाद पीड़ित मानवता के लिए एक मुक्तिदायिनी शक्ति है और इस रूप में इसे अपनी क्षमता को अब भी सार्थक करना है।

वैश्वीकरण के परिप्रेक्ष्य में मार्क्सवाद की सबसे बड़ी देन यह है कि इसने समाज के वर्गपरक आधार का विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए ऐसी मान्यताओं पर प्रश्न-चिह्न लगा दिया, जिसके कारण समाज में निहित स्वार्थों को बढ़ावा मिलता है और शोषण का चक्र चलता रहता है। इसने उदारवाद को यह चुनौती दी कि जब तक समाज में निजी संपत्ति के स्वामित्व के आधार पर वर्ग-भेद ज्यों-का-त्यों बना हुआ है, तब तक कोरी राजनीतिक स्वतंत्रता अधूरी है और समाज की प्रगति का स्पष्ट एक धोखा है।

मार्क्सवाद के महत्त्व और राजनीतिक चिंतन में उसके योगदान को रेखांकित करते हुए सी०ई०एम० जोड कहते हैं, 'अतः मार्क्स ही पहला समाजवादी लेखक हैं, जिसके योगदान को वैज्ञानिक कहा जा सकता है। जैसा समाज वह चाहता था, उसने न केवल उसकी रूपरेखा प्रस्तुत की बल्कि उन सोपानों के विषय में सविस्तार बताया, जिनके माध्यम से इसे विकसित होना चाहिए। मार्क्स के लेखों का श्रम-वर्गों पर बहुत प्रभाव पड़ा, किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि अपने दोषों से मुक्त नहीं है तथा उनकी व्याख्या के विषय में काफी विवाद भी बना हुआ है।'²

वास्तव में मार्क्सवाद एक प्रगतिवादी दर्शन है, जिसका मुख्य संदेश यह है कि सामाजिक अन्याय की जड़ें समाज-व्यवस्था के अंतर्गत ढूँढनी चाहिए और वहीं उसका प्रतिकार भी करना चाहिए। हर्बर्ट मार्क्यूजे और युर्गेन हैबरमास जैसे नव-मार्क्सवादियों ने समकालीन परिस्थितियों में नव-मार्क्सवाद की नई व्याख्याएँ देकर मानव-स्वतंत्रता के नए क्षितिज ढूँढ निकाले हैं।

'लेनिन का नाम महान् अक्टूबर क्रांति की विजय और इन जबरदस्त क्रांतिकारी

अग्रगतियों का प्रतीक बन गया है, जिन्होंने पृथ्वी पर मानव-समाज के स्वरूप को पूलगामी रूप में बदल दिया है और जो समाजवाद तथा कम्युनिज़्म की ओर मानव-जाति के मोड़ की द्योतक है।'³

जहाँ तक लेनिन के विचारों की प्रासंगिकता का प्रश्न है तो वैज्ञानिक कम्युनिज़्म के इतिहास ने कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स के इस निष्कर्ष की पुष्टि की कि 'जनगण के एकजुट होने के लिए उनके समान हित होने चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि वर्तमान सांपत्तिक संबंध को नष्ट कर दिया जाए, क्योंकि ये सांपत्तिक संबंध ही कुछ राष्ट्रों द्वारा दूसरे राष्ट्रों के शोषण का कारण हैं।'⁴

लेनिन ने लक्षित किया था कि महान् अक्टूबर समाजवादी क्रांति और सोवियतों के देश में समाजवाद के निर्माण का अनुभव सभी देशों को प्रभावित करेगा। इसके साथ ही लेनिन ने रूस की समाजवादी क्रांति के अनुभव को यंत्रवत् अन्यत्र हस्तांतरित करने के ख़िलाफ़ चेतावनी दी। उनकी मान्यता थी कि समाजवाद में संक्रमण के आम नियमों को लागू करते समय यह आवश्यक है कि प्रत्येक देश के विकास के अपने अनूठे और विशेष लक्षणों को ध्यान में रखा जाए।

वास्तव में आधुनिक पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन के क्षेत्र में सामाजिक परिवर्तन के अग्रदूत के रूप में मार्क्स और लेनिन का उल्लेखनीय योगदान रहा है। मार्क्स और लेनिन दोनों की विचारधाराएँ, अत्याचार, शोषण, दरिद्रता और असमानता का अंत कर एक नए राज्यविहीन और वर्गविहीन समाज की स्थापना करना चाहती हैं। दोनों ही सर्वहारा की शक्ति को असाधारण महत्त्व देती हैं। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए जहाँ एक ओर मार्क्स ने इस सिद्धांत को क्रियात्मक रूप देना चाहा कि, 'प्रत्येक व्यक्ति से उसकी क्षमता के अनुसार काम लिया जाए और उसकी आवश्यकतानुसार पारिश्रमिक दिया जाए, वहीं दूसरी ओर, लेनिन ने सफल समाजवादी क्रांति के उपरान्त राज्य की प्रकृति तथा पूर्णतया मानव के जीवन की प्रत्याभूति के लिए राज्य के विलुप्तीकरण का सिद्धांत प्रस्तुत किया।'

विश्व के क्रांतिकारी नवीनीकरण के ध्येय को जिस अक्टूबर क्रांति ने शुरू किया था और जो सोवियत संघ में समाजवाद की विजय से मूर्त हुआ, यूरोप, एशिया और अमरीका के अनेक देशों में समाजवादी क्रांति की विजयों ने सफलतापूर्वक जारी रखा है। लेनिन का मानना था कि, 'साम्राज्यवाद न तो खोई हुई ऐतिहासिक पहलकदमी को दुबारा हासिल कर सकता है और न विश्व-घटनाक्रम को पलट सकता है। मानव-जाति के विकास की मुख्य दिशा को विश्व समाजवादी-व्यवस्था अंतर्राष्ट्रीय मजदूर वर्ग और सभी क्रांतिकारी शक्तियाँ निर्धारित करती हैं। स्टालिन ने अपनी पुस्तक 'फाउंडेशन ऑफ लेनिनिज़्म' में लेनिन के मार्क्सवाद की महत्ता बताते हुए कहा, 'लेनिन ने मार्क्सवाद को रूप की विशेष परिस्थितियों में लागू किया और बताया कि किस प्रकार साम्राज्यवाद पूँजीवाद के लिए विनाशकारी सिद्ध होता है और विश्व क्रांति के लिए उत्तरदायी है।'⁵

लेनिन द्वारा प्रतिपादित सर्वहारा के अधिनायकवाद की चर्चा करते हुए 'ग्रे' का कथन है कि, 'बुर्जुआ राज्य के मलबे पर सर्वहारा के अधिनायकवाद की स्थापना इस बिंदु का प्रतिनिधित्व करती है, जहाँ से सिद्धांत रूप में राज्य का लोप शुरू होना चाहिए। तभी वर्गों का लुप्त होना आरंभ हो जाता है तथा वर्गों के क्रमिक लोप के साथ राज्य तथा वास्तव में स्वयं दल का भी अंत होता जाता है।'⁶

वास्तव में मार्क्सवाद-लेनिनवाद की प्रासंगिकता इस तथ्य में निहित है कि पूँजीवादी व्यवस्था में व्याप्त शोषण को उसने जिस ढंग से व्याख्यायित किया, वह अपने में अनूठा है। इतिहास की पूरी प्रक्रिया को वर्ग-संघर्ष का परिणाम मानते हुए उसने वर्गविहीन, राज्यविहीन समाज की कल्पना को साकार करने के लिए 'सर्वहारा की क्रांति' की आवश्यकता पर बल दिया।

लास्की ने अपनी पुस्तक Communism में लेनिन के विचार को स्पष्ट करते हुए कहा है कि, 'हिंसा का क्रमबद्ध व उत्साहपूर्ण उपयोग किए बिना शत्रु की वर्गीय इच्छा को तोड़ने का और कोई रास्ता नहीं है।'⁷

लेनिन के अनुसार, दल ही श्रमिक-वर्ग की विचारधारा की शिक्षा देगा, मजदूरों को संगठित करेगा तथा क्रांति की योजना तैयार करेगा। इस संबंध में स्टालिन ने अपनी पुस्तक 'Foundatiuon of Leninism' में कहा है कि 'दल को एक क्रांतिकारी सिद्धांत आंदोलन के नियमों के प्रति जागरूक तथा क्रांति के नियमों के ज्ञान से सुसज्जित होना चाहिए। लेनिन की महान सफलता इस बात में निहित थी कि उसने औद्योगिक दृष्टि से सबसे अधिक पिछड़े हुए देश में तथा पेशेवर, क्रांतिकारियों की सहायता से साम्यवादी क्रांति को सफल बनाया और एक शक्तिशाली समाजवादी राज्य की स्थापना की।'⁸

यद्यपि समाजवाद या साम्यवाद से संबंधित मार्क्स की तमाम भविष्यवाणियाँ आज ग़लत साबित हो चुकी हैं, किंतु इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि वर्तमान में जो उदारीकरण और वैश्वीकरण की आँधी बह रही है, उसके मूल में पूँजीवाद और नव-उपनिवेशवाद की अवधारणा कार्य कर रही है, जिसका खंडन मार्क्स ने अपने सिद्धांतों के माध्यम से किया। आज विश्व के विकसित एवं विकासशील देशों में पूँजीपतियों का एक ऐसा विशिष्ट वर्ग तैयार हो चुका है, जो समूची व्यवस्था का केंद्र-बिंदु है।

मानवाधिकार, नव-उपनिवेशवाद और लोकतंत्र की बहाली की आड़ में विकसित देशों द्वारा विकासशील देशों का आर्थिक शोषण किया जा रहा है। मार्क्स और लेनिन के समाजवादी विचारों की सामाजिक-आर्थिक उपादेयता इस बात में निहित है कि शोषण एवं अन्याय की दमनकारी व्यवस्था को समाप्त करने के लिए वर्तमान में किसी सर्वहारा की क्रांति की ज़रूरत नहीं, वरन् आम जनमानस में वैचारिक क्रांति की चेतना को जगाने की आवश्यकता है अर्थात् ज़रूरत है, मार्क्सवाद और लेनिनवाद को समकालीन संदर्भों में समझने एवं परखने की।

संदर्भ

1. सेबाइन, ए हिस्ट्री ऑफ पोलिटिकल थ्योरी, पृ० 223, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
2. सी०ई०एम० जोड, इंट्रोडक्शन टू मार्टन पोलिटिकल थ्योरी, पृ० 39-40, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
3. लेनिन— जीवनवृत्त, संपादक, रामशरण शर्मा मुंशी, अध्याय 1, पृ० 1, प्रगति प्रकाशन, मास्को।
4. कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स, संगृहीत रचनाएँ, खंड-6, प्रगति प्रकाशन, मास्को।
5. स्टालिन, फाउंडेशन ऑफ लेनिनिज़्म, पृ० 29-30, प्रगति प्रकाशन, मास्को।
6. ग्रे, सोसलिस्टिक ट्रेडीशन, पृ० 207, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
7. लास्की, कम्युनिज़्म, पृ० 204, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
8. स्टालिन, फाउंडेशन ऑफ लेनिनिज़्मा, पृ० 120, प्रगति प्रकाशन, मास्को।



केंद्र-राज्यों के मध्य राज्यपाल की विवादास्पद भूमिका कांतादेवी वर्मा

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में राज्यपाल का पद, स्थिति एवं मुख्य रूप से उसकी भूमिका केंद्र-राज्यों के मध्य विवाद का उग्र विषय माना जाता है। 1967 से पूर्व भारत में राज्यपाल की भूमिका को लेकर कोई विशेष तनाव नहीं रहा, लेकिन 1967 के चौथे आम चुनाव के पश्चात् स्थिति में परिवर्तन हुआ। इन चुनावों के बाद विभिन्न राज्यों में राज्यपाल की भूमिका महत्वपूर्ण और साथ ही विवादास्पद हो गई। जिन तत्त्वों ने इस स्थिति को जन्म दिया था, उनमें सबसे महत्वपूर्ण तत्त्व था, भारतीय संघ के लगभग आधे राज्यों में मिली-जुली सरकारें स्थापित हुई थीं, जो कि एक दलीत संस्कारों की तुलना में कमजोर थीं। मिली-जुली सरकारों की स्थिति में यह स्वाभाविक था कि राज्यपाल अनेक बार स्वविवेक से कार्य करते और राज्यपाल ने जितनी अधिक सीमा तक स्वविवेक से कार्य किया, उतनी ही सीमा तक यह पद विवाद का विषय बन गया। इस प्रकार के विवाद मुख्यतया राज्यपाल द्वारा मुख्यमंत्री की नियुक्ति, पदच्युति व विधानसभा को भंग करने आदि प्रश्नों को लेकर उत्पन्न हुए।¹

राज्यपाल की विचित्र वैधानिक स्थिति के कारण कई राज्यपालों ने मिली-जुली सरकारों की स्थिति में ऐसे अनेक कदम उठाए, जिससे उनकी भूमिका पर कई सवाल उठे। सन् 1970 में हरगोविंद संत बनाम रघुकुल तिलक के मुकदमे की सुनवाई के लिए सर्वोच्च न्यायालय द्वारा किए गए फैसले में स्पष्ट किया गया था कि राज्यपाल केंद्र द्वारा नियुक्त अवश्य किया जाता है, लेकिन वह अपने कार्य-संपादन में पूर्णतया स्वतंत्र है। लेकिन वास्तविकता यह है कि राज्यपाल अपनी शक्तियों के प्रयोग के संदर्भ में स्वतंत्र नहीं है और वह केंद्राभिमुखी प्रवृत्ति का ही प्रयोग करता है।

1967 में कतिपय राज्यों में स्थापित गैर कांग्रेसी सरकारों को यह आशा थी कि भारत के संघीय ढाँचे में राज्यपाल एक संवैधानिक अध्यक्ष की हैसियत से कार्य करते हुए उनके हितों की भी रक्षा करेगा। लेकिन ऐसा नहीं हुआ, राज्यपाल ने इसके विपरीत अधिकांश मामलों में केंद्र के अभिकर्ता की भूमिका निभाई। राज्यपाल की ऐसी एकपक्षीय और राजनीतिक भूमिका से क्षुब्ध मुख्यमंत्रियों ने इस पद को ही समाप्त करने का आह्वान किया है।²

वास्तव में इन गैरकांग्रेसी मुख्यमंत्रियों और कतिपय राजनीतिज्ञों की यह अवधारणा निराधार नहीं है। उन्हें इसका कटु अनुभव है। राज्यपाल की उपस्थिति उनके अस्तित्व के लिए खतरा बन गई है। यदि हम 1967 और विशेषकर 1985 के पश्चात् की घटनाओं का अवलोकन करें तो यह बात तथ्यगत रूप से सामने आएगी कि राज्यपाल ने संवैधानिक अध्यक्ष की भूमिका निभाने की अपेक्षा केंद्र सरकार के एजेंट के रूप में कार्य किया है। विशेषतः सत्तर एवं अस्सी के दशक में केंद्र सरकार ने राज्य सरकारों को मिटाने के लिए राज्यपाल का खूब इस्तेमाल किया।³

राज्यपाल के पद एवं शक्ति का दुरुपयोग पहली बार 1953 में किया गया, जब पैप्सू में (अब यह पंजाब में है) ज्ञानसिंह राडेवाल की गठबंधन सरकार को कानून एवं व्यवस्था के नाम पर बर्खास्त किया गया था। इसका विरोध करते हुए डॉ॰ भीमराव अंबेडकर ने, जो कि उस समय राज्यसभा के सदस्य थे, सदन में बोलते हुए कहा कि 'यह संविधान के साथ बलात्कार है। इसके पश्चात् 1959 में केरल में सत्तारूढ़ नम्बूदरीपाद सरकार को, जिसे विधानसभा में बहुमत का समर्थन प्राप्त था, इसी तरह बर्खास्त किया गया।' ⁴

इसके पश्चात् तो राज्यपाल के पद एवं शक्तियों का दुरुपयोग इस तरह होता गया कि लगभग प्रतिवर्ष इसे लेकर भारतीय राजनीति में उथल-पुथल मचने लगी। 1967 में राजस्थान, पश्चिम बंगाल, 1976 में तमिलनाडु, 1982 में हरियाणा, 1984 में सिक्किम, जम्मू कश्मीर, 1987 में राजस्थान, 1989 में आंध्रप्रदेश, 1988 में तमिलनाडु, 1989 में कर्नाटक, 1992 में नागालैंड, 1994-95 में तमिलनाडु, 1996 में उत्तर प्रदेश, 1999 में बिहार, 1981 में मणिपुर, 1991 में हरियाणा, ⁵ 1991 में ही पश्चिम बंगाल, 2001 में तमिलनाडु में और 2004-05 में बिहार में राज्यपालों ने जिस तरह केंद्र सरकार के इशारे पर इन राज्यों के मंत्रिमंडल को बर्खास्त किया और इनके साथ जैसा दुर्व्यवहार किया, उसके कारण राज्यपाल की भूमिका ही नहीं, अपितु उसका पद प्रतिष्ठा एवं स्थिति सभी संदेह के घेरे में आ गए हैं।

राज्य सरकारों के सत्तापलट में राज्यपाल की सक्रिय एवं संदेहास्पद भूमिका को देखते हुए कतिपय व्याख्याकार यह कहने लगे हैं कि जिस पद का सृजन केंद्र-राज्य सरकारों के बीच सेतु तथा राज्यों में संवैधानिक मशीनरी को सुचारू रूप से चलाने हेतु एक प्रहरी के रूप में किया गया था, वही व्यक्ति अब शांति-व्यवस्था का खलनायक और केंद्र में सत्तासीन दल का एजेंट बनकर रह गया है। जिसे राजनीतिक गुटबाजी से उपर उठकर संवैधानिक व्यवस्था के अभिरक्षक के रूप में कार्य करना था, वह स्वयं इस दलदल में फँस गया। यह स्थिति उसकी पद-प्रतिष्ठा के लिए कर्तई उपयुक्त नहीं है। ⁶

पत्रकारों, प्रबुद्ध राजनीतिज्ञों ने भी समय-समय पर राज्यपाल के दोहरे मानदंडों, एकपक्षीय व्यवहार तथा अनेक मामलों में सत्तापलट में उनकी भागीदारी पर काफी तिखी प्रतिक्रियाएँ कीं। उदाहरणतः जब हरियाणा में (1982 में) राज्यपाल जी॰डी॰ तपासे ने बहुमत दल के नेता चौ॰ देवीलाल की अपेक्षा (केंद्र की काँग्रेस (ई) सरकार के इशारे पर) काँग्रेस नेता चौ॰ भजनलाल को मुख्यमंत्री पद की शपथ दिलवाई तो राज्यपाल की इस गैरसंवैधानिक भूमिका की खूब भर्त्सना की गई। समाचार-पत्र एवं पत्रिकाओं में राज्यपाल के अमर्यादित व्यवहार की खूब आलोचना की गई। लोकदल के अध्यक्ष चौ॰ चरणसिंह ने कहा कि 'यह एक असंवैधानिक तोड़-फोड़वाला कदम है, जो प्रधानमंत्री के आदेश पर उठाया नज़र आता है। भाजपा महासचिव ही लालकृष्ण आडवाणी ने राज्यपाल से त्यागपत्र की माँग करते हुए कहा कि उन्होंने अपने आचरण से राज्यपाल के पद एवं संस्था की गरिमा को लांछित और लज्जित किया है, यह समझना मुश्किल है कि रातों-रात क्या हो गया, जिससे राज्यपाल ने मन बदला और भजनलाल को शपथ दिला दी। स्वभावतः राज्यपाल ने नई दिल्ली से प्राप्त निर्देशों के प्रति आज्ञाकारित होकर कार्य किया।' ⁷ वास्तव में राज्यपाल जी॰डी॰ तपासे का भजनलाल को मुख्यमंत्री पद की शपथ दिलवाने का कार्य असंवैधानिक था, उन्होंने केंद्र सरकार के इशारे पर

भजनलाल को जिस नाटकीय ढंग से मुख्यमंत्री पद की शपथ दिलवाई, और लोकदल-भाजपा गठबंधन के नेता चौ० देवीलाल को जिस तरह धोखे में रखा, वह उनके पद एवं गरिमा के विरुद्ध ही था। उनकी इस कार्यवाही से केंद्र-राज्य संबंधों में तो तनाव बढ़ा ही, राज्यपाल संस्था भी विवाद के घेरे में आ गई।

इसी प्रकार 2005 में 'बिहार-बूटासिंह प्रकरण पर जो राजनीतिक बवाल मचा और जिस तरह राज्यपाल के पद को लेकर प्रतिक्रिया व्यक्त की गई, उसने राज्यपाल के पद को कटघरे में खड़ा कर दिया और इस पर एक खुली बहस का मार्ग प्रशस्त करते हुए कई ज्वलंत प्रश्न खड़े कर दिए। बूटासिंह प्रकरण की जितनी आलोचना हुई, उससे भारतीय संघवाद ही नहीं, अपितु लोकतांत्रिक व्यवस्था ही एक तरह से तार-तार होती नज़र आई।

वास्तव में बिहार के संदर्भ में बूटासिंह (राज्यपाल बिहार) ने जो क़दम उठाया, वह केंद्र सरकार के आदेश की ही परिणति थी, केंद्र की सत्तारूढ़ काँग्रेस सरकार, अपने सहयोगी दल राजद को नाराज़ नहीं करना चाहती थी। राजद जो कि बिहार का प्रमुख राजनीतिक दल है, किसी और दल की सरकार बिहार में बनने नहीं देना चाहता था, इसलिए राजद प्रमुख लालूप्रसाद यादव ने काँग्रेस (इ) सुप्रीमों सोनिया गांधी पर दबाव बनाया कि वह भाजपा गठबंधन या किसी अन्य दल की बिहार में सरकार न बनने दें और विधायकों की ख़रीद-फ़रोख़्त के बहाने से बिहार विधानसभा भंग करवा दें। अपने राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए काँग्रेस सुप्रीमों ने ऐसा ही किया। अंदरखाने राज्यपाल को इस तरह की रिपोर्ट राष्ट्रपति को भेजने के लिए आदेश दिया, राज्यपाल श्री बूटासिंह ने यसमैन की भूमिका निभाते हुए ऐसा ही किया। परिणामस्वरूप बिहार विधानसभा गठन से पूर्व ही खंडित कर दी गई। बाद में सुप्रीम कोर्ट ने भी राज्यपाल की कार्यवाही को असंवैधानिक ठहराया। इस तरह केंद्र सरकार ने राज्यपाल के माध्यम से अपने राजनीतिक दुराग्रहों की पूर्ति की चेष्टा की, और राज्यपाल ने भी केंद्र के एजेंट की भूमिका निभाते हुए अपने पद को कलंकित किया, जिससे केंद्र एवं राज्यों के बीच विवाद का बढ़ना स्वाभाविक था।

बिहार और हरियाणा की नहीं, अपितु लगभग सभी राज्यों के संदर्भ में राज्यपाल की भूमिका राजनीतिक, विवादास्पद एवं, केंद्रीय एजेंट की रही है। 1988 में तमिलनाडु में राज्यपाल श्री सुंदरलाल खुराना ने जिस ढंग से एक अल्पमतीय नेतृत्व वाली श्रीमती जानकी रामचंद्रन को मुख्यमंत्री बनाया और बहुमत दल के नेता ने दुनपेज़ियन को मौका नहीं दिया, वह सब कार्यवाही राजनीतिक दुराग्रहों से युक्त थी। राज्यपाल सुंदरलाल खुराना की इस भूमिका को संविधान के विरुद्ध बताते हुए उनकी ख़ूब आलोचना की गई। विवश होकर राज्यपाल को अपना पद छोड़ना पड़ा। परिणाम चाहे जो भी हो, राज्यपाल का पद एवं स्थिति एक गंभीर समस्या बनकर उभरी।

जम्मू कश्मीर के राज्यपाल श्री जगमोहन ने जिस प्रकार डॉ० फ़ारुख़ अब्दुल्ला सरकार को बर्खास्त किया और दलबदलू जी०एम० शाह को मुख्यमंत्री बनाया, वह प्रकरण भी बड़ा ही शर्मशार करनेवाला था। यह ठीक था कि कुछ विधायकों ने डॉ० फ़ारुख़ अब्दुल्ला सरकार से अपना समर्थन वापिस ले लिया था, लेकिन डॉ० फ़ारुख़ अब्दुल्ला ने राज्यपाल से निवेदन किया कि वह उन्हें अपना बहुमत सिद्ध करने का एक मौका अवश्य दें, लेकिन राज्यपाल ने उनकी

यह बात नहीं मानी और उन्हें मुख्यमंत्री पद से बर्खास्त करके शाह को मुख्यमंत्री पद की शपथ दिला दी और अपना बहुमत सिद्ध करने के लिए एक महिने का समय भी दे दिया, वास्तव में यह सब इंदिरा काँग्रेस की राजनीति का एक अंग था, जिसमें गैरकाँग्रेसी सरकारों को दल-बदल करवाकर राज्यपाल के माध्यम से गिरवाया जाए और कठपुतली सरकारों की स्थापना की जाए। अधिकतर लोग तो ऐसा सोचते हैं कि राज्यपाल श्री जगमोहन को कश्मीर भेजा ही इसलिए गया था।⁸

वे दिल्ली के यसमैन माने जाते थे। डॉ० फ़ारुख़ अब्दुल्ला ने कहा भी था कि राज्यपाल की नियुक्ति में सामान्य परंपराएँ भी ताक पर रख दी गईं। मुझसे कोई सलाह-मशविरा या चर्चा नहीं हुई। इससे काँग्रेस (ई) की केंद्रीय सरकार की मंशा जाहिर होती है कि किस तरह वह राज्यों में अशांत एवं अस्थिरता पैदा कर रही है। इस तख़्ता-पलट में जम्मू-कश्मीर के राज्यपाल ने जो भूमिका अदा की, उससे लोकतंत्र का शरीर भले ही बरकरार रहा हो, परंतु आत्मा का हनन हुआ है।⁹

कश्मीर के पश्चात् आंध्रप्रदेश में एन०टी० रामाराव के नेतृत्व में गठित तेलुगू देशम मंत्रिमंडल को बर्खास्त किए जाने की घटना भी भारत के संवैधानिक इतिहास में अद्वितीय घटना थी, जबकि राज्यपाल ने असाधारण ढंग से निर्णय लेते हुए यह क़दम उठाया। राज्यपाल रामलाल ने केंद्रीय नेतृत्व को खुश करने के लिए अगस्त 1984 में रामाराव मंत्रिमंडल को बर्खास्त कर दिया, जबकि श्री रामाराव को विधानसभा में पूर्ण बहुमत प्राप्त था और रामाराव तीन दिन के भीतर अधिवेशन बुलाकर अपने बहुमत का परिचय देने को तैयार थे।¹⁰

इनके पश्चात् उत्तर प्रदेश में 21 फरवरी 1998 को राज्यपाल रोमेश भंडारी ने जिस तरह कल्याणसिंह सरकार को बर्खास्त करके श्री जगदीशका पाल को मुख्यमंत्री पद की शपथ दिलवाई, उससे राज्यपाल जैसे गरिमापूर्ण पद की प्रतिष्ठा को गहरा आघात तो पहुँचा ही, साथ ही केंद्र-राज्य संबंध भी तनावग्रस्त हो गए। इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने उत्तर प्रदेश राज्य की कल्याणसिंह सरकार की बर्खास्तगी को अनुचित ठहराते हुए बहाली का आदेश दिया, इस समूचे घटनाक्रम में राज्यपाल की खूब किरकरी हुई और अंत में विवश होकर राज्यपाल को अपने पद से त्यागपत्र देना पड़ा।

इस तरह राज्यपाल की भूमिका अक्सर विवाद का विषय ही रही है। राज्यपाल ने अधिकतर केंद्र सरकार के इशारे पर एक एजेंट की भूमिका निभाई है। इस संदर्भ में एक विचित्र बात यह रही कि जहाँ प्रभावित पक्ष, विपक्ष और बुद्धिजीवी वर्ग ने राज्यपालों के कार्य को असंवैधानिक और गैरमर्यादित बताया, वहीं राज्यपाल ने हमेशा अपनी कार्यवाही को संविधान सम्मत कहकर अपना बचाव किया, परंतु अंततः अधिकतर मामलों उसकी परिणति राज्यपाल के इस्तीफ़े के रूप में हुई। राज्यपाल से जुड़ी घटनाओं से स्पष्ट होता है कि कुछ अपवादों को छोड़ दे तो राज्यपाल की भूमिका, राजनीतिक एवं केंद्रीय अभिकर्ता की रही है। केंद्र-राज्य संबंधों के संदर्भ में बने सरकारिया आयोग ने भी इस बात को स्वीकार किया है। राज्यपाल की विवादास्पद भूमिका के कारण कई राज्य सरकारें तो इस पद की समाप्ति की माँग करती रही हैं। यह सत्य है कि राज्यपाल की भूमिका निसंदेह एक गंभीर समस्या है लेकिन इसका समाधान राजभवन को बंद करना कदापि नहीं हो सकता। बीमारी पर नियंत्रण पाने की असमर्थता में

बीमार को ही समाप्त करना उचित नहीं होगा। सरकारिता आयोग, प्रशासनिक सुधार आयोग, राज्यपाल समिति, भगवान सहाय समिति सभी ने एक गैरराजनीतिक, ईमानदार एवं दक्ष व्यक्ति को ही इस पद पर नियुक्त करने की सिफारिश की, जो पूरी तरह सही है। जहाँ तक राज्यपाल की भूमिका का प्रश्न है तो समूचे संघीय ढाँचे और संसदीय परंपराओं को बनाए रखने तथा इस पद को लेकर उठनेवाले विवाद के समाधान का बेहतर उपाय यही है कि राज्यपाल को दलगत राजनीति और सत्ता की उठापटक से ऊपर उठकर सही अर्थों में एक संवैधानिक अध्यक्ष एवं अभिरक्षक की भावना एवं हैसियत से अपनी भूमिका निभानी चाहिए।

संदर्भ

1. डॉ० पूर्णमल, केंद्र राज्य संबंध, पृ० 75
2. भाषण, मुख्यमंत्री केरल, श्री ई०एम०एस० नम्बूदरी पाद, इलस्ट्रेटेड बीकली ऑफ़ इंडिया, पृ० 26-27
3. ए०एस० नारंग, भारतीय शासन एवं राजनीति, पृ० 90
4. वही, पृ० 91
5. डॉ० पूर्णमल, केंद्र राज्य संबंध, पृ० 119
6. वेददान सुधीर, भारतीय संविधान एवं राजनीति, पृ० 22
7. धर्मचंद्र जैन, मुख्यमंत्री, पृ० 26
8. नई दुनिया 17.8.1984
9. वही
10. डॉ० पूर्णमल, केंद्र राज्य संबंध, पृ० 113

□ 710/35, जनता कॉलोनी, त्रिवेणी पार्क के सामने
रोहतक (हरियाणा)

डॉ० अंबेडकर और सामाजिक न्याय देवेन्द्र कुमार

डॉ० अंबेडकर का जन्म 14 अप्रैल 1881 को मध्य प्रदेश राज्य के जिला इंदौर की महु छावनी में हुआ था। उस वक्त महु बड़ौदा रियासत में था। इनकी माता का नाम श्रीमती भीमाबाई तथा पिता श्री सूबेदार रामजी सेना में सूबेदार थे। डॉ० अंबेडकर का पूर्व नाम अंबावडेकर था, बाद में एक ब्राह्मण अध्यापक ने अपने उपनाम अंबेडकर को उनके नाम के बाद लगाने की सलाह दी, जिसे बाबा साहब ने सहर्ष स्वीकार किया। अब उन्हें भीमराव अंबेडकर के नाम से जाना जाने लगा। 6 दिसंबर 1956 को उन्होंने परिनिर्वाण प्राप्त किया। डॉ० साहब का प्रारंभिक जीवन बहुत कष्टों में गुजरा, लेकिन कठोर परिश्रम एवं अथक् प्रयास ने डॉ० अंबेडकर को एक विश्वविख्यात अर्थशास्त्री, राजनीतिज्ञ तथा समाज-सुधारक एवं शिक्षाविद् बना दिया। डॉ० अंबेडकर ने केवल दलितों के लिए सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा शैक्षिक चेतना नहीं जगाई, बल्कि संपूर्ण मानव-जाति के लिए उनके प्रतिनिधि के रूप में भारतीय राजनीतिज्ञों तथा अंग्रेजी सरकार के प्रतिनिधियों से समता, समानता एवं भाईचारे की लड़ाई लड़ते हुए भारतीय संविधान की रचना में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

न जाने कब से हमारे देश के दलित और शोषित लोग सामाजिक न्याय की आस लगाए बैठे हैं। दुर्भाग्य की बात है कि इस देश में मेहनत करनेवाले इंसान को अपमानित और प्रताड़ित किया जा रहा है। बल्कि इस देश के अछूत किसी समय गुलामों से भी बढ़कर बुरी स्थिति में थे। गुलामों को तो छू भी लिया जाता था, अछूतों को छूना तक पाप था। सामाजिक न्याय के लिए इस देश में अनेक आंदोलन चलाए गए। भगवान बुद्ध ने प्रेम, भाईचारे और समानता का संदेश दिया और कबीर ने सामाजिक अन्याय करनेवाले और ऊँच-नीच बरतने वालों को फटकार सुनाई, किंतु इन सभी के प्रयत्न अधिक समय तक प्रभावकारी सिद्ध न हो सके। बीसवीं शताब्दी में, जब डॉ० अंबेडकर ने अछूतों के सामाजिक और राजनीतिक अधिकारों के लिए एक संघर्ष छेड़ा तो उनके परिणाम ठोस रूप लेकर सामने आए। डॉ० अंबेडकर भारत के इतिहास में ऐसे पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने छुआछूत, अपमान, सामाजिक अन्याय और पीड़ा को स्वयं झेला था और जिसने सभी कठिनाइयों और जटिलताओं को पार करने के बाद ज्ञान और राजनीति के क्षेत्र में संसार-भर में ख्याति पाई थी। जब उस व्यक्ति ने दबे-कुचलों को यह अहसास कराया कि वे भी इंसान हैं और उन्हें समाज में बराबरी का हक मिलना चाहिए तो मानो उन्होंने बेजुबानों को स्वर दिया और उनकी आर्थिक पहचान बताई। स्वतंत्र भारत के संविधान में सभी भारतीय नागरिकों को राजनीतिक व सामाजिक समानता की गारंटी दी गई। उसी समय धर्म, विचारों की अभिव्यक्ति आदि की स्वतंत्रता दी गई। संविधान के निर्माताओं ने सामाजिक न्याय को आर्थिक व राजनीतिक न्याय से अधिक महत्व दिया। व्यक्तिगत स्वतंत्रता के अवसरों को समानता के साथ रखने पर बल दिया गया। सैक्शन 240 के अंतर्गत 20 जनवारी

1953 को काका कालेकर आयोग का गठन किया गया, सरकार ने आयोग की सिफारिशों को नकार दिया था। 1 जनवरी 1979 को मंडल आयोग का गठन किया गया, देश की जनसंख्या के अनुसार पिछड़े वर्गों हेतु 27% आरक्षण की संस्तुति की गई। संविधान के सेक्शन 15 (4) व 16 (4) के अंतर्गत यह व्यवस्था भी की गई थी कि सभी तरह का आरक्षण 50% से ज्यादा न हो। अनुसूचित जाति को 15% आरक्षण दिया तथा अनुसूचित जनजाति को 7.5% आरक्षण दिया गया था, जो कुल मिलाकर 22.5% है। अनुसूचित जाति एवं जनजाति का यह आरक्षण न केवल सरकारी सेवा में बल्कि लोकसभा तथा विधानसभाओं में भी लागू है। सामाजिक न्याय के परिप्रेक्ष्य में देखें तो डॉ॰ अंबेडकर का योगदान महिलाएँ भी कभी नहीं भुला सकतीं। खासतौर पर हिंदू समाज की वह नारी, जिसे दासी और बेबस मजबूर बनाकर छोड़ दिया गया था, डॉ॰ अंबेडकर को सदा याद रखेगी कि हिंदू कोड बिल में इस पीड़ित वर्ग की मुक्ति के लिए क्रांतिकारी व्यवस्था की गई।

डॉ॰ अंबेडकर सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक दृष्टि से पददलित, कमजोर एवं पिछड़े लोगों के प्रति समर्पित विचारक थे। आजादी के पूर्व-पश्चात् वह धर्म के सुधारवादी आलोचक और राजनीति में एक निश्चित दृष्टिकोण अपनानेवाले व्यक्ति थे। संविधान के महान् निर्माता और गंभीर विद्वान् जिज्ञासु भी थे। इन सबसे अधिक वह अनेक स्तरों पर मानव-मुक्ति के एक सशक्त योद्धा थे। वैसे वह एक साधारण परिवार में जन्मे थे, पर विधि-निर्माण के क्षेत्र में वह सर्वाधिक लोकप्रिय व्यक्ति बन गए। संविधान और विधिक क्रांति को समझनेवाले लोग, उन्हें सामाजिक न्याय का मसीहा और सामाजिक दासता का कट्टर शत्रु के रूप में स्मरण करते हैं। वे ऐसे न्यायप्रिय विद्वानों में से थे, जिन्होंने न्याय की धारणाओं को नया रूप दिया और सामाजिक न्याय के अग्रदूत बने। उन्होंने सामाजिक अन्याय का अनुभव किया, उसकी पीड़ाओं को भोगा और उसके क्रूर प्रहारों को सहन ही नहीं किया, अपितु साहसपूर्वक उनका डटकर सामना भी किया। सामाजिक न्याय के संदर्भ में डॉ॰ अंबेडकर के व्यक्तित्व एवं कार्यों के दो विशिष्ट पक्ष उल्लेखनीय हैं— (1) अन्याय के विरुद्ध विद्रोह एवं क्रांतिकारी संघर्ष (2) सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए रचनात्मक प्रयास।

भारत में, मुख्यतः हिंदू समाज में, विद्यमान सामाजिक अन्याय ने ही डॉ॰ अंबेडकर को सामाजिक न्याय के स्वरूप और विषय पर चिंतन करने के लिए बाध्य किया। जहाँ सभी क्षेत्रों में अन्याय, शोषण तथा उत्पीड़न होगा, वहीं न्याय की धारणा उद्भूत होगी। डॉ॰ अंबेडकर न्याय की सामान्य धारणा में सर्वप्रथम प्रभावित हुए और न्याय के स्वरूप एवं विषय को लेकर, प्रो॰ बर्गबॉन की विवेचना से सहमत हुए, जिन्होंने कहा, 'न्याय का सिद्धांत सारगर्भित है और अधिकांशतः उन सभी सिद्धांतों को भी अपने में सम्मिलित करता है, जो एक नैतिक व्यवस्था की आधारशिला बन चुके हैं। न्याय ने सदैव समानता, क्षतिपूर्ति के समानुपात के विचारों को जाग्रत किया है। समदृष्टि समानता की ओर संकेत करती है। नियम तथा संयम, सही एवं सदाचरण का मूल रूप में समानता से संबंध होता है। यदि आदमी समान हैं तो सभी मनुष्य एक ही सार-तत्त्व के हैं और समान सार-तत्त्व उन्हें समान मौलिक अधिकारों और समान स्वतंत्रता के लिए अधिकारी बनाता है। न्याय की इस विवेचना में अनेक बातें निश्चय ही अंतर्निहित हैं।

न्याय की उक्त सामान्य धारणा से सहमत होते हुए, डॉ॰ अंबेडकर ने न्याय की

परिभाषा इस प्रकार की है— 'न्याय सामान्यतः स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृ-भाव का दूसरा नाम ही है।' उनके सामाजिक न्याय की धारणा का यही आधार-भूत विचार हैं। वह मानव-व्यक्ति की गरिमा में अंतर्निहित विचार हैं, जिसे उन्होंने, संविधान का मुख्य निर्माता होने के नाते न्याय, स्वतंत्रता, समानता, भ्रातृ-भाव और आदमी की गरिमा के मूल्यों पर निर्धारित किया। सामाजिक न्याय के ये आधारभूत आदर्श भारत के सभी नागरिकों के बीच बंधुत्व और मैत्री पर आधारित संबंधों की ओर संकेत करते हैं और ये माँग करते हैं कि सभी नागरिक राष्ट्र के समान नागरिक होने के नाते एक-दूसरे का सम्मान करें। यह सामाजिक न्याय की भावना सामाजिक जीवन में पारस्परिक सम्मान और दायित्व के महत्त्व को प्रमाणित करती है।

भारत को राजनीतिक आज़ादी मिली और यहाँ राजनीतिक जनतंत्र की स्थापना भी की गई। लेकिन जैसा कि डॉ॰ अंबेडकर ने कहा, भारतीयों को मात्र राजनीतिक जनतंत्र से ही संतुष्ट नहीं हो जाना चाहिए, हमें साथ ही अपने राजनीतिक जनतंत्र को एक सामाजिक जनतंत्र भी बनाना चाहिए, कोई भी राजनीतिक जनतंत्र अधिक दिनों तक आगे नहीं बढ़ सकता, यदि उसका आधार उस जीवन पद्धति से न हो, जो स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृ-भाव को जीवन-आदर्शों के रूप में स्वीकार करती है। इन आदर्शों को एक त्रयी के पृथक्-पृथक् मुद्दों के रूप में नहीं समझना चाहिए। वे इस अर्थ में एक त्रयी की एकता का निर्माण करते हैं कि उन्हें एक-दूसरे से पृथक् करना जनतंत्र के मूल उद्देश्यों को ही परास्त करना है।

डॉ॰ अंबेडकर की दृष्टि में, मानव-व्यक्तित्व के निर्माण में स्वतंत्रता की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। स्वतंत्रता विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, आस्था और उपासना में निहित मानी गई है। स्वतंत्रता से मनुष्य आगे बढ़ता है, विचार-संपन्न होता है और अपने को अनेक रूपों में अभिव्यक्त करता है। स्वतंत्रता के माध्यम से ही आदमी में छिपी प्रतिभाएँ जाग्रत होती हैं और वह अपने भाग्य का निर्माण करता है। मनुष्य की स्वतंत्रता को नियंत्रित करने के लिए समानता की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है। समानता मनुष्य को मनुष्य, समूह को समूह और समुदाय को समुदाय के साथ जोड़ती है। समानता पारस्परिक दायित्वों की चेतना और अधिकारों की पहचान को संभव बनाती है, जिनसे किसी समाज के सदस्य देश के सभी नागरिक, बंधुत्व की भावना में बँधते हैं। समानता लोगों को एकता के सूत्र में बाँधने का एक मुद्दा है। भ्रातृत्व वह आदर्श है, जो स्वतंत्रता और समानता के लिए उपयुक्त वातावरण पैदा करता है, जहाँ लोग उनके व्यवहार से लाभान्वित हो सकें। 'भ्रातृत्व का अर्थ क्या है?' डॉ॰ अंबेडकर ने कहा है 'भ्रातृत्व का अर्थ सभी भारतीयों के बीच एक सामान्य भाईचारे की भावना है, सभी भारतीय एक राष्ट्र हैं। यही वह आदर्श है, जो सामाजिक जीवन को एकता और सुदृढ़ता प्रदान करता है।' यही कारण है कि डॉ॰ अंबेडकर ने इस बात पर बल दिया कि ये आदर्श एक-दूसरे से पृथक् नहीं किए जा सकते। यह कहना उचित होगा कि सामाजिक न्याय की प्रक्रिया में एक आदर्श दूसरे की संपूर्ति करता है, उसे संपूर्ण बनने की दिशा में सहयोग देता है। यदि उन्हें उदार दृष्टि से समझा जाए और उनके अनुरूप व्यवहार किया जाए तो वे सामाजिक न्याय की धारणा को व्यावहारिक बना सकने में सक्षम सिद्ध होंगे।

डॉ॰ अंबेडकर की सामाजिक न्याय की धारणा एक ऐसी जीवन पद्धति है, जिसके अनुसार समाज के प्रत्येक व्यक्ति को उचित स्थान मिलना चाहिए। लेकिन उचित स्थान का

अर्थ यहाँ जन्मधारिता सामाजिक प्रतिष्ठा नहीं है। इसका सीधा अर्थ वह योग्यता या गुण है, जिसके अनुसार किसी को सही-सही सामाजिक प्रतिष्ठा मिले। डॉ० अंबेडकर की सामाजिक धारणा के मुख्य तत्त्व इस प्रकार हैं— सम्मानपूर्वक रहें और रहने दें, सभी को मान-सम्मान मिले, किसी के प्रति हिंसा न की जाए, स्थाई अथवा तथाकथित स्वाभाविक वर्गों में बाँटे बिना प्रत्येक को अपना विवेकपूर्ण हिस्सा मिले, संवैधानिक शासन के प्रति निष्ठापूर्वक रहना, विधि के समक्ष समता, समान अधिकारों की स्वीकृति, संविधानिक कर्तव्यों का निर्वाह, सामाजिक दायित्वों और विविध कर्तव्यों की अनुपालना, बेगार तथा भुखमरी से बचाव, कुछ प्राथमिकताओं सहित सभी को समान अवसरों की सुलभता, संपत्ति शिक्षा की उपलब्धता और अंततः न्याय, स्वतंत्रता, समता, भ्रातृत्व तथा राष्ट्रीय एकता सहित मानव व्यक्तित्व की गरिमा। डॉ० अंबेडकर की दृष्टि में, सामाजिक न्याय के सिद्धांत का सीधा संबंध भारत की अखंडता से है, अर्थात् इस मातृभूमि में रहनेवाले सभी नागरिक सामान्यतः भाई-भाई हैं, चाहे वे हिंदू हों, जैन तथा बौद्ध यहूदी तथा पारसी या फिर मुस्लिम और ईसाई। इस प्रकार डॉ० अंबेडकर के अनुसार सामाजिक न्याय का विचार लोगों में मात्र भौतिक लाभों का न्यायोचित वितरण ही नहीं है, अपितु वह मूलतः ऐसी जीवन पद्धति का समर्थक है, जो पारस्परिक मान-सम्मान, मैत्री भाव, समान नागरिक होने की उत्कंठा, राष्ट्रीय जीवन के सभी क्षेत्रों में न्यायोचित भागीदारी आदि पर आधारित हो। अतः सामाजिक न्याय का मापदंड मात्र भौतिक प्रगति नहीं है, मात्र शारीरिक भूख-प्यास मिटा देना नहीं है, कुछ सुख-सुविधाएँ या सरकारी नौकरियाँ देना ही नहीं है, बल्कि इनसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि भारत के नागरिकों अथवा सभी वर्गों और धर्मों के लोगों के बीच उन मानव-मूल्यों तथा आधारों की बाहुल्यता है, जिनसे समाज की व्यवस्था न्यायोचित बने और राष्ट्रीय जीवन समरसता की दिशा में अभिवृद्धि हो।

डॉ० अंबेडकर ने अपनी सामाजिक न्याय की धारणा के अनुरूप उन सामाजिक न्याय के सिद्धांतों को स्वीकार नहीं किया, जिन्हें उन्होंने वर्ण-व्यवस्था, प्लेटो की स्कीम, अरस्तू के चिंतन, नीत्शे के विचार, दैविक कानून, मध्यकालीन दृष्टिकोण, मार्क्सवादी सर्वहारा समाजवाद और गांधी के सर्वोदय समाज में अंतर्निहित पाया। इन सुपरिचित सिद्धांतों को डॉ० अंबेडकर ने क्यों नहीं माना? क्या ये सिद्धांत पददलित कमजोर तथा पिछड़े वर्गों के हित में नहीं हैं? संविधान में वर्णित सामाजिक न्याय और इन सिद्धांतों में कौनसे मौलिक मतभेद हैं? ये कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं, जिनके उत्तर यहाँ डॉ० अंबेडकर के दृष्टिकोण से प्रस्तुत हैं।

सर्ववादित है कि वैदिककाल से ही सामाजिक न्याय का विचार प्रारंभ हो गया था, जब वर्ण-व्यवस्था के अंतर्गत चार वर्णों— ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को उनके गुण-क्रमानुसार भिन्न-भिन्न कर्तव्य सौंप दिए गए थे। राजा का मुख्य कार्य वर्ण-व्यवस्था की पवित्रता तथा दिव्यता को सुरक्षित रखना था, ताकि लोगों का सामाजिक जीवन उनके कर्तव्यानुसार सुचारू रूप से चलता रहे। सामाजिक न्याय के इस विचार का समर्थन और प्रामाणीकरण समस्त हिंदू शास्त्रों ने किया। मनु-स्मृति में वर्ण कर्तव्यों को विधि के रूप में संहिताबद्ध कर दिया गया और भगवद्गीता ने उसे 'स्वधर्म' की संज्ञा दी, जिसमें वर्ण तथा आश्रम दोनों ही आ जाते हैं। वर्णाश्रम में निहित कर्तव्यों को विधि तथा धर्म दोनों की दृष्टि से निभाना अनिवार्य है, क्योंकि उससे वैयक्तिक और सामाजिक दोनों प्रकार के जीवन का

धारण होता है। इस प्रकार सामाजिक न्याय के सिद्धांत को हिंदू-शास्त्रों तथा विद्वानों ने वर्णाश्रम धर्म के साथ जोड़ दिया और उसे वैदिकवाद, ब्राह्मणवाद और हिंदूवाद के एक अभिकरण के रूप में आकट्य माना गया।

डॉ० अंबेडकर ने सामाजिक न्याय के वर्णाश्रमवादी दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं किया। इस व्यवस्था ने प्रत्येक वर्ण के लोगों के लिए कर्तव्य निर्धारित एवं वितरित करते समय, सामाजिक असमानता को एक अधिकृत सिद्धांत मान लिया। वर्णाश्रम-व्यवस्था में सर्वोत्तम और पवित्र प्रतिष्ठा केवल एक ही वर्ग अर्थात् उच्च वर्ग को प्रदान की गई। अन्य तीनों वर्णों के लोगों को उनसे हीन माना गया। सबसे अधिक अधिकार ब्राह्मणों को दिए गए। सबसे निम्न स्तर पर शूद्रों को रखा गया, यह कहते हुए कि ये लोग जन्म से अयोग्य तथा अक्षम होते हैं। अतः उन्हें इन तीनों वर्णों के लोगों की सेवा ही करनी चाहिए। प्रत्येक चीज को, चाहे वह धर्म हो या नैतिकता, कानून हो या राज्य, उच्च वर्गों के हितों की सुरक्षा की दृष्टि से ही परिभाषित किया गया। इस तथ्य को मनु-स्मृति के निम्न उद्धरणों से भली-भाँति परखा जा सकता है—

1. अपनी सुप्रसिद्धि, उत्पत्ति की उच्चता, कठोर नियमों की अनुपालना और अपनी विशेष पवित्रता के कारण, ब्राह्मण सभी (वर्णों) का लॉर्ड है।
2. चूँकि प्रजापति के मुँह से ब्राह्मण पैदा हुआ, वह प्रथम-जन्मा है और चूँकि वह देवज्ञाता है, इसलिए वह अधिकार से समस्त सृष्टि का लॉर्ड है।
3. समस्त पैदा हुए प्राणियों में सबसे उत्तम वे हैं, जो जीवनमुक्त हैं, इनमें भी वे हैं, जो बुद्धियुक्त हैं और बुद्धियुक्त तथा सभी मानव-प्राणियों में भी ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं।
4. पैदा हुए प्राणियों का लॉर्ड होने के नाते, ब्राह्मण कानून का खज़ाना हैं और जो कुछ इस संसार में विद्यमान है, ब्राह्मण उसका स्वामी है, क्योंकि उसकी उत्तम उत्पत्ति है।
5. राजा को सुबह उठने के पश्चात् ब्राह्मणों की पूजा और उनकी देखभाल करनी चाहिए और उसे उनके निर्णयानुसार चलना चाहिए, क्योंकि वे पवित्र विज्ञान (वेद) के पंडित हैं, शासन तथा नीति के ज्ञाता हैं।
6. ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ है। अतः किसी को उनके प्रति कठोर शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए और शूद्रों को उनकी सेवा करनी चाहिए, स्वर्ग में जाने के लिए अथवा इस जीवन तथा भावी जीवन को सुधारने के लिए, शूद्र के समस्त लक्ष्य ब्राह्मणों की सेवा से पूरे होते हैं।
7. ब्राह्मण की सेवा ही शूद्र का सर्वोत्तम धंधा है। वह इसके अलावा अन्य जो कुछ करेगा, उसका उसे कोई लाभ नहीं मिलेगा। शूद्र को किसी तरह का धन-संग्रह नहीं करना चाहिए, भले ही वह ऐसा करने में सक्षम है, क्योंकि जिस शूद्र ने धन-संग्रह किया है, वह ब्राह्मण को दुख देता है।

इतना ही पर्याप्त है, यह दिखाने के लिए कि मनु-स्मृति में किस प्रकार के न्याय सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया। यह निश्चय ही अतिमानव (Superman) की अभिव्यक्ति है। वह शिक्षा देता है कि ब्राह्मण की दृष्टि में जो शुभ है, उचित है, वही विधिक रूप में

न्यायसंगत है। हिंदू-शास्त्रों ने प्रथम ब्राह्मणों को पवित्र एवं ज्ञाता घोषित किया और फिर समस्त नैतिक एवं विधिक शक्ति उनके हाथों में सौंपकर उन्हें सब तरह से शक्तिशाली बना दिया। अपने हितों की रक्षा के लिए सभी अधिकार ब्राह्मणों में निहित कर दिए। अतः हिंदू सामाजिक न्याय का सिद्धांत यह मानता है कि जो कुछ उचित, शुभ तथा न्यायसंगत है, उसे केवल एक ही वर्ग (ब्राह्मणों) के हितों की रक्षा करनी चाहिए। शूद्रों के अलावा क्षत्रियों, वैश्यों तथा स्त्रियों को भी कई अधिकारों एवं संस्कारों से वंचित रखा गया, ताकि वे ब्राह्मण वर्ण की स्थिति तथा प्रतिष्ठा को चुनौती न दे सकें।

डॉ० अंबेडकर के अनुसार वर्ण-व्यवस्था में स्वतंत्रता, समता और भ्रातृत्व के आदर्शों के लिए कोई स्थान नहीं है। उसमें सामाजिक असमानता का पोषण और मानव व्यक्तित्व की गरिमा का पतन होता है। उसमें उन लोगों, विशेषकर शूद्र-दलितों की आर्थिक सुरक्षा का कोई प्रबंध नहीं है, जो उच्च वर्ग से निम्न स्तर पर आते हैं। वर्ण-व्यवस्था में स्तरीय चरित्र मिलता है और 'सामाजिक असमानता' को समाज का अधिकृत आदर्श माना गया है। इसलिए डॉ० अंबेडकर ने वर्णाश्रम धर्म के संपूर्ण सामाजिक न्याय के संरचनात्मक एवं कार्यात्मक ढाँचे को अस्वीकृत कर दिया और कहा कि सामाजिक-न्याय का जो सार-तत्त्व है, वर्णाश्रम धर्म उसका प्रतिरोधी है।

संविधान के मुख्य निर्माता होने के नाते, डॉ० अंबेडकर ने थ्रैसीमैकस जैसे विचारकों के सामाजिक न्याय की धारणाओं को स्वीकार नहीं किया, क्योंकि उनमें भी शक्तिशाली के हितों की वकालत की गई और साथ ही यदि शक्तिशाली के हितों एवं अधिकारों की रक्षा होती है, तो असमानता और हिंसा को न्यायोचित ठहराया। जहाँ तक नीत्सो के समाज-दर्शन का संबंध है, डॉ० अंबेडकर ने कहा, 'वह शक्ति की इच्छा, हिंसा, आध्यात्मिक मूल्यों का निषेध, अतिमानव तथा बलिदान, सामान्य आदमी की दासता और पतन के साथ जुड़ गया।' मनु के समान नीत्सो भी सामाजिक असमानता एवं अन्याय का प्रतीक बन गया। इन दोनों का न्याय विचार सामाजिक न्याय की उस भावना का निश्चय ही निषेध है, जिसे सुकरात और डॉ० अंबेडकर जैसे विचारकों ने आम कमजोर आदमी के हितों की रक्षा के लिए आवश्यक बतलाया। आधुनिक युग में स्वतंत्रता, समता और भ्रातृत्व के निषेध में सामाजिक न्याय कैसे संभव होगा?

दैविक क़ानून के आधार पर कुछ ईश्वरवादी धर्मों तथा धर्मशास्त्रियों द्वारा जिस प्रकार के सामाजिक न्याय की तलाश की गई, उसे भी डॉ० अंबेडकर ने अमान्य कर दिया। दैविक क़ानून को समझाते हुए डॉ० अंबेडकर ने कहा कि 'यह ईश्वर की इच्छा है। ईश्वर आदमी के कर्मानुसार उसके साथ न्याय करता है।' न्याय 'ईश्वर के मन और संकल्प का ही रूप है। ईश्वर उसका प्रबंधक, कर्माध्यक्ष है। न्याय ईश्वर का विशेष गुण है। वह प्रत्येक कार्य, प्रत्येक विचार को एक अदृश्य रूप में किंतु न्याय की सार्वभौम तराजू में तोलता है।' अर्थात् ईश्वरीय क़ानून इतने निश्चित हैं कि उनसे आदमी बच नहीं सकता। जो कुछ संसार में घटित होता है, वह ईश्वर के ही न्याय का प्रतिफल है। डॉ० अंबेडकर ने मानव-समाज में इस प्रकार के सामाजिक न्याय की धारणा को कतई स्वीकार नहीं किया। उन्होंने ईश्वर को न्याय करानेवाला नहीं माना, क्योंकि उसका कोई अस्तित्व नहीं है। डॉ० अंबेडकर ने सामाजिक न्याय की ऐसी किसी धर्मशास्त्रीय धारणा को स्वीकार नहीं किया, जिसका प्रचार मुस्लिम, यहूदी, ईसाई, सिक्ख तथा हिंदू मजहबों ने किया। उन्होंने धार्मिक पंथों तथा संतों के उस विचार को भी नहीं माना कि सभी लोग ईश्वर

के समक्ष समान है और ईश्वर ही उन्हें न्याय देगा, क्योंकि इस प्रकार की समानता एवं न्याय कोरी कल्पना के सिवाय और कुछ नहीं है।

एक विधिवेत्ता के रूप में, डॉ० अंबेडकर ने सामाजिक न्याय के उन लौकिक एवं नैतिक तत्त्वों को अधिक महत्त्व दिया, जिनका सीधा संबंध मनुष्य की भलाई से होता है। न्याय के संदर्भ में बाबा साहेब ने मनुष्य और ईश्वर के बीच संबंधों को निरर्थक एवं अप्रासंगिक बतलाया। यह बिल्कुल ही खोखली आशा है कि दिव्य जगत् में सभी को न्याय मिलेगा, जबकि वर्तमान संसार के सामाजिक अन्याय और आर्थिक शोषण करनेवालों के हाथों में मनुष्य खेलते रहें, उनके अत्याचार झेलते रहें और उनके समक्ष असहाय बने रहें। यदि दैविक क़ानून के द्वारा विद्यमान जगत् में न्याय संभव नहीं है तो वह किसी अदृश्य संसार में कैसे संभव होगा? ईश्वर की कृपा एवं न्याय का यहाँ कोई संकेत नहीं मिलता। इसी कारण डॉ० अंबेडकर ने 'एक ओर कबीर, नानक, रविदास, चौखामेला तथा ऐसे ही संतों की सामाजिक सेवा के लिए प्रशंसा की तो दूसरी ओर 'ईश्वर के समक्ष समानता' की धारणा को उन्होंने एक कल्पना बतलाया, जिसे मानव प्राणियों ने कभी भोगा नहीं। सामाजिक न्याय के आदर्श को केवल इसी लौकिक समाज में प्रभावी बनाने की आवश्यकता है, ताकि पददलित, कमज़ोर एवं पिछड़े वर्गों के हितों की संविधान और सरकार द्वारा रक्षा की जा सके। विद्यमान स्थिति में तो राज्य का क़ानून ही प्रभावी हो सकता है, न कि दैविक क़ानून।

सामाजिक न्याय की मार्क्सवादी धारणा भारत के पददलित, कमज़ोर तथा पिछड़े वर्गों के संदर्भ में बहुत ही महत्त्वपूर्ण लगती है। इस धारणा ने शोषित वर्गों के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक हितों की अच्छे ढंग से वकालत की है। लेकिन डॉ० अंबेडकर ने इस धारणा को भारतीय सामाजिक स्थिति में उपयुक्त नहीं पाया, क्योंकि मार्क्सवादी न्याय की धारणा में, सामाजिक न्याय के आर्थिक एवं लौकिक पक्षों पर अधिक बल दिया है, पर उसमें सार्वभौम प्रामाणीकरण की कमी है। इसमें भी केवल सर्वहारा वर्ग के हितों की सुरक्षा का लक्ष्य मिलता है न्याय के वर्ग-चरित्र की रूपरेखा मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन तथा माओं जैसे विचारकों ने प्रस्तुत की। उन्होंने सामाजिक न्याय की माँग करते समय सर्वहारा वर्ग के आर्थिक हितों को सर्वोपरि माना और उन्हें आवश्यकता पड़ने पर हिंसात्मक क्रांति द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। उसके लिए सर्वहारा वर्ग को तानाशाही की स्थापना आवश्यक होगी। साथ ही मार्क्सवादी विचारधारा ने धर्म की भूमिका को पूर्णतः अस्वीकार कर दिया और धर्म को मानव के लिए निरर्थक एवं काल्पनिक बतलाया। डॉ० अंबेडकर ने इसी बात का विरोध किया, क्योंकि सामाजिक न्याय की प्रक्रिया में धर्म की अहम् भूमिका होती है। न्याय के संदर्भ में धर्म का सामाजिक मूल्य है। डॉ० अंबेडकर ने स्वीकारा कि 'भारतीय स्थिति में धर्म के बिना कुछ भी करना संभव नहीं है। यहाँ का सामाजिक जीवन धर्म से पूर्णतः जुड़ा हुआ है। इसलिए डॉ० अंबेडकर की दृष्टि में धर्म को उस सामाजिक न्याय की धारणा से पृथक् नहीं कर सकते, जिसे हम भारतीय स्थिति में चाहते हैं। भारत में सामाजिक न्याय धर्म के बिना संभव नहीं होगा।' अतः डॉ० अंबेडकर ने तीन मुख्य कारणों में मार्क्सवादी धारणा को अस्वीकार किया—

1. उसमें आर्थिक तत्त्व पर अधिक बल दिया गया है।
2. न्याय की प्रभावी प्रक्रिया में सर्वहारा वर्ग की तानाशाही को आवश्यक माना गया

है।

3. धर्म की भूमिका का निषेध किया गया है। ये सभी बातें डॉ० अंबेडकर को अप्रिय लगीं। इसलिए वह सामाजिक न्याय में आर्थिक तत्त्व के महत्त्व को मानते हुए मार्क्सवादी सामाजिक न्याय की धारणा से पूर्णतः सहमत नहीं हुए।

गांधी का सर्वोदय सामाजिक न्याय का आदर्श निश्चय ही धर्म से जुड़ा हुआ है। आर्थिक तत्त्व पर अधिक बल नहीं है और तानाशाही का भी उसमें निषेध है। लेकिन डॉ० अंबेडकर ने गांधीवाद को पूर्णतः अस्वीकार कर दिया, क्योंकि उसका मूलाधार वह सनातन धर्म अथवा वर्णाश्रम धर्म है, जिसे डॉ० अंबेडकर ने कतई स्वीकार नहीं किया। इसके अलावा गांधीजी की सामाजिक न्याय की धारणा 'वैष्णवजन' की भावना और ईश्वर-कृपा अथवा 'दरिद्रनारायण' के विचार पर आधारित है, जिसे डॉ० अंबेडकर ने पददलितों, कमजोर एवं पिछड़े वर्गों की सामाजिक स्थिति के संदर्भ में स्वीकार नहीं किया। गांधी जी मानते थे कि मानव उत्थान के लिए सत्य, अहिंसा और ईश्वर-प्रेम आवश्यक है। डॉ० अंबेडकर के लिए यह संभव नहीं था कि वह गांधीवाद में आस्था रखते। उन्होंने गांधी की सर्वोदय सामाजिक न्याय की धारणा को तीन मुख्य कारणों से अमान्य कर दिया—

1. वह उस श्रम-विभाजन के विचार पर आधारित है, जो वर्णाश्रम धर्म में अंतर्निहित है।
2. उसमें न्याय के रख-रखाव की प्रक्रिया में दरिद्रनारायण की भूमिका को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है।
3. उसमें आर्थिक न्याय के लिए जिस न्यासिता के आदर्श को प्रस्तावित किया गया है, वह भेड़िया को मेमना की रखवाली करने के समान है, अर्थात् पूँजीपति धन-संपत्ति के स्वामी न होकर सामाजिक हित में उसके प्रबंधक न्यासी होंगे, जो भारतीय स्थिति में असंभव है। यह मूलतः उस सामाजिक असमानता को न्यायोचित ठहराना था, जो हिंदू समाज-दर्शन में निहित है। वस्तुतः डॉ० अंबेडकर ने सामाजिक न्याय की प्रक्रिया में वर्णाश्रम की भावना और ईश्वर के संकल्प की भूमिका को आधार नहीं बनाया। उन्होंने तो संवैधानिक शासन, क़ानून, धर्म और नैतिकता को सामाजिक न्याय का आधार स्वीकार किया।

इस प्रकार समस्त मानव-प्राणियों की समानता, स्त्री-पुरुष की समान प्रतिष्ठा, कमजोर एवं निम्न जाति के लोगों के प्रति सम्मान की भावना, उनकी आर्थिक खुशहाली, समान मानव-अधिकारों के प्रति निष्ठा, पारस्परिक प्रेम, सहयोग तथा सामाजिक सद्भाव की प्रचुरता, धार्मिक सहिष्णुता एवं सहयोग, अन्य नागरिकों के साथ बंधुत्व-भाव, सभी मामलों में मानवीय व्यवहार, सभी नागरिकों की गरिमा, जातिगत भेदभावों का अंत, सभी नागरिकों को शिक्षा तथा संपत्ति का अधिकार, मैत्री-भाव, शुभ-संकल्प कुछ ऐसे तत्त्व हैं, जो डॉ० अंबेडकर के सामाजिक न्याय की धारणा का निर्माण करते हैं और वह धारणा संवैधानिक शासन, अर्थात् क़ानून का शासन, भारत के सभी नागरिकों को एक-सूत्र में बाँधने के लिए समान नागरिक संहिता में अटूट विश्वास करती है। इससे भी अधिक डॉ० अंबेडकर ने भारतीय स्थिति में भ्रातृत्व पर अत्यधिक बल दिया। उनकी दृष्टि में, सामाजिक न्याय के लिए वास्तव में हम जो चाहते हैं, वह भ्रातृत्व ही है। राजनीतिक एवं

आर्थिक न्याय की तुलना में उस सामाजिक न्याय की अधिक आवश्यकता है, जो मूलतः भ्रातृत्व पर आधारित है। अतः भ्रातृत्व सामाजिक न्याय की आधारभूत शिला है।

अतः डॉ० अंबेडकर ने सामाजिक न्याय पर ही अत्यधिक जोर दिया है। वैसे न्याय कई प्रकार का होता है, जैसे विधिक न्याय, आर्थिक न्याय, राजनीतिक न्याय, धार्मिक न्याय, प्राकृतिक न्याय, वितरणात्मक न्याय। निश्चय ही सभी प्रकार के न्याय मानव-जीवन में महत्त्व रखते हैं, पर सामाजिक न्याय का महत्त्व कहीं अधिक है। क्योंकि डॉ० अंबेडकर की दृष्टि में, उसमें न्याय प्रशासनिक न्याय, स्त्री एवं बाल-न्याय तथा सामाजिक न्याय के सभी पक्षों का समावेश है। सामाजिक न्याय संपूर्ण समाज की व्यवस्था के ही अंग है, पर उनका क्रियान्वयन थोड़े लोगों को लाभ पहुँचाता है। उन्हें संपूर्ण समाज की व्यवस्था बनाए रखने के लिए नियोजित किया जाता है, क्योंकि समाज के समस्त अंगों को एक विरोट न्याय की धारणा से जोड़ना पड़ता है। वह न्याय की विराट् धारणा सामाजिक-न्याय है, जिसमें विधिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, प्राकृतिक सभी प्रकार के न्याय समाहित हैं। गरीबी, बेगारी तथा दरिद्रता मिटाना, स्त्रियों को समान प्रतिष्ठा देना, संपत्ति एवं कृषिक झगड़ों का निपटारा, अभावग्रस्त लोगों को विधिक सहायता देना, पिछड़े वर्ग के लोगों को आरक्षण प्रदान करना, राजनीतिक अधिकारों को कमजोर वर्ग के लोगों को सुलभ कराना तथा धार्मिक सद्भाव कायम रखना। ये सब सामाजिक न्याय के ही विभिन्न पक्ष हैं, जिनकी संपूर्ण समाज-व्यवस्था को न्यायोचित बनाने में सहायक सिद्ध होती है। इसलिए डॉ० अंबेडकर ने सामाजिक न्याय को एक व्यापक धारणा मानकर उस पर अधिक बल दिया। सामाजिक न्याय को डॉ० अंबेडकर ने चूँकि समानता एवं भ्रातृत्व से जोड़ा, इसलिए वह संपूर्ण समाज का कार्यात्मक रूप है। सामाजिक न्याय समूचे राष्ट्र की सीमाओं को छूता है और उसमें रहनेवाले समस्त नागरिकों को बंधुत्व में बाँधने का प्रयास करता है, चाहे वे अमीर हों या निर्धन, सवर्ण हों या अवर्ण, हिंदू हों मुस्लिम अथवा सिक्ख, ईसाई तथा बौद्ध। इस प्रकार सामाजिक न्याय की धारणा सर्व समाहित तथा संपूर्ण समाज-व्यवस्था का संचालन है। इसी कारण डॉ० अंबेडकर ने उस पर अत्यधिक बल दिया और कहा, कि भारत में समाज को न्याय, स्वतंत्रता एवं भ्रातृत्व के आदर्शों पर निर्मित किया जाना चाहिए, जो सामाजिक न्याय के प्रमुख तत्त्व हैं। उनका प्रमुख नारा शिक्षित बनो, संगठित रहो और संघर्ष करो तथा 'अपना दीपक आप बनो' इस वर्ग के लिए प्रेरणा-मंत्र है। इस मंत्र ने इस वर्ग में आत्म-सम्मान जगाया। भाग्यवाद, ईश्वरवाद, पाखंडवाद, रुढ़िवाद आदि से छुटकारा दिलाने के लिए कर्मवाद, संगठन व संघर्ष की प्रेरणा दी ताकि अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष किया जा सके। अतः डॉ० अंबेडकर का संघर्ष सामाजिक न्याय की स्थापना में महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ है।

संदर्भ

1. कीर, धनन्य : अंबेडकर, बाबा साहेब (डॉ०) जीवन-चरित्र, (अनुवाद-गजानन सुर्वे), पॉप्युलर प्रकाशन (बंबई), नई दिल्ली, प्रथम हिंदी संस्करण, वर्ष 1996/1917
2. डॉ० बाबा साहेब अंबेडकर, राइटिंग एंड स्पीचेज, खंड-3, महाराष्ट्र सरकार प्रकाशन बंबई, वर्ष 1987, पृष्ठ संख्या 25 व 74
3. ऑन द कान्सटीट्यूशनल ऑफ़ इंडिया 'डॉ० अंबेडकर द्वारा संविधान सभा में दिनांक 25.11.1949

को दिए गए भाषण से उद्धृत

4. जाटव, डी०आर० (डॉ०), सामाजिक न्याय का सिद्धांत, प्रकाशन समता साहित्य सदन, जयपुर, वर्ष 1993, पृ० 62, 63, 67, 68
5. ए० राधाकृष्णन (डॉ०), द हिंदू व्यू ऑफ़ लाइफ़, मैक मिलन, लंदन, वर्ष 1949, पृ० 73
6. डॉ० गुप्ता राजेश , डॉ० अंबेडकर और सामाजिक न्याय, पृ० 106
7. डॉ० रामगोपाल सिंह, सामाजिक न्याय और दलित संघर्ष, वैज्ञानिकी एवं तकनीकी शब्दावली आयोग, मानव संसाधन विकास मंत्रालय (माध्यमिक शिक्षा और उच्चतर शिक्षा विभाग) राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, वर्ष 1993, पृ० 98
8. डॉ० परमार, तार, अनुसूचित जातियों के हितों के लिए डॉ० अंबेडकर की भूमिका, पृ० 284

□ प्रवक्ता, जिला शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थान,
पटनी (सहारनपुर)

ग्रामीण जीवन-मूल्य का अर्थ, परिभाषा, मूल्य का उद्देश्य

चंद्रप्रकाश चक्रवर्ती

मानव का ग्रामीण जीवन से साथ उस समय से है, जबसे वह घुमंतू जीवन छोड़कर एक स्थान पर बसकर कृषि-कार्य करने लगा। गाँवों ने मानव जीवन को स्थिरता और अनेक सुविधाएँ प्रदान कीं। कृषि करने के लिए यह आवश्यक था कि मानव अपनी खेती की देखभाल करने के लिए एक स्थान पर रहे। कृषि ने ही मानव को एक स्थान पर बसने के लिए मजबूर किया, जिसका परिणाम हुआ कि गाँवों का उदय और ग्रामीण-जीवन का प्रारंभ। स्थिर ग्रामीण-जीवन ने मानव को सभ्यता एवं संस्कृति के निर्माण में योग दिया। अतः मानव-संस्कृति का इतिहास ग्रामों की संस्कृति से बधा हुआ है।

हमारे ग्रामीण-समाज ने सदियों से अपने कुछ रीति-रिवाज, प्रथाएँ, धारणाएँ बना रखे हैं। वे ही समाज के नियम निर्णय बन चुके हैं। उन नियमों में समाज किसी प्रकार का विवाद नहीं चाहता, क्योंकि उनके अपने सामाजिक मूल्य बन चुके होते हैं। इस संबंध में अज्ञेय का मत है कि, 'सामाजिक मूल्य वे प्रतिमान हैं जिनके अनुसार हम अपने व्यवहार को मापते हैं, जो बात माप में ठीक उतरे वह उचित है, जो प्रतिकूल है वह अनुचित भी।' ¹ इस मत के अनुसार मूल्य समाज की वह आधारशिला है, जिस पर सभ्यता और संस्कृति का भव्य प्रासाद निर्मित होता है। समाज के निर्माण में इस ग्रामीण-समाज का संबंध मानव-जगत् से है, अतः मूल्यों का संबंध भी मानव-जीवन से है।

जीवन-मूल्य का अर्थ एवं परिभाषा :

'जीवन-मूल्य' शब्द के विश्लेषण से पता चलता है कि यह एक युग्म शब्द है, जो 'जीवन' और 'मूल्य' अर्थात् 'जीवन के मूल्य' से बना है। इस प्रकार जीवन-मूल्य से आशय जीवन को संचालित करनेवाले मूल्यों से है। मानव-निर्मित समाज के जीवन-यापन की अपनी कुछ परंपराएँ, मान्यताएँ और धारणाएँ होती हैं, जिनका पालन करते हुए मानव-समाज अपना जीवन जीता है। जीवन यापन की यही मान्यताएँ, परंपराएँ, धारणाएँ जीवन-मूल्य शब्द से अभिहित की जाती हैं अर्थात् इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि जीवन से संबंध रखने वाले मूल्यों को जीवन-मूल्य कहा जाता है। जीवन-मूल्य संबंधी धारणा को प्रस्तुत करते हुए डॉ॰ रमेशचंद्र लवानिया इस प्रकार कहते हैं, 'मानव व जीवन को अक्षुण्ण रखने और उसे भोगने के लिए व्यक्ति और समाज-सापेक्ष जीवन-मूल्यों की आवश्यकता है। वे ही जीवन-मूल्य के अंतर्गत प्रस्तुत होते हैं।' ² 'जीवन-मूल्य' के अर्थ को समझने और उसको परिभाषाबद्ध करने के लिए 'जीवन' और 'मूल्य' नामक दोनों शब्दों को अलग-अलग विश्लेषित करके समझना उचित है।

जीवन :

‘जीवन’ शब्द की व्युत्पत्ति ‘जीव’ धातु में ल्युट (अन्) कृत प्रत्यय से हुई है, जिसका अर्थ ‘जीवनप्रद’ से होता इस प्रकार जीवन शब्द से अभिप्राय निकलता है कि ‘जो मृत न हो’ अर्थात् जो ‘जड़ न हो’ इस प्रकार इस शब्द के द्वारा ‘जीवित या चेतन’ प्राणी का अर्थ निकलता है। चेतना सभी प्राणियों में पाई जाती है, मात्र-मानव में ही नहीं अपितु पशु-पक्षियों से लेकर जड़ के पर्याय समझे जाने वाले पेड़-पौधों में भी इनका वास है। इस तथ्य की पुष्टि विज्ञान भी करता है। लेकिन यहाँ पर ‘जीवन’ संबंधी जिस संदर्भ की प्रस्तुति की जा रही है, वह मानव से ही है। मानव उच्च चेतना के विकास के कारण ही अन्य प्राणियों से अपना अलग महत्त्व रखता है। वह अतीत के अनुभवों, वर्तमान के ज्ञान और भविष्य पर विचार करते हुए तीव्र गति से आगे बढ़ता जा रहा है। मानविकी के संदर्भ में ‘जीवन’ शब्द से हमारा तात्पर्य मानव की कल्पना, भाव-विचार और अनुभूति आदि के मिश्रण के फलस्वरूप संसार में व्याप्त मानव-प्रतिक्रिया से है। अन्य प्राणी भी इस जगत् में अपने जीवन को जीते हैं और वे मात्र अपने लिए ही नहीं, अन्य प्राणियों के जीवन के लिए जीते हैं। इस संबंध में विष्णु शर्मा ने अपने ग्रंथ ‘पंचतंत्र’ में अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किए हैं, ‘जिसके जी ने से बहुत से पुरुष जिएँ, सोई जीता है और पक्षी क्या चोंच से उदरपूर्ण नहीं करते।’³ मानव अन्य प्राणियों से भिन्न इसलिए है क्योंकि उसके जीवन में लोगों के प्रति करुणा और प्रेम-भावना का सरोकार होता है।

प्राचीनकाल से ही दर्शनशास्त्री ‘जीवन’ को समझने के लिए प्रयासरत हैं। इनमें भौतिकतावादी दार्शनिकों तथा आस्थावादी दार्शनिकों का मत अलग-अलग है। भौतिकवादी दार्शनिक ‘जीवन’ को रासायनिक क्रिया से युक्त मानते हैं और आस्थावादी दार्शनिक का विचार ईश्वरकृपा पूर्ण है। इनके अनुसार जीव पर ईश्वर की अनुकंपा है। वे जब चाहें जीवन प्रदान करें और जब चाहें जीवन समाप्त कर दें। वास्तव में ‘जीवन’ के तथ्य को परिभाषित करना दुष्कर कार्य है। अधिकांश विचारकों ने ‘जीवन’ संबंधी मत— जीव और परिवेश के मध्य क्रिया-प्रतिक्रिया को ही माना है। जीवन को क्रियाओं का समन्वय कहा गया है।⁴ इस संबंध में आदर्शवादी दृष्टिकोण है कि जीवन ‘जो है’ ‘जैसा है’ को भोगते रहने का नाम नहीं अपितु सर्वोच्च हितकारी लक्ष्य के लिए समर्पण ही जीवन है।

जीवन एक गतिशील प्रक्रिया है। वह अनवरत गतिशील रहती है। सुख-दुःख, प्रेम, सौहार्द, करुणा, दया आदि जीवन-मूल्यों एवं परंपराओं को समेटे हुए आगे बढ़ती रहती है। जीवन की गतिशीलता पर परिवेश और परिस्थिति का भी प्रभाव पड़ता है, जिनके कारण उनके जीवन-शैली में भी परिवर्तन होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मानव-जीवन को परिभाषित करना कठिन कार्य है। डॉ० शशिभूषण सिंघल ने जीवन को एक यात्रा के रूप में परिभाषित करने का प्रयास किया है, ‘जीवन का अर्थ है शरीरधारी में प्राणों का अस्तित्व, उनके जन्म से मृत्यु तक का काम। जीवन गतिशील है वह एक यात्रा है।’⁵

सुख, दुःख, प्रेम, घृणा आदि का समन्वय ही जीवन है अर्थात् ज़िंदगी में अनेक प्रकार के उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। इस संबंध में डॉ० शांति भारद्वाज ने अपने मत को इस प्रकार व्यक्त किया है— मानव की पारस्परिक घृणा और प्रेम का इतिहास ही तो जीवन है।⁶ इस कथन से तात्पर्य निकलता है कि मानव-जीवन का इतिहास तमाम प्रकार की परंपराओं, मान्यताओं

आदि से आच्छादित होता है, जिनका हमारे जीवन में विशेष महत्त्व होता है।

जीवन में विभिन्न प्रकार की घटनाएँ घटती रहती हैं। अकस्मात् कुछ घटनाएँ इस प्रकार से घट जाती हैं, जो जीवन को झकझोरकर रख देती हैं और मानव-जीवन को अपनी यात्रा की दिशा को बदलकर चलने की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि मानव-जीवन घटनाओं का चक्र है। इस संबंध में डॉ० रांगेय राघव का विचार है कि जीवन घटनाओं का चक्र है निरंतर चलने वाला चक्र अविरोध, अकथित। उन्होंने जीवन को एक वृक्ष के समान प्रस्तुत किया है, 'जिंदगी एक चलता-फिरता पेड़ है। उम्र में इस प्रकार आफतें आती हैं, चली जाती हैं। जवानी इसका फूल है और बच्चा फल।' ⁷

जीवन में 'शरीर' अपने धर्म का पूर्णतया पालन करता है। कोई भी स्थिति, परिस्थिति हो, उसे यह सहर्ष स्वीकार कर लेता है। इस तथ्य को उजागर करते हुए डॉ० रांगेय राघव का विचार है, 'दुख हो सुख हो शरीर का भी अपना धर्म होता है। वह अपने आपको सुला देता है, जगा देता है, नींद आती है आए, जागने के लिए जागना पड़ता है आखिर थककर सो जाने के लिए। इस बीच जो कुछ हो जाता है, उसे जिंदगी कहा जाता है।' ⁸ इस तथ्य से निष्कर्ष निकलता है कि 'शरीर' जिंदगी में अपने कर्तव्य का पालन पूर्ण समर्पण के साथ करता है।

इस प्रकार मानव-जीवन, जन्म से लेकर मृत्यु तक की विकास-यात्रा को कहा जाता है। जीवन-संबंधी विचार को शंभुसिंह ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है, 'जीवन प्रवाहमयी सरिता के पानी की तरह है। जो किसी पर्वत से निकलती है। अठखेलियाँ करता हुआ आगे बढ़ता है, कहीं रुकता है, मुड़ता है, कहीं पर चढ़ता है और उतरता है, परंतु उसे रोक नहीं सकता। यद्यपि स्वयं जीवन जीवधारी होता है। परिवर्तन का मोड़ जरूर दिया जा सकता है। परंतु उसके लिए महान व्यक्तित्व की आवश्यकता होती है।' ⁹ इस कथन से निष्कर्ष निकलता है कि जीवन रुकने का नाम नहीं अपितु अनवरत गतिशील रहने का नाम है।

अंततः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जीवन बहुआयामी होता है। इसमें सुख, दुख, प्रेम, करुणा, भाव, विचार आदि का समावेश रहता है। यह सदैव गतिशील रहता है। स्थिरता केवल मृत्यु के समय आती है।

मूल्य :

'मूल्य' शब्द अँग्रेजी के 'Value' शब्द का हिंदी रूपांतरण है। संस्कृत ग्रंथों में यह शब्द संस्कृत की 'मूल' धातु में 'यत्' प्रत्यय के जुड़ने से बनता है। संस्कृत ग्रंथों में यह शब्द 'मूल्यम्' है जिसका अर्थ— कीमत, मोल या दाम विशेषण के रूप में इसका आशय मोल लेने योग्य होता है। ¹⁰

वस्तुतः मूल्य शब्द 'मूल्य से निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ होता है किसी वस्तु के विनिमय में दिया जानेवाला धन, दाम, बाजार भाव आदि' ¹¹ अँग्रेजी का 'Value' शब्द ग्रीस में 'एक्सयोज', जर्मन में 'वैट' और फ्रांसीसी में 'बालोर' के रूप में व्यवहृत है। ¹² सामान्यतया: जो कुछ भी अभीप्सित है, वही मूल्य है। ¹³ इसी कारण कुछ विद्वान 'Value' शब्द के लिए संस्कृत के 'इष्ट' शब्द को समानार्थी के रूप में प्रयुक्त करना चाहते हैं। ¹⁴

मनोवैज्ञानिक तथा समाजशास्त्री सहज प्रवृत्ति और इच्छा को आधार बनाकर ही मूल्य शब्द की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। ¹⁵ वे लक्ष्य, आदर्श और प्रतिमान को समग्राकृति (ग्रेस्टाल्ट)

की मनोग्रंथियों को ही मूल्य की संज्ञा प्रदान करते हैं। इस तथ्य की अभिव्यक्ति डॉ० आर०के० मुखर्जी बड़े ही सहज रूप में की है कि, 'अभिवृत्तियों का आंतरिक स्वरूप ही मूल्य है।'¹⁶ इस कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि 'मूल्य' का समानार्थी 'अभिवृत्ति' शब्द है। किंतु यह निष्कर्ष उचित नहीं प्रतीत होता है।

दर्शन के क्षेत्र की तरफ दृष्टि डाली जाए तो मूल्य को अंतःचेतना से जोड़कर उसके तात्पर्य को निकालने का प्रयास किया गया है, 'मूल्य जब अंतःप्रेरणा से प्रकट होता है और अंतःप्रेरणा संज्ञान और संवेदना से निर्बंधित हो जाती है तो मूल्य अपने सही अस्तित्व में आ जाते हैं। मूल्य मीसांसकों के अनुसार मूल्य स्वरूपतया: भोग नहीं है। वे मानवीय चेतना के निर्देशक और उन्नायक मान हैं। मूल्यों की साधना में, मनुष्य को अपनी चेतना तथा अपने आपको गढ़ना पड़ता है।'¹⁷ यदि व्यावहारिकता के आधार को ध्यान देते हुए इस पर ध्यान केंद्रित किया जाए तो यह दृष्टिगत होता है कि मूल्य वस्तु की उस क्षमता को व्यक्त करता है, जो मानवीय आवश्यकताओं और इच्छाओं को संतुष्टि प्रदान करता है।

अर्थशास्त्र से 'मूल्य' शब्द का विशेष संबंध है, जिसमें इसका अर्थ विनिमय को ग्रहण कर चलता है। विनिमय के अर्थ में यह एक वस्तु के दूसरी वस्तु से आदान-प्रदान का परिमाण है, जो वर्तमान युग में 'मुद्रा' के रूप में प्रचलित है। इस दृष्टि से मूल्य शब्द का परंपरागत संबंध अर्थशास्त्र से जुड़कर चलता आ रहा है।

किसी वस्तु की क्रय-शक्ति को अर्थशास्त्र में 'मूल्य' कहा जाता है। वस्तु के उत्पादन व्यय और उसकी उपयोगिता के आधार पर ही क्रय-शक्ति का निर्धारण होता है। यह क्रय-शक्ति मुद्रा के रूप में दी जाती है, अतः विनिमय का प्रतिमान होने से ही मुद्रा 'मूल्य' कहलाती है।¹⁸ वास्तविकता यह है कि किसी वस्तु का मूल्य इसलिए दिया जाता है, क्योंकि उसमें व्यक्ति या समाज की अपेक्षाओं को पूर्णता प्रदान करने की सामर्थ्य होती है। समाज के द्वारा ही गुणग्राह्यता स्वीकृति होती है तथा वह व्यक्ति या समाज को संतोष प्रदान करती है। अतः स्पष्ट है कि कोई भी वस्तु जो किसी व्यक्ति या समूह के लिए उपयोगी हो, वांछित हो या प्रशंसा-योग्य हो, मूल्य रखती है। वस्तुतः जिस किसी भी वस्तु का मूल्य होता है, वह वस्तु स्वयं मूल्य नहीं होती, अपितु मूल्य उस वस्तु में विद्यमान होता है।

'मूल्य' शब्द का अर्थशास्त्र, दर्शनशास्त्र, मनोविज्ञान के अतिरिक्त नीतिशास्त्र, समाजशास्त्र और अन्य सामाजिक विज्ञानों में तो प्रयोग हुआ ही है, साहित्य व आलोचना के क्षेत्र में इसे स्वीकृति प्राप्त हुई है। इस तथ्य को डॉ० नगेंद्र भी स्वीकार करते हैं, 'मानदंड और मूल्य आदि शब्द मूलतः साहित्य के शब्द नहीं हैं, पाश्चात्य आलोचना में भी इनका समावेश अर्थशास्त्र अथवा वाणिज्यशास्त्र से किया गया है।'¹⁹

'मूल्य' शब्द पर अपनी अभिव्यक्ति करते-करते लोग कभी-कभी तो उपयोगिता को मूल्य कह देते हैं। 'मूल्य सिद्धांत' के अध्ययन के समय इस शब्द पर दार्शनिक विशेष रूप से चिंतित और गंभीर दिखाई पड़ते हैं और उसका संबंध किसी एक विषय से नहीं कर पाते हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि मूल्य शब्द का किसी एक विषय से न तो संबंध है और न ही इसका विशिष्ट अर्थ है। भिन्न व्यक्ति, भिन्न संदर्भ में, भिन्न अर्थ के रूप में इस शब्द का प्रयोग करते हैं।²⁰

‘मूल्य’ अपनी व्यापकता के कारण रूढ़ शब्द हो गया है। पाश्चात्य समीक्षा के क्षेत्र में इस शब्द का विशेष महत्त्व है। काव्य के क्षेत्र में मूल्य शब्द का प्रयोग होने लगा और मूल्य-निकष के आधार पर ही जीवनोपयोगी साहित्य की परख की जाने लगी। समीक्षा के संदर्भ में मूल्य का व्यापक और सार्थक प्रयोग होने लगा, जिसमें उपयोगी काव्य की समीक्षा में मूल्य अपना विशिष्ट स्थान रखता है। मूल्य चेतना के रूप में जहाँ राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियाँ प्रभावी रहती हैं, वहीं व्यक्ति का निजी दृष्टिकोण भी। इसी कारण मूल्य शब्द अपनी ‘व्यापकता’ एवं ‘वैविध्यता’ का उचित परिचय कराता है।

‘मूल्य’ का मानव-जीवन में एक विशेष स्थान है। मूल्यों के आधार पर मनुष्य तथा पशु में भेद किया जा सकता है। आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन मनुष्य तथा पशु में समान रूप से पाया जाता है किंतु इनमें धर्म का पालन करते हुए अपने कार्य का संपादन करने के कारण मनुष्य कहलाता है।²¹ इसी विशिष्ट अंतर के कारण मानव के अस्तित्व की स्थापना संभव हो पाई है। इसलिए हमारे मनीषियों ने वेद, पुराण एवं उपनिषदों में जीवन को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए, दया, करुणा, लोकमंगल, लोकहित, जनकल्याण आदि का न सिर्फ विवेचन किया है प्रत्युत उसे आम जीवन में समाविष्ट करने पर भी बल दिया है। मोटे तौर पर हम यह विवेचन करते हैं कि जीवन-मूल्य, आदर्शों और मानदंडों के सहयोग से बन जाते हैं और पूरे जीवन को प्रभावित, परिचालित, नियंत्रित करते हैं। मूल्यों की प्रकृति समष्टिगत और व्यक्तिगत दोनों ही प्रकार की होती है। व्यक्ति सामाजिक मूल्यों द्वारा समाज से आबद्ध रहता है और स्वयं के लिए, जो आदर्श मार्ग चुनता है, वही व्यक्तिगत मूल्यों का जनक होता है।

उपर्युक्त विचारों पर मूल्य-संबंधी अवधारणा को विद्वानों ने निम्न प्रकार से परिभाषित किया है—

1. मूल्य तो जीवन के प्रति एक गुण है, एक अंतःदृष्टि है, एक अवधारणा है, एक दृष्टिकोण है।²²

2. ‘मूल्य वह वस्तु है, जो जीवन को सदैव विकास की ओर ले जाती है। ...वही वस्तु अंतिम रूप से तथा स्वलक्ष्य दृष्टि से मूल्यवान है, जो व्यक्तियों को विकास अथवा आत्मविकास या आत्मानुभूति की ओर ले जाती है।’²³

3. ‘मूल्य समाज द्वारा मान्यता प्राप्त वे इच्छाएँ हैं तथा लक्ष्य हैं, जिसका अंतरीकरण सीखने या सामाजीकरण की प्रक्रिया से होता है और जो कि प्रतीतिक अभिमान्यताएँ मान, अभिलाषाएँ बन जाती हैं।’²⁴

4. ‘शुभ ही जीवन-मूल्य है।’²⁵

5. ‘प्रत्येक समाज में जीवन और पारस्परिक व्यवहार के संबंध में कतिपय धारणाएँ होती हैं। यही धारणाएँ स्थिर होकर मूल्य के पद पर प्रतिष्ठित हो जाती हैं।’²⁶

6. ‘मूल्य समाज में वास्तविक प्रभाव खोजने के सांस्कृतिक माध्यम हैं।’²⁷

7. ‘वास्तव में थोड़े से सिद्धांत जो मनुष्य को मनुष्य बनाते हैं, हम उन्हीं को जीवन-मूल्य कहते हैं।’²⁸

8. मूल्य को आत्मानुभूति का विषय बनाकर अर्बन ने निम्न प्रकार से परिभाषित किया है।

- (क) मूल्य वह है, जो जीवन की आकांक्षाओं को तुष्ट करता है।
 (ख) मूल्य वह वस्तु है, जो जीवन को अग्रसारित करती या सुरक्षित रखती है।
 (ग) वह वस्तु मूल्य है, जो व्यक्ति को आत्मविकास या आत्मानुभूति की ओर ले जाती है।²⁹

‘मूल्य’ एक मूर्त वस्तु नहीं है, जिसे देखा जा सके, अपितु मूल्य एक अनुभव, धारणा (Concept) है। कोई वस्तु मूल्यवान हो सकती है किंतु वह स्वयं मूल्य नहीं हो सकती है। तात्पर्य यह है कि मूल्य अमूर्त है, जिसे मनुष्य अनुभव करता है, भोगता है तथा झेलता है। डा० विमलकुमार ने मूल्य के संदर्भ में अपना विचार इस प्रकार व्यक्त किया है, मानविकी के संदर्भ में मूल्य का अर्थ है— ‘जीवनदृष्टि या स्थापित वैचारिक इकाई।³⁰ इसी परिप्रेक्ष्य में गिरिजाकुमार माथुर ने भी अपना विचार प्रस्तुत किया है, ‘मानवमूल्य हमेशा आदर्श होते हैं। यथार्थ में उसे कभी ग्रहण नहीं किया जा सकता है।³¹

धीरेंद्र वर्मा ने अपने ‘हिंदी साहित्य कोश’ में मूल्य पर अपना विचार प्रस्तुत करते हुए कहा है कि ‘मूल्य और प्रतिमान समानार्थी शब्द हैं। दोनों ही मानव-निर्मित निकष या कसौटियाँ हैं।³² स्टीफेन सी० पेपर ने मूल्य-संबंधी धारण को व्यक्त करते हुए कहा है, ‘मूल्य एक सामान्य और अमूर्त गुण है, जो वस्तुओं में निहित है। वस्तुएँ अपने आपमें मूल्यवान एवं मूल्यहीन होती हैं।’³³

‘मूल्य’ मानव को प्राप्त परंपरागत समाज द्वारा दी गई वे मान्यताएँ, अवधारणाएँ अथवा वैचारिक इकाई हैं, जिनमें आदर्श अनुभूति, मानवीय संवेदना, उपयोगिता तथा प्रेरणा आदि का समावेश रहता है, जिनके आधार पर न केवल व्यक्ति का जीवन उन्नत, उदात्त तथा समृद्ध बनता है, प्रत्युत अंतरीकरण की प्रक्रिया से समाज, प्रगति-पथ पर अग्रसर होता है।³⁴

समाज का आधार ग्रहण कर ‘मूल्य’ अपना एक विलक्षण लक्षण प्रस्तुत करते हैं। वे समाज द्वारा मान्यताप्राप्त लक्ष्यों तथा अभिलाषाओं को व्यंजित करते हैं तथा सामाजिक मूल्यों को शक्ति प्रदान करते हैं। जिसका आधार ग्रहण कर मानवीय जीवन अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त करता है, जिसके लिए आवश्यकता पड़ने पर वह संघर्ष करने, दुख झेलने तथा मृत्यु तक को स्वीकार कर लेता है।³⁵ इस कथन से निष्कर्ष निकलता है कि मानवीय जीवन-मूल्य को प्राप्त करना ही मानव का अंतिम लक्ष्य है।

संदर्भ

1. अज्ञेय, हिंदी साहित्य, एक आधुनिक परिदृश्य, पृ० 10
2. हिंदी आलोचना एक नई दृष्टि, रमेशचंद्र लवानिया, पृ० 9
3. यस्मिञ्जीवति जीवति बहव : सोऽजीततु।
पयांसि किं न कुर्वति चञ्च्वा स्वादरपुरणम्।
विष्णु शर्मा, पंचतंत्र,
4. विगेहट, लिटरेसी स्टडीज, पृ० 25
5. डॉ० शशिभूषण सिंहल, हिंदी उपन्यास की प्रवृत्तियाँ, पृ० 27
6. डॉ० शांति भारद्वाज, हिंदी उपन्यास : प्रेम और जीवन भूमिका, पृ० (क)
7. रांगेय राघव, बंदूक और बीन, पृ० 89

8. रांगेय राघव, राई और पर्वत, पृ० 18
9. शंभु सिंह, रांगेय राघव और आंचलिक उपन्यास, पृ० 58
10. संस्कृत हिंदी कोश, वामन शिवराम आपटे, पृ० 812
11. वही, पृ० 812
12. गोविंदचंद पांडेय, मूल्य मीमांसा, पृ० 1
13. डॉ० आर०के० मुखर्जी, दी सोशल स्ट्रक्चर आफ वैल्यूज, पृ० 21
14. एम० हरियाना, फिलॉसफी ऑफ वैल्यूज, पृ० 745
15. डॉ० आर०के० मुखर्जी, दी सोशल स्ट्रक्चर आफ वैल्यूज, पृ० 77
16. वही, पृ० 90
17. जार्ज सांत्याना, मूल्य मीमांसा, पृ० 27
18. एफ० आर० फेयर चाइल्ड एंड एन० एस० बक एंड आर० ई० स्लेसिंगर, प्रिंसिपल आफ इकोनोमिक्स, पृ० 125
19. डॉ० नगेंद्र, विचार और विश्लेषण, पृ० 1
20. मूल्य परिवर्तन, मानविकी के संदर्भ में (आलोचना अक्टूबर 1967), कुमार विमल, पृ० 64
21. नारायण पंडित, हितोपदेश (मित्रलाभ)
22. दी इंटियूटिव फिलासफी, पृ० 39
23. फंडामेंटल ऑफ इथिक्स, पृ० 17-18
24. दी डाइमेंसंस ऑफ वैल्यूज : इंट्रोडक्शन
25. हृदयनारायण मिश्र, नीतिशास्त्र की भूमिका, पृ० 170
26. हेमेंद्र पानेरी, स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यास मूल्य-संक्रमण, पृ० 1
27. अंडर स्टैंडिंग ऑफ ह्यूमन सोसाइटी वाल्यूम 1989, पृ० 80
28. संस्कृति और जीवन मूल्य, नवनीत जुलाई (1984), पृ० 36
29. हुकुमचंदा, आधुनिक महाकाव्यों में जीवन-मूल्य, पृ० 344
30. आलोचना (अक्टूबर-दिसंबर 1967), डॉ० विमल कुमार, पृ० 64
31. लहर (सितंबर 1960), गिरिजाकुमार माथुर, पृ० 43
32. हिंदी साहित्य कोश, डॉ० धीरेंद्र वर्मा, पृ० 659
33. स्टेफेन सी० पेपर, दी सोर्स ऑफ वैल्यू, पृ० 7
34. भारतीय संस्कृति महाकाव्यों के आलोक में, डॉ० देवराज, पृ० 30
35. नीतिशास्त्र, डॉ० शांति जोशी, पृ० 304

□ पुत्र श्री हौसिला प्रसाद
पोस्ट उत्तर पट्टी, बाजार नवढ़िया,
जौनपुर 222128

कुषाणों के समाज में कृषि व पशुपालन

राकेश कुमार

(शोध-छात्र)

डॉ० वकुल रस्तौगी

रीडर इतिहास विभाग, डी०ए०वी० स्नातकोत्तर महाविद्यालय, मुजफ्फरनगर (शोध-निर्देशक)

भारत पर लगभग दो शताब्दियों तक कुषाणों का शासन बना रहा। आर्थिक दृष्टि से यह सर्वाधिक समृद्धि का काल माना जा सकता है। कुषाणों ने प्रथम बार एक अंतर्राष्ट्रीय साम्राज्य की स्थापना की थी। इस काल में आर्थिक जीवन की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है—चीन के साथ इनके व्यापारिक संबंध।

कुषाण वंश का परिचय :

ईसवी के प्रारंभ में कुषाण वंश का प्रादुर्भाव भारत के इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना है। मौर्य साम्राज्य के पश्चात् शुंग, कंड, आंध्र आदि वंशों के शासक भारत के विभिन्न भागों में शासन करते रहे, किंतु इनमें से किसी का साम्राज्य विशाल एवं शक्तिशाली नहीं था। ईसा की प्रथम सदी में कुषाण जाति के शासकों ने अपना एक विशाल साम्राज्य स्थापित किया, जिसमें न केवल उत्तरी भारत के प्रदेश थे, अपितु मध्य एशिया के महत्वपूर्ण भाग भी सम्मिलित थे।

श्री रावलिंसन भी कुषाण युग को भारतीय संस्कृति के इतिहास में एक महत्वपूर्ण युग मानते हैं। कुषाण शासन की छत्रछाया में भारत ने साहित्य, धर्म तथा कला के क्षेत्र में उन्नति की। कुषाण शासकों ने ही भारतीय एकता के प्रसार-हेतु मध्य तथा पूर्वी एशिया के द्वार खोले, जहाँ से भारतीय संस्कृति को चीन, जापान, मंगोलिया आदि में प्रवेश मिला। कुषाणों ने उत्तरी भारत में शांतिपूर्वक राज्य स्थापित किया और अराजकता को समाप्त किया। इसी कारण कुषाण युग को भारत के इतिहास में युग प्रतीक काल माना जाता है।

कुषाणों के इतिहास की जानकारी के स्रोत :

1. चीनी लेखकों का कथन, इसमें यूपी जाति का चीन से भारत की ओर आगमन का संकेत है।
2. सिक्के, जो कुषाण शासकों के समय और धर्म के विषय में सूचना प्रदान करते हैं।
3. इस युग के बहुत से अभिलेख प्राप्त हुए हैं, जो छोटे हुए भी तात्कालीन व्यवस्था की रचना की जानकारी प्रदान करते हैं।
4. तत्कालीन विद्वानों की रचनाएँ आदि सामग्री भी हमें कुषाणों के इतिहास की जानकारी प्रदान करते हैं।

कृषि :

कुषाण काल में कृषि-कर्म अच्छी विकसित अवस्था में था। कुषाण काल में कृषि

ग्रामीण क्षेत्रों में थी। कृषि के ऊपर उस काल में भी स्मृतिकारों व अन्य लेखकों ने प्रकाश डाला है।¹ मनु ने जीवन-निर्वाह के दस साधनों में कृषि को आठवें स्थान पर रखा है। (मनुस्मृति 10/116) परंतु इससे प्राप्त धन को उसमें अमृत कहा है। इस काल के स्मृतिकारों ने कृषि को वैश्य वर्ण का व्यवसाय बताते हुए कहा है, उसे सभी प्रकार के बीजों के बोने की विधियाँ, खेती के गुण एवं दोषों तथा माप-तोल की समुचित जानकारी होनी चाहिए। (मनुस्मृति 9330) मिलिंदपपन्हो में कृषि, पशुपालन एवं व्यापार वैश्य और शूद्रों के व्यवसाय बताए गए हैं। मनु ने सामान्य परिस्थितियों में उच्च वर्ग के लोगों के लिए कृषिकार्य को निषिद्ध ठहराते हुए केवल आपातकाल में ही यह कार्य करने की अनुमति दी थी।² इस समय कृ- उपकरणों में मुख्य रूप से हल हलफाल, खनिज फाबड़ा, हँसिया, शूर्ष मूसल एवं ओखली का वर्णन किया गया है। इस काल में कृषि-योग्य भूमि और किसानों पर राज्य का नियंत्रण होता था और राजा का यह कर्तव्य था कि किसानों की सुरक्षा करे।

इस समय के आयुर्वेद के ग्रंथों में विभिन्न प्रकार की फसलों तथा सब्जियों का वृहद् वर्णन मिलता है।³ विदेशी लेखकों में टिलनी ने भारत की कृषि अन्य वस्तुओं में धान, जौ एवं सरसों तथा ऊन पैदा करनेवाले जानवरों अलसी के पौधों एवं गन्ने का उल्लेख किया है।

फसलें :

इस काल में कई प्रकार की फसलें बोई जाती थीं। प्राचीन ग्रंथों में अनेक प्रकार की फसलों का वर्णन मिलता है। जो फसलें पैदा की जाती थी वे निम्न हैं—गेहूँ, जौ, चना, धान, उड़द, मूँग, ज्वार, बाजरा, मटर, तिल, सरसों, ईख, कपास अलाणी आदि। तेल के लिए भी फसलें बोई जाती थीं।⁴ कपास का उत्पादन अच्छा कपड़ा बनाने के लिए किया जाता था। अंगूर का भी उत्पादन किया जाता था और इससे शराब बनाई जाती थी। लेखकों ने भी भारतीय कृषि-उत्पादनों पर प्रकाश डाला है। कृषिजन्य वस्तुओं में सुगंधित द्रव्यों, मसालों और ऐसे पौधों के उगाने की और ध्यान दिया जाता था, जिनकी विदेशों में बड़ी माँग थी।⁵ मिलिंदो में इस प्रकार के पदार्थों में कपूर, तगर, चंदन और केसर का उल्लेख मिलता है।

पेरिपलस ने भारत की ऐसी अनेक वस्तुओं का उल्लेख किया है, जिनकी रोम में अत्यधिक माँग थी। इस कारण भारत में इनकी खेती बड़े पैमाने पर की जाती थी। इन वस्तुओं में हरिद्रा, जटाभांसी या बालछड़, गंध तृण, गुगल काली मिर्च एवं दाल चीनी मुख्य थीं।

पेरिपलस के मतानुसार काठियावाड़ और अनेक समीपवर्ती प्रदेशों में गेहूँ, चावल, ईख और सरसों की खेती की जाती थी। पिलनी ने भी भारत के बहुमूल्य पौधों में काली मिर्च, इलायची, कुटन तथा दारुहरिद्र का उल्लेख किया है।⁵

मनु ने निजी बगीचों की भी बात की है। मनुस्मृति में अनेक प्रकार की वनस्पतियों का उल्लेख मिलता है, जैसे पलाश, बलबजा, बट, खडिस, साल, ताल अनेक प्रकार के बाँस कुबजक और नटकर आदि। वन भी इस काल में होते थे, जो कि वनस्पति के अतिरिक्त जंगली जीवन के लिए आधार होते थे। इन वनों में जंगली-जानवर रहते थे। इनके अलावा पशुधन के लिए वन काफ़ी उपयोगी थे।⁶

भारत में फलों की खेती भी की जाती थी। हेरोडोटोन ने वर्णन किया है कि भारत में फलों का काफ़ी उत्पादन होता था। इनमें मुख्य थे आम, जामुन उदुंबर, कदली, वीलवा,

करकरद, कबली आदि। औषधियों का भी भारत में उत्पादन होता था। इसके अलावा भारत में फूलों की भी खेती होती थी।⁷

कृषि करने की तकनीक एवं तरीके :

भारत प्राचीन काल से ही कृषि-प्रधान देश रहा है। यह संभव भूमि की उर्वरता तथा जलवायु के कारण ही ऐसा संभव हुआ होगा। कृषि-प्रक्रिया में किए जानेवाले कार्य इस प्रकार हैं—
क्षेत्र की तैयारी :

कृषि-योग्य भूमि को क्षेत्र कहा जाता था। याज्ञवल्क्य के अनुसार वैश्य ही मुख्यतः कृषि-कर्म करते थे और इसके विकास में प्रयत्नशील रहते थे। खेत में भृत्य से श्रम का काम कराया जाता था और वही खेतों की देखभाल करते थे। खेत को जोतने के लिए कारयेत शब्द का प्रयोग किया है। शतपथ ब्राह्मण में खेतों को जोतने के लिए कर्षण, वयन करने के लिए कर्तन और मोड़ने के लिए मर्दन शब्द का प्रयोग हुआ है। बौद्ध साहित्य में खेत जोतने की प्रक्रिया को कर्भात कहा जाता था। किसान नित्य ही खेतों में जाकर उनको कृषि योग्य करने में ही जुटे रहते थे। क्षेत्र को भली-भाँति तैयार करने के बाद ही बीज बोने से उपज अधिक होती थी। कृषि-योग्य भूमि को ऊसर कहते थे और जहाँ पशु चरते थे उसे गोचर भूमि कहते थे।⁸ जुती हुई भूमि को हल्य या सीत्य के नाम से पुकारा जाता था। जोतने के लिए जो चीज प्रयोग की जाती थी उसे हल या सिरा कहते थे। पिलनी ने दर्शाया है कि खेतों को जोतने के लिए हाथियों का भी प्रयोग होता था। खेत को जोतने के बाद उसमें बीज बोए जाते थे, जो कि सत्र के अनुसार होते थे।

बीजवपन :

याज्ञवल्क्य के समय में बीज आदि का क्रय-विक्रय किया जाता था। परीक्षण से क्रय किया जाता था। ब्रीहि आदि का बीज दस दिन में परीक्षण के बाद बोया जाता था। बीज बोने का उचित समय व तिथियाँ भी निश्चत थीं।⁹ याज्ञवल्क्य ने फसल के लिए शस्य शब्द का प्रयोग किया है। बिना जोती हुई भूमि में स्वतः उगे हुए विभिन्न अन्नों को नीवार वेणु तथा श्यामक कहते थे। इनका प्रयोग प्रायः वानप्रस्थी एवं योगी लोग करते थे।¹⁰

इस प्रकार फसल दो प्रकार की होती थी। (क) कुषुपच्य तथा अकृपच्य। कुषुपच्य उस फसल को कहते थे, जो विभिन्न स्थानों पर स्वयं उत्पन्न हो जाती थी। कौटिल्य ने तीन प्रकार के फसलों का उल्लेख किया है, जो क्रमशः वर्षा के आरंभ मध्य एवं अंत में बोई जाती थी। कौटिल्य ने परती भूमि और वन भूमि का उल्लेख किया है, जिसमें पैदावार बढ़ाने के लिए विभिन्न प्रकार के खादों का प्रयोग किया जाता था। (अर्थशास्त्र 21) शालिखेत (धान के खेत) उच्च खेत (ईख के खेत) टिन के खेत (धास युक्त भूमि) यवखेत (जौ खेत) आदि शब्दों से आभाष मिलता है। कि फसलों के आधार पर भी खेतों का निर्धारण हुआ करता था। कौटिल्य ने ऐसी फसलों का उल्लेख किया है, जो वर्षा के प्रारंभ में, मूँग, उड़द और वोड़ा वर्षा के मध्य में कुसूम, मसूर, जौ, गेहूँ, मटर, अलसी, सरसों आदि वर्षा के अंत बोई जानी चाहिए, ऐसा कौटिल्य ने कहा है।

कौटिल्य ने बीजों के बारे में भी उल्लेख किया है। धान के बीजों को सात रात ओस में रखा जाता था और दिन में उन्हें सुखाया जाता था। ईख आदि की आँखों को खेत में गाड़ने से पहले ईख आदि के तुकड़े किए हुए भाग पर मधु-धृत सूअर की चर्बी और गोबर को मिलाकर

लगाया जाता था। 11 कंदों को बोने से पहले उनके छेदों पर मधु और धृत का लेप किया जाता था। और कपास को बोने से पहले उनके बीजों से बोकर मल दिया जाता था, जो भूमि फानाघात है नदी के जल से आप्लवित हो जाती है। यूनानी लेखकों ने भारत भूमि की उर्वता की भूरी-भूरी प्रशंसा की है तथा अन्य प्रकार के अनाजों और फलों का उल्लेख किया है, उन्होंने धान, गेहूँ, जौ, दाल, फल आदि का उल्लेख किया है। 12 पुरातत्विक साक्ष्यों से खेती में प्रयुक्त होनेवाले उपकरणों की भी जानकारी मिलती है। सिरकय से भी प्रथम शताब्दी ई० के आजकल फावड़े की आकृति के औजार मिले हैं। कौशांबी के उत्खनन से भी प्रथम शताब्दी के खेती के उपकरण मिले और कुषाण कालीन सतह से भी ऐसे ही औजारों की प्राप्ति हुई, जो कृषि कार्यों प्रयोग में लाते थे।

हस्तिनापुर और अतरंजी खेड़ा से भी उत्खनन के दौरान खेती के काम आनेवाले औजार पाए गए हैं। इन साक्ष्यों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि इस काल में कृषि-व्यवसाय काफी विकसित था और ऐसा लगता है कि अतीत काल में कृषकों को कृषि का समुचित ज्ञान हो चुका था। लोहे के उपकरणों का कृषि के क्षेत्र में व्यापक प्रयोग कृषि-कार्य के स्वस्थ और उसके परिणामों में हुए गुणात्मक परिवर्तन का ही साक्ष्य प्रस्तुत करता है।¹³

सिंचाई :

कृषि के लिए सिंचाई की समुचित व्यवस्था के प्रति शासन भी सचेत था। महाभारत में कहा गया है कि राज्य के विभिन्न भागों में राजा ने तालाब बनवाए, जिससे कि कृषि केवल वर्षा पर निर्भर न रहे। मैगस्थनीज ने लिखा है कि उसके समय में भारतवर्ष में सिंचाई का प्रबंध था। वैदिककाल में भी सिंचाई की व्यवस्था की गई थी। शाक्यों में रोहिणी नदी पर बनवाए गए बाँध का उल्लेख मिलता है।¹⁴

स्मृतियों में उल्लेख है कि राज्य की तरफ से तालाब, झरनों और कुओं का निर्माण कराया गया। साथ-साथ यह भी उल्लेख है कि बाँधों या कृत्रिम जलाशयों को तोड़नेवालों या नुकसान पहुँचानेवाले को दंड दिया जाता था। मैगस्थनीज ने भी लिखा है कि कुछ लोग नदियों का निरीक्षण करते थे, भूमि की माप-तोल करते थे और प्रमुख नहरों से छोटी-मोटी नहरें निकालकर जल देने की व्यवस्था करते थे।¹⁵

साहित्यिक साक्ष्यों के अतिरिक्त पुरातात्विक साक्ष्यों में इस काल के कुछ पक्की मिट्टी के बने बड़े गोल कुओं की जानकारी मिलती है। ये कुएँ हस्तिनापुर, दिल्ली, रोपड़, उज्जैन, मथुरा, नासिक आदि में पाए गए हैं। अशोक द्वारा जनता की सुविधा के लिए प्रत्येक कोस पर कुओं का निर्माण करवाने के पीछे सिंचाई-सुविधा सुलभ कराने की भावना रही होगी। प्रथम सदी ई० के मथुरा के लेख से जानकारी मिलती है कि शक नरेश सोदास के ब्राह्मण कोषाधिकारी ने एक तालाब का निर्माण कराया था।

बेसनगर में हुई खुदाई के दौरान भी तालाबों के निर्माण की जानकारी मिलती है। दक्षिण भारत में द्वितीय शताब्दी ई० में बने तालाबों की भी जानकारी मिलती है।

कुम्रहार नामक स्थान पर हुई खुदाई के दौरान मौर्यकालीन 45 फुट चौड़ी 10 फुट गहरी और 450 फुट लंबी नहर मिली है। अभिलेख से भी पता चलता है कि कलिगंराज खाखेल ने अपने शासन के पाँच वर्ष में नहर का निर्माण किया, जिसका निर्माण ईसा-पूर्व चौथी सदी में

नंद राजाओं ने कराया था।

विदिशा के प्राचीन स्थान बेसनगर से उत्खन्न में नहरों के साक्ष्य मिले हैं। भंडारकर ने इस नगर के निर्माण की तिथि मौर्यकालीन बतलाई है।¹⁶

जूनागढ़ लेख से जानकारी मिलती है कि शक नरेश ने जनता से बिना बेगार लिए ही सुदर्शन झील का जीर्णोद्धार कराया, जिसका निर्माणकार्य चंद्रगुप्त और अशोक के प्रांतपतियों के निर्देशन से संपन्न हुआ था। द्वितीय शताब्दी ई० में शक नरेशों के हितों को ध्यान में रखकर तालाबों का निर्माण करवाया था। शक नरेश के संबंधी उषावदान ने भी जलाशयों का निर्माण कराया था। कौटिल्य न सिंचाई के आधार पर राज्य को प्राप्त होनेवाले करों का उल्लेख किया है। शारीरिक श्रमवाले अन्न का उपज का 1/5 भाग, कंधे से जल ढोकर सिंचाई से उत्पन्न होनेवाले अन्न का उपज का 1/4 भाग, स्वाभाविक जलप्रपातों से सिंचाई करने से कर उपज 1/3 भाग लिया जाता था।¹⁷ इस प्रकार इन तमाम साक्ष्यों से यह बात स्पष्ट है कि सिंचाई की व्यवस्था करना शासन का कर्तव्य माना जाता था। याज्ञवल्क्य के अनुसार दो खेतों की सीमा के विवाद का निर्धारण वृद्ध पुरुष गोप अथवा सीमा के खेत जोतनेवाले लोगों से खेत की सीमा से चिह्न पूछकर सामंत करवाता था। अतः सिंचाई-व्यवस्था उत्तम थी।¹⁸

फ़सल की सुरक्षा :

फ़सल की सुरक्षा के लिए बाड़ा होता था। खेत, चरागाहों एवं इसके आस-पास होते थे। फलतः पालतू एवं जंगली जानवरों द्वारा फ़सल को खा जाने का भय किसानों को सदा बना रहता था। इनसे फ़सल को सुरक्षित रखने के लिए कृषक अपने खेतों के चारों ओर ऊँची-ऊँची बाड़ लगाते थे। इन ऊँची-ऊँची बाड़ों का दूसरा लक्ष्य खेतों को एक-दूसरे से पृथक् रखने के लिए उनकी सीमा बनाए रखना भी था। इससे बोने के बाद बीज, जलप्रवाह एवं वायु से उड़कर दूसरे के खेतों में जाने से भी बचाता था।¹⁹ इसके अतिरिक्त उन दिनों जन-साधारण में यह धारणा थी कि वृक्षों में जीवन होता था और वनस्पति को हानि पहुँचाना जीव हिंसा है। यह धारणा पालतू पशुओं से खेतों की रक्षा में भी सहायक थी। यदि किसी भी भैंस, गधा अथवा ऊँट बाड़ में प्रवेश करके फ़सल को क्षतिग्रस्त करता था, उससे आठ 'भास' दंड के रूपे वसूल किया जाता था।²⁰ गाय द्वारा फ़सल को नुकसान पहुँचाने पर दो 'भास' का दंड वसूल किया जाता था। पशु-पालक अधर्म तथा राजदंड के भय से अपने पशुओं को प्रायः खेतों से दूर ही रखते थे। वन्य पशुओं से सुरक्षा के लिए कभी-कभी खेतों के चारों तरफ़ खाई खुदवाने का उल्लेख भी मिलता है।

पशुपालन :

प्राचीन भारत में पशुपालन एक महत्त्वपूर्ण पेशा था। भूमि और जलवायु की उत्कृष्टता के कारण सर्वत्र चरागाह रहे होंगे। जनसंख्या स्वल्प होने के कारण चरागाह आज की अपेक्षा कई गुना बड़े और ज़्यादा रहे होंगे। इन मैदानों में घास चरनेवाले तथा पेड़-पौधे की पत्तियाँ खानेवाले पशु चरते थे। पीने के लिए जल भी सर्वत्र प्राप्त था। पशुपालन प्रायः वैश्य वर्ग के लोग करते थे। किंतु यह भी संभव है कि अन्य वर्गों के लोग भी पशु पालते रहे होंगे। पशु को वैदिककाल से ही धन का एक रूप माना गया है।²¹

पालतू पशु :

गाय का पशुओं में बड़ा महत्त्व। गाय से दूध प्राप्त किया जाता था तथा उससे प्राप्त

बछड़े बड़े होकर हल और गाड़ी खींचने के उपयोग में लाए जाते थे। गाय की लोकप्रियता का मुख्य कारण था, उसका जीविका प्रदान करने के लिए सर्वोच्च साधन होना। इस दिशा में अन्य पशुओं से गाय की कोई तुलना नहीं थी। किसी-किसी परिवार के पास सहस्रों गायों का झुंड होता था। इनको रहने या रखने के लिए गौशालाओं का निर्माण कराया जाता था। गाय का महत्त्व वैदिक काल से ही प्रमाणित है। लोग गाय और अश्वों के द्वारा धनी बनने की कामना करते थे। दस दिन से कम ब्याई हुई तथा, जिनका बछड़ा मर जाता था, उसका दूध पीना वर्जित था।²³ गाय का पैर पड़ने से अशुद्ध पृथ्वी शुद्ध हो जाती थी। गायों को चरने के लिए राज्य की ओर से चरागाह की व्यवस्था की जाती थी। चरवाहे की कमी से पशु के नाश होने पर चरवाहे को साढ़े तेरह 'पण' दंड के रूप में स्वामी को देना पड़ता था। इससे यह भी ज्ञात होता है कि लोग अन्य पशुओं की अपेक्षा गाय को अधिक संख्या में पालते थे। अतः धार्मिक एवं आर्थिक दृष्टि से गाय का महत्त्व अधिक था। वर्तमान समय में भी गाय के महत्त्व को भी स्वीकार किया गया है।

1. **गायों का दान के रूप में** : पवित्र चीजों का दान ही कल्याणकारी होता है और गाय सबसे पवित्र चीज थी। गायों का किया जाता था। वेदों में गायों को दान देने के बड़ी संख्या में हमें प्रमाण मिले हैं।

2. **बैल** : कुषाण समय में गाय के अतिरिक्त बैल का भी बहुत महत्त्व था। हल आदि जोतने, गाड़ियाँ खींचने तथा खलिहान में अनाज तैयार करने में बैलों का उपयोग होता था।

3. **घोड़ा** : संभवतः युद्धों के लिए घोड़ा बहुत उपयोगी पशु था। इसकी चाल की प्रशंसा की गई है। घोड़े, रथों और गाड़ियों में भी जोते जाते थे। घोड़ों पर लोग सवारी करते थे और उनकी दौड़ भी होती थी। घोड़े युद्ध के समय मैदान में काम आते थे। संभवतः घोड़ों का मांस भी खाया जाता था। पुरोहित को घोड़े दान में दिए जाते थे।²⁴ घोड़ा अपनी तीव्र गति के कारण प्राचीनकाल में बहुत लोकप्रिय बन गया था। घोड़े व रथ ने प्राचीन आर्यों के जीवन में बहुत महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए थे, जिनके कारण सामाजिक व सांस्कृतिक विकास भी प्रभावित हुआ। यातायात के साधनों में आजकल जो स्थान रेल, जहाज़ आदि का है, वही स्थान वैदिककाल में रथ व घोड़ों का था। रथ व घोड़े इतने प्रिय थे कि उन पर राजाओं के नाम भी रखे जाते थे। जैसे दशरथ, नवरथ आदि।

घोड़ा एक ईमानदार, सुंदर, तेज़ गतिवाला, अदम्य उत्साहयुक्त, साहसी व सर्वश्रेष्ठ पशु माना जाता था। इसलिए उपर्युक्त गुणों की तुलना के लिए उपमान के रूप में उसका प्रयोग किया जाता था।²⁵

4. **ऊँट** : ऊँटों का स्थान भी काफी महत्त्वपूर्ण था। इनसे व्यापारी वर्ग के लोग सामान इधर-से-उधर ले जाते थे। ऊँटों को दान में भी देने का प्रमाण मिले हैं और वे गाड़ियों में भी जोते जाते थे। राजाओं के पास भी अपने ऊँट होते थे। कई बार गृह में भी सामग्री ले जाने के लिए भी इनकी आवश्यकता पड़ती थी।

5. **भेड़-बकरी** : कुषाण काल में भेड़ बकरी भी पाली जाती थी। भेड़ों की ऊन से गर्म कपड़े बनाए जाते थे और इनका मांस भी खाया जाता था। कुषाण काल में भेड़-बकरी से लोगों को जीवन-निर्वाह में भी मदद मिलती थी।²⁶

6. **हाथी** : हाथियों पर राजा सवारी करते थे और युद्धों में भी जाते थे। कई बार-बार राजा हाथियों पर बैठकर शिकार करते थे। उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि कुषाण युग की

आर्थिक व्यवस्था में पशुपालन का भी महत्वपूर्ण स्थान था।

7. **आरण्यक पशु** : पालतू पशुओं के साथ आरण्यक पशुओं का भी उपयोग था, ये स्वच्छंद विचरण करते थे। याज्ञवल्क्य ने उनके साथ अन्य पशुओं का भी वर्णन किया है। उन्होंने मृग का उल्लेख किया है, जो इसके चर्म का उपयोग प्रायः वनचारी एवं यति लोग करते थे। काले मृग को कृष्ण सारंग कहा जाता था। चंवर बनाने के लिए चमरी (मृग की एक जाति) का शिकार किया जाता था।²⁷

शूकर पालतू एवं जंगली दोनों प्रकार के होते थे। शूकर मांस और खाल के लिए पाले जाते थे और इनकी अस्थियों से अस्त्र भी बनाए जाते थे। इसी प्रकार खरगोश भी एक अरण्यक जानवर था। इसका मांस भक्षण किया जाता था। आज भी लोग खरगोश के मांस के लिए उनका शिकार करते हैं। गैंडा भी एक बड़ा पशु था। इसका चर्म संभवतः उपभोग में लाया जाता रहा होगा। अरण्य पशुओं में सिंह हिंसक पशु था।²⁸ व्याघ्र, सिंह आदि से व्याप्त जंगलों का उल्लेख महाभाष्य में मिलता है। इसके चर्म का अनेक कार्यों में प्रयोग किया जाता था। इसी प्रकार के कुछ अन्य जंगली जानवर भी थे। जंगली जानवरों की तरह से ही पक्षी भी समाज की संपत्ति समझे जाते थे। कुकड़ एक पालतू पक्षी था। मुर्गा का मांस भी खाया जाता था। प्राचीनकाल से ही मुर्गा प्रभात की सूचना देता है। मयूर को भी पालतू पक्षियों की श्रेणी में गिना जाता था। इसी प्रकार अन्य पक्षियों का वर्णन भी इस काल में मिलता है।²⁹ जैसे— हंस, तोता, कौआ, बगुला ये सब समाज की संपत्ति में आते थे।

जलचर :

धरा पर रहनेवाले जानवरों के साथ-साथ जल में रहनेवाले जानवरों का भी काफी महत्व था। जल में रहनेवाले जीव यथा मछली, कछुओं आदि का उल्लेख याज्ञवल्क्य स्मृति में आया और इस काल में मछलियों में रोहित, पाठीन, राजीव (पद्म के समान रंगवाली) मुख्य हैं। संभवतः मछलियों का क्रय-विक्रय भी होता था।³⁰

कछुआ भी एक जलजंतु था। इसका मांस द्विजातियों द्वारा खाया जाता था। आज भी बहुत से लोग कछुए का मांस खाते थे। एक प्रकार का तेल भी निकाला जाता था, जो औषधियों के रूप में प्रयोग किया जाता था। इस प्रकार यह उस समय का एक अत्यंत उपयोगी जल-जंतु प्रतीत होता है।³¹

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट होता है कि कुषाण काल की आर्थिक व्यवस्था में पशुपालन का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान था। गायों व बैलों द्वारा कृषि-प्रधान भारत वैदिक युग में आश्चर्यजनक विकास कर सका। भेड़ बकरी आदि के व्यवसाय का विकास करके आर्य सभ्यता व पहाड़ी वर्ग अपना उदर-निर्वाह करता था। इन सब पशुओं में घोड़ा अत्यंत महत्वपूर्ण था। क्योंकि कुषाण युग के सामाजिक व आर्थिक जीवन में इसने क्रांति उत्पन्न कर दी थी। यातायात की व्यवस्था में भी इन पशुओं का महत्वपूर्ण स्थान था।

संदर्भ

1. ओमप्रकाश, प्राचीन भारत का, सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास।
2. कैलाशचंद्र, प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास।
3. त्रिपाठी रामनरेश, प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक।

4. बुच, एम०ए०, इकोनॉमिक लाइफ इन एशिएट इंडिया।
5. दास, एस०के०, दि इकोनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया।
6. बुच, एम०ए०, इकोनॉमिक लाइफ इन एशिएट इंडिया।
7. बोस ए०एल०, सोशल एंड इकोनामी ऑफ नार्दन इंडिया खंड-2।
8. दास एस०के०, इकोनॉमिक हिस्ट्री ऑफ एशियन इंडिया।
9. अर्थशास्त्र, वाचस्पति, गैरोला।
10. महाभारत, भंडारकर, ओरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट।
11. रघुवंश।
12. ओमप्रकाश, इकोनॉमी एंड फूड इन एशिएट इंडिया।
13. अग्रवाल, वी०एस०, इंडिया एज डिस्क्राइव वाइ मनु।
14. मिलिंदपन्हो, बॉवे यूनिवर्सिटी पब्लिकेशंस।
15. रणधावा एम०एस०ए०, हिस्ट्री ऑफ एग्रीकल्चर इन इंडिया, खंड-1 नई दिल्ली 1980
16. डी०डी० कौशांबी, द कल्चर एंड सिविलाइजेशन आव ऐशियंट इंडिया इन हिस्टोरिकल आउट लाइन, पृ० 621
17. जी०एस०पी० मिश्र, प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्था।
18. वैदिक स्तुति, उद्धृत द वैदिक, पृ० 356
19. अग्रवाल वी०एस०, इंडिया एज डिस्क्राइव वाई मनु, पृ० 242
20. चौधरी राधाकृष्ण, इकोनॉमिक हिस्ट्री ऑफ एशिएट इंडिया।
21. संकालिया एस०डी०, स्टडीज इन इंडिया आरक्योलॉजी।
22. बोस ए०एल०, सोशल एंड इकोनामी ऑफ नार्दन इंडिया खंड-2।
23. बूम० एम०ए०, इकोनॉमिक लाइफ इन एशिएट इंडिया।
24. मजूमदार आर०सी०, एशिएट इंडिया हिंदू यूनिवर्सिटी बनारस।
25. मजूमदार आर०सी०, एशिएट इंडिया हिंदू यूनिवर्सिटी बनारस।
26. अलचिन बी०आर०दि० बर्थ ऑफ सिविलाइजेशन।
27. चाइल्ड गोर्डन, मैन मेक्स हिमसेल्फ।
28. फेयर सर्विस वाल्टर, दि स्वटस ऑफ एशिएट इंडिया, लंदन 1971
29. मजूमदार जी०पी० ओरिजन एंड डेवलपमेंट ऑफ दि साइंस ऑफ एग्रीकल्चर इन एशिएट इंडिया।
30. गोपाल एल०, इकोनॉमिक लाइफ ऑफ नार्दन इंडिया।
31. मजूमदार बी०पी०, सोशल इकोनॉमिक हिस्ट्री ऑफ नार्दन इंडिया।

□ पुत्र श्री राजेंद्रकुमार
गाँव मुनीमपुर, डा० बामनोला (झज्जर)

भूमंडलीय ऊष्मीकरण

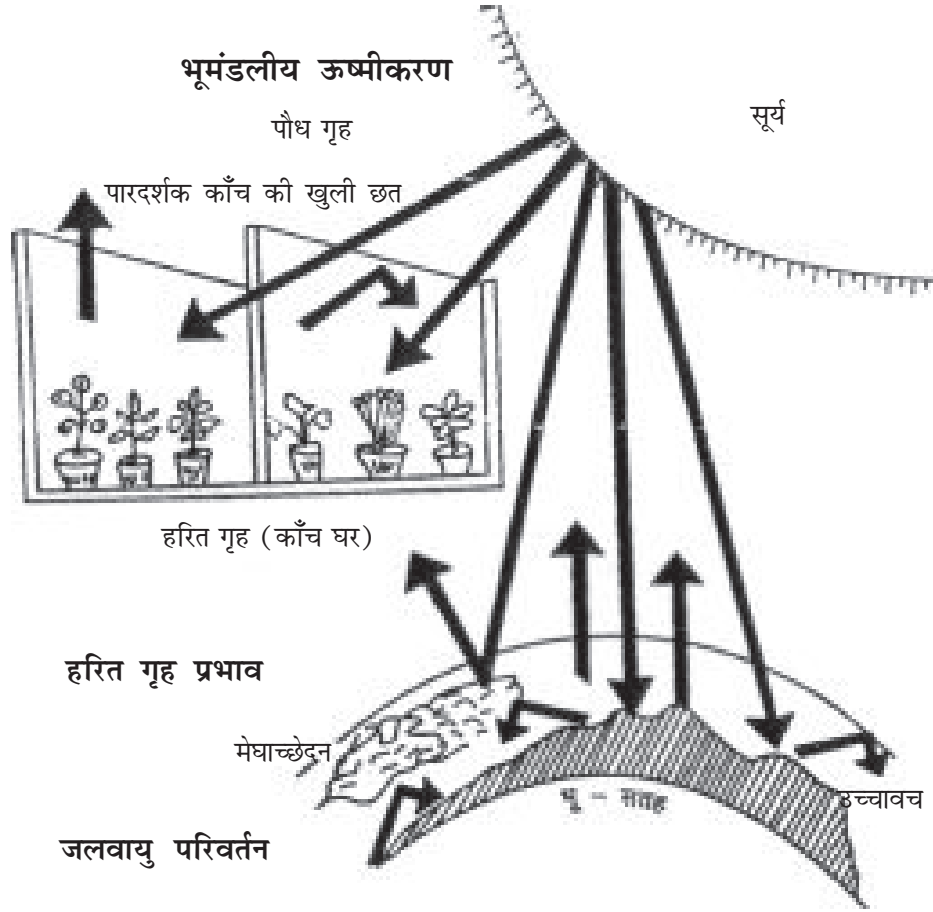
डॉ० रश्मि गोयल

धारणीय विकास को ध्यान में न रखते हुए औद्योगीकरण और वनों के विनाश से वातावरण में कार्बन डाई आक्साइड की मात्रा दिनों दिन बढ़ती जा रही है। बढ़ती कार्बन डाईआक्साइड की अधिकता एक चादर के रूप में दिखाई देती है, जिसके कारण सूर्य के प्रकाश के साथ धरती पर आनेवाली इंफ्रारेड रेडियो एक्टिव किरणें पूर्ण रूप से वापस नहीं हो पाती हैं। इस तापीय ऊर्जा के वायुमंडल में इस तरह से रह जाने से धरती के औसत तापमान में बढ़ोत्तरी हो जाती है, जिसे ग्लोबल वार्मिंग (भूमंडलीय ऊष्मीकरण) कहा जाता है।

आज दुनिया-भर में बदलते जलवायु-परिवर्तन को लेकर अनुसंधान चल रहे हैं, हमारे देश में भी पिछले बारह वर्षों से सर्दी, गर्मी एवं बारिश के निरंतर असीमित एवं कम होने से समूचा वातावरण लगभग 9-10 माह गर्म ही रहता आ रहा है, कहीं बारिश की एकदम कमी हो रही है। 40 डिग्री से ऊपर पहुँचते तापमान से एवं अनुसंधानों से एक बात जो सामने आ रही है कार्बन हाउस, गैसों की धरती पर बढ़ती मात्रा, बढ़ती संख्या में वाहन और बंजर होती धरती, जो दिनोंदिन धरती के पारे को बढ़ाती जा रही है। एक ओर धरती नंगी होती जा रही है, दूसरी ओर आकाश में ओजोन परत के बढ़ते छेद निरंतर क्लोरो फ्लोरो कार्बन से अर्थात् सी.एस.सी. के अंधाधुंध उपयोग से यह छेद दिनोंदिन गहराता जा रहा है, जिससे सूरज की तेज किरणों से निकली पराबैंगनी किरणों का खतरा बढ़ गया है। यदि हरे-भरे पेड़ कटते रहे, वाहनों का प्रदूषण बढ़ता गया और ओजोन की परत का पूरी तरह विनाश हो गया, तो धरती पर कुछ भी नहीं बचेगा। तब सब कुछ जलकर राख हो जाएगा।

पृथ्वी पर जीवन की परिस्थितियाँ इस प्रकार की हैं कि मात्र प्राकृतिक ऊर्जा (उदाहरणतः सूर्य के प्रकाश) से ही सुचारु रूप से संचालित होती रहती हैं। पहले के ज़माने में लोग दिन की रोशनी में काम करते थे और रात में प्राकृतिक हवा का आनंद लेते हुए सोते थे, आवागमन का साधन या तो पैदल चलना था या पशुओं द्वारा खींचे जाने वाले वाहन। यही कारण था कि प्रदूषण का स्तर नगण्य था और हवा ठंडी तथा साफ़-सुथरी थी। औद्योगिक और प्रौद्योगिकी क्रांति के बाद न केवल कारों, बल्कि ए०सी०, रेफ्रिजरेटर तमाम किस्म के रासायनिक उत्पादों और धुआँ उगलती फैक्ट्रियों ने वायुमंडल को गर्म करना शुरू कर दिया। पेड़ों की कटाई और दिन-रात बिजली के इस्तेमाल ने इस आग में घी डालने का काम किया। परिणाम यह निकला कि ज़हरीली गर्म गैसों के दुष्प्रभाव से हमारी पृथ्वी की दशा सुलगती हुई भट्टी जैसी होती जा रही है।

भारत में ही अमरनाथ में प्राकृतिक रूप से बनने वाला बर्फ का शिबलिंग पिघलने से एक ओर जहाँ भक्तों में निराशा है, वहीं इस घटना ने ग्लोबल वार्मिंग को लेकर चिंता बढ़ा दी है। वायुमंडल का तापमान बढ़ने के कारण आर्कटिक की बर्फ तेज़ी से पिघल रही है और मुख्य



नदियों के स्रोत ग्लेशियर खत्म होते जा रहे हैं। अमेरिकी थिंक टैंक प्यू रिसर्च सेंटर द्वारा 47 देशों में अभी हाल ही में कराए गए एक सर्वेक्षण में अधिकांश देशों की राय में ग्लोबल वार्मिंग दुनिया के लिए सबसे बड़ा खतरा है। इस सर्वेक्षण में दुनिया के समक्ष उपस्थित सबसे बड़ी समस्याओं के रूप में पर्यावरण-प्रदूषण एवं ग्लोबल वार्मिंग सहित अमीर-गरीब के बीच खाई, परमाणु हथियार, एड्स एवं अन्य संक्रामित बीमारियाँ और जातीय घृणा को पाँच श्रेणियों में रेखांकित किया गया था। प्रदूषण एवं ग्लोबल वार्मिंग को सबसे बड़ा खतरा माननेवाले देशों में इस मुद्दे पर राय अलग-अलग थी कि इस समस्या से निपटने की जिम्मेदारी किस राष्ट्र की है। हालाँकि 37 में से 34 देशों ने इसके लिए एक सुर में अमेरिका को जिम्मेदार ठहराया। आँकड़ों के अनुसार वर्ष 2004 के दुनिया में 27 अरब टन कार्बन डाइ आक्साइड गैस का उत्सर्जन दर्ज किया गया, जिसमें अकेले अमेरिका का योगदान 5.9 अरब टन, फिर चीन 4.7, रूस 1.7, जापान 1.3 और भारत 1.1 अरब टन उत्सर्जन के जिम्मेदार थे।

सर्वेक्षण में शामिल 35 में से 20 देशों में पर्यावरण को सबसे बड़ा खतरा बताने वालों

की संख्या में पिछले पाँच सालों में वृद्धि हुई है।

औद्योगीकरण की राह पर अन्य विकसित राष्ट्रों की अपेक्षा अमेरिका में ग्लोबल वार्मिंग को मुख्य समस्या माननेवालों की संख्या सबसे कम 37 फीसदी रही। चीन में 70 प्रतिशत लोगों ने इसे सबसे बड़ा खतरा बताया।

अमीर-गरीब के बीच खाई को दूसरी अहम समस्या माननेवालों की संख्या में पिछले पाँच सालों में वृद्धि हुई है। इस समस्या से निपटने के लिए ज्यादातर देशों की जनता की राय में संबंधित राष्ट्र की सरकार को प्रभावी कदम उठाने चाहिए। 35 में से 11 देशों की जनता ने इस बार इस समस्या की गंभीरता पर पिछली बार (वर्ष 2002 के सर्वेक्षण) की अपेक्षा ज्यादा जोर दिया। भारत में 36 प्रतिशत लोगों ने संसार के लिए इसे गंभीर समस्या बताया। अमेरिका में 33 प्रतिशत एवं चीन में 5 प्रतिशत लोगों की नजर में यह एक गंभीर समस्या है।

एड्स एवं अन्य संक्रमित बीमारियों, परमाणु प्रसार और धार्मिक एवं जातीय घृणा को मुख्य खतरा माननेवालों की संख्या घटी है। हालाँकि अफ्रीकी देशों की जनता की नजर में एड्स में एड्स एवं अन्य संक्रमित बीमारियाँ अभी भी सबसे गंभीर समस्या है भारत में 42 प्रतिशत एवं बांग्लादेश में 50 प्रतिशत लोगों ने एड्स को गंभीर समस्या माना।

पर्यावरण है समस्या

पूरी दुनिया में पर्यावरण को सबसे बड़ी समस्या मानने वालों का प्रतिशत बढ़ा है

देश	2002	2007	परिवर्तन
ब्राजील	20	49	+29
अर्जेंटीना	28	53	+25
फ्रांस	29	52	+23
वेनेजुएला	20	42	+22
पेरु	37	55	+18
जर्मनी	27	45	+18
बुल्गारिया	28	45	+17
भारत	32	49	+17
ब्रिटेन	30	46	+16
जापान	55	70	+15
स्लोवाकिया	36	50	+14
अमेरिका	23	37	+14
युगांडा	8	22	+14
पोलैंड	20	33	+13

सभी आँकड़े प्रतिशत में हैं।

संयुक्त राष्ट्र-संघ की अंतर्राष्ट्रीय समिति के अनुसार आगामी वर्षों में विश्व के औसत तापमान में प्रति दशक 0.3 प्रतिशत की वृद्धि होगी और इस दर से सन् 2100 तक पृथ्वी का तापमान 3.6 डिग्री सेल्सियस और बढ़ जाएगा, वहीं इस संबंध में अमेरिका की प्रतिष्ठित संस्था ई.पी.ए. का मत है कि तापमान में 4 डिग्री सेल्सियस की वृद्धि से वाष्पीकरण में 30-40 प्रतिशत

तक की वृद्धि संभावित है, जिसका विशेषकर एशिया और अफ्रीका के अर्ध-शुष्क प्रदेशों पर काफी 'ख़तरनाक' प्रभाव पड़ेगा, जिससे पानी और पशुओं के चारे की भीषण समस्या उत्पन्न होगी। वॉशिंगटन स्थित अनुसंधान संस्थान 'बसपउंजम प्देजपजनजम' द्वारा एशिया में जलवायु-परिवर्तन पर तैयार की गई रिपोर्ट के अनुसार ग्रीन हाउस गैसों के प्रभाव के कारण भारत, पाकिस्तान, मलेशिया, श्रीलंका जैसे राष्ट्रों में तापमान के बढ़ने से समुद्र-सतह में वृद्धि भी व्यक्त की गई है। यदि गतिशीलता का कहर और तेज़ होता है तो समुद्री क्षेत्रों में 0.5 डिग्री से 4.5 डिग्री सल्फ़र डाई-आक्साइड हो सकती है। तब समुद्र का वर्तमान स्तर 15 सेमी. से 90 सेमी. तक बढ़ जाएगा। इसी आधार पर आगामी कुछ सौ वर्षों में इन देशों के समुद्र-तट पर बसे महानगरों के जलमग्न हो जाने की आशंका भी व्यक्त की गई है। तब हमारे यहाँ मुंबई के लिए ख़तरा सर्वाधिक बढ़ गया है। पृथ्वी का तापमान बढ़ने से मनुष्य और प्राणियों के स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। तापमान में वृद्धि के कारण वातावरण के निचले स्तर में 'ओजोन' की मात्रा बढ़ रही है, जो अपने आपमें शक्तिशाली प्रदूषक है। इसलिए मच्छरों से फैलने वाले रोगों में भी काफी वृद्धि होगी। वहीं प्राणवायु ऑक्सीजन में कमी और कार्बन-डाई आक्साइड की बढ़ती मात्रा से श्वास-संबंधी तकलीफें और बढ़ जाएँगी। सन् 1996 तक अमरीका में उद्योगों से उत्सर्जित हो रही कार्बन-डाई-आक्साइड की मात्रा सन् 1990 की अपेक्षा 8.3 प्रतिशत बढ़ चुकी थी। सुविधा-संपन्न विश्व के धनाढ्य विकसित देशों के पास ऑक्सीजन की कम होती समस्या से निपटने के लिए आवश्यक धन और तकनीकी भी है। वह भारत जैसे निर्धन विकासशील देश में जहाँ रोटी, कपड़ा, मकान, शिक्षा, जनसंख्या-नियंत्रण जैसे मुद्दे प्रमुख हों, वहाँ हालात कितने बदतर होंगे, इसकी कल्पना की जा सकती है। ग्रीन हाउस गैसों का बढ़ता प्रभाव कृषि के लिए भी काफी नुकसानदायक सिद्ध होगा, जिससे विश्व में विकराल खाद्यान्न संकट उत्पन्न होगा। ग्रीन हाउस गैसों का प्रभाव किसी भी तरह नियंत्रित करना वैज्ञानिकों के लिए चुनौती बन गई है।

पर्यावरण असंतुलन पारिस्थितिकीय अपकर्ष को रोकने के लिए विश्व स्तर पर होनेवाले सम्मेलनों में मानव-पर्यावरण स्टाकहोम सम्मेलन 1972, नैरोबी सम्मेलन 1982, ओजोन परत संरक्षण वियना 1985, पृथ्वी शिखर सम्मेलन 1997, जो मुख्य रूप से ग्रीन हाउस प्रभाव, ओजोन छिद्र के ख़तरे से संबंधित रहा क्योटो सम्मेलन 1997 जो पृथ्वी के ताप वृद्धि से बचने के उपायों की समीक्षा हेतु बुलाया गया था। मॉटियल सम्मेलन 1998, जिसके अंतर्गत क्लोरी कार्बन, हेलांस पदार्थों के उत्पादन एवं उपभोग पर 15 वर्ष के भीतर पूर्ण प्रतिबंध लगाने की बात की गई, द० अफ्रीका के जोहांसवर्ग में संपन्न पृथ्वी सम्मेलन 2002 के तहत सभी देशों में पर्यावरण-संबंधी क़ानूनी प्रावधान बनाने की बात की गई।

किंतु खेद का विषय है कि विश्व स्तर पर जितने भी पर्यावरण-संबंधी सम्मेलन, संधियाँ, कानून अस्तित्व में आए, वे कारगर नहीं हो पाए, इस तरह पर्यावरण की रक्षा के मामले में बातें अधिक और काम कम हुए।

ब्रिटेन के पर्यावरण मंत्रालय ने एनरी (एनर्जी रिलेटेड एनवायरनमेंट इन्व्यूट प्रोग्राम) कार्यक्रम शुरू किया है, जिसमें 20 विषयों का संबंध हमारे पर्यावरण से है। इसमें प्रमुख ग्रीन हाउस गैसेस को नुकसान, प्राकृतिक वायु संचारशीलन अर्थात् कूलिंग के लिए ऊर्जा का इस्तेमाल कैसे हो और इसके लिए क्या-क्या साधन हो सकते हैं। ऐसे अनुसंधान भी किए जा

रहे हैं, जिससे औद्योगिक प्रदूषण कम-से-कम हो, तो बड़े भवनों में लगने वाले एयर कंडीशनर, फ्रिज वगैरह को इसी से आम घरों को भी कम-से-कम ऊर्जा खपत के द्वारा ठंडा रख जा सके। प्राकृतिक वायु-संचार इसके लिए सर्वोत्तम तरीका है।

हमारे देश के हजारों गाँवों में आज भी प्राकृतिक वायुसंचार के साधनों को ही अपनाया जाता है, जिससे घर के खिड़की-दरवाजे खुले रखकर छोड़ दिया जाता है, ताकि उन्हें ठंडा रखने में सुविधा हो तथा ताज़ा हवा बनी रहे। किंतु आज के दौर में जंगलों का खत्म होना, पेड़ों को काटकर सीमेंट के जंगल बसाने एवं भौतिकता की चकाचौंध ने, फ्रिज, कूलर, पंखों एवं एयर कंडीशनरों ने समूचे वातावरण को ठंडा रखने के बजाय गर्मी को बढ़ाया है। इनसे जहाँ वातावरण में कार्बन डाई आक्साइड बढ़ी है, वहीं ऊर्जा और पानी का संकट भी खड़ा किया है। अनुसंधानकर्ताओं ने इसीलिए घरों और दफ्तरों में ज्यादा-से-ज्यादा पेड़-पौधे लगाने पर जोर दिया है, जिससे आसपास का वातावरण ठंडा बना रहे। पर हमारे देश में यह कितना कारगर एवं क्रियात्मक होगा, कहना मुश्किल है। यह एक वैज्ञानिक सत्य है कि जहाँ-जहाँ पेड़-पौधे हैं, वहाँ ठंड के साथ-साथ जल भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध रहा। यदि पृथ्वी पर जल, ऊर्जा और वातावरण को ठंडा बनाए रखना है, तो पेड़-पौधों के महत्त्व को अत्यंत गंभीरता से समझना पड़ेगा। हम सब जानते हैं कि वातावरण के दिन-पर-दिन गर्म होते रहने से नदियों, तालाबों, सागरों और अन्य स्रोतों का पानी भाप बनकर हवा में घुल रहा है। यह नम हवा ऊपर उठती है और ऊँचाई पर जाकर जहाँ वायु का दाब कम होता है, वहाँ फैल जाती है और अधिक ठंडी हो जाती है और एक स्थिति ऐसी आ जाती है, जब हवा में जल-वाष्प सोखने की क्षमता खत्म हो जाती है और जल की भाप धूल के कणों, नमक के कणों या हवा में मौजूद अन्य कणों पर जमने लगती है, पानी के इन सूक्ष्मतर बूँदों का व्यास 1 किलोमीटर के सौ हिस्से के बराबर होता है, ऐसी लाखों बूँदें बादल की जननी बनती हैं। ये बूँदें मिलकर जब बड़ी बूँदों का आकार लेती हैं, तो वजन के कारण बरसात होती है। यदि बादल से धरती के बीच की हवा गर्म हुई तो बादल से बरसता पानी बीच रास्त में ही फिर से भाप बनकर ऊपर की ओर लौट जाता है। पेड़ों या जल की विशेषता यह होती है कि उनके द्वारा निकलने वाली नमी जहाँ वातावरण में ठंडक बनाए रखती है, धरती और बादल के बीच उत्प्रेरक का कार्य कर धरती पर बारिश की बूँदों को पहुँचाने में सहायक होती है और बारिश की धरती से रूठने की नौबत जो पिछले सालों से आ रही है, उसे कम किया जा सकता है। पेड़ हमारे ग्रह के जीवन हैं, साक्षात् यज्ञ है, यही कारण है जहाँ अधिक पेड़ हैं, वहाँ बारिश अधिक होती है। मालवा पिछले सालों में पेड़ों के निरंतर करने से मरुस्थल की शक्ल लेता जा रहा है। शब-ए-मालवा की वो रंगीनियत आज लुप्त सी हो गई है।

यदि पेड़ों को लगाकर न सिर्फ उसकी सुरक्षा करें वरन् उसे पाँच वर्ष तक बढ़ने हेतु भी सहयोग करें घने पेड़ जहाँ हमारे लिए प्राणवायु काफ़ी मात्रा में छोड़ेंगे, वहीं वातावरण में ठंडक नमी भी पैदा करेंगे। इस ओर आज ही सारे समुदाय को एक साथ पहल करनी होगी अन्यथा बहुत देर हो चुकी होगी।

भू-मंडलीय ऊष्मीकरण के दुष्प्रभाव

1. तापमान बढ़ने से ध्रुवों की बर्फ पिघलेगी, परिणामस्वरूप समुद्र-सतह उठेगी और निचले

तटवर्ती क्षेत्र डूब जाएँगे। भारत के संदर्भ में उल्लेखनीय है कि मुंबई, कोलकाता और चेन्नई समुद्र में समा जाएँगे। अंडमान-निकोबार, लक्षद्वीप और मालाबार जैसे दीपसमूह भविष्य में अस्तित्वहीन हो जाएँगे।

2. मौसम में तेज़ी से परिवर्तन होगा। ध्रुवों की बर्फ पिघलने से परिस्थितिकीय संतुलन बिगड़ेगा आनेवाले वर्षों में समुद्र में भयंकर तूफान और चक्रवात आएँगे। ऋतुओं का क्रम बदलेगा, बेमौसम बारिश होगी।
3. समुद्री जल-स्तर बढ़ने के साथ कहीं-कहीं सूखा भी पड़ेगा।
4. मलेरिया, डेंगू और हैजा जैसी संक्रामक बीमारियाँ फैलेंगी।
5. मरुस्थलीय क्षेत्रों का विस्तार होगा।
6. साथ ही हरे-भरे वनों के लिए प्रसिद्ध हिमालय का तराई वाला क्षेत्र भी एक दिन बंजर होकर अंततः रेगिस्तान में परिवर्तित हो जाएगा। मौसम वैज्ञानिकों ने चेतावनी दी है कि यदि जल्द ही बढ़ते तापमान के ग्राफ को थामा नहीं गया तो इसके गंभीर परिणाम भुगतने होंगे।
7. कैलीफ़ोर्निया, अफ्रीका, फ्लोरिडा, इंडोनेशिया, लैटिन अमरीका, आस्ट्रेलिया, बंगलादेश तेज़ी से धँस रहे हैं और आनेवाले वर्षों में पानी में समा जाएँगे।
डमेंबीनेमजमे Institute of Technology के वैज्ञानिकों ने अगले 80 वर्षों में वेनिस, मालद्वीप आइसलैंड के पूर्णतया डूब जाने की भविष्यवाणी की है।
8. अंटार्कटिका में बर्फ तेज़ी से पिघल रही है। पहले जहाँ अंटार्कटिका में हिमपात होता था अब वहाँ बारिश होने लगी है।
9. फ़सल प्रारूप में परिवर्तन होगा।
10. बढ़ते तापमान के कारण ध्रुवीय प्रदेशों में बर्फ की पर्त की मोटाई 42 प्रतिशत कम हो गई है। साथ ही फ़ैरेबियन सागर में सैकड़ों प्रवाल भित्तियाँ नष्ट हो गई हैं। वैज्ञानिक कहते हैं कि प्रवाल भित्तियों के नष्ट होने का सीधा अर्थ है कि विश्व के कुछ महत्वपूर्ण परिस्थितिकीय तंत्र गिरावट की ओर हैं। सन् 2105 यानि सौ वर्ष बाद पृथ्वी के तापमान में 6 डिग्री सेल्सियस की वृद्धि होगी। समुद्र की सतह 9 से 88 सेंमी तक बढ़ जाएगी। इनका भयानक परिणाम यह होगा कि निकटवर्ती शहर डूब जाएँगे। हमें आनेवाली पीढ़ी को कहानी सुनानी होगी कि एक था मुंबई और एक था चेन्नई या एक था वेनिस।
11. बढ़ते तापमान के कारण अलनीनो जलधारा का प्रभाव भी प्रशांत महासागर और भारतीय मानसून पर हानिकारक हो गया है।

अंत में हम यही कर सकते हैं कि यदि समय रहते पर्यावरण को संतुलित रखने के कड़े क़दम नहीं उठाए गए तो ग्लोबल वार्मिंग के दुष्प्रभाव से हम नहीं बच पाएँगे। इसके लिए प्रत्येक देश के प्रत्येक व्यक्ति की सहभागिता के संदेश की ज़रूरत है।

संदर्भ

1. पर्यावरण चेतना, 2007
2. पर्यावरण विमर्श, 2007
3. श्रीवास्तव, संस्कार (शोध-पत्र) चिंतनीय है पृथ्वी का लगातार गरम होना।
4. भूगोल परिभाषा कोष (1996) : वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग के सौजन्य से दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली द्वारा प्रकाशित।
5. आशीष बम, 'डूब जाँएँगे समुद्रतटीय शहर' शोध लेख।
6. पर्यावरणीय अध्ययन।
7. दैनिक जागरण, 23 जून 2007
8. दैनिक जागरण, 15 जुलाई, 2007

□ सी० 1-416, गुलमोहर एन्क्लेव, नेहरू रोड,
राकेश मार्ग, गाज़ियाबाद (उ.प्र.)

डॉ० राममनोहर लोहिया, एक समाजवादी चिंतक : आलोचनात्मक अध्ययन

डॉ० मंजुला कुमार

डॉ० लोहिया भारतीय समाजवादी इतिहास के ऐसे जाज्वल्यमान नक्षत्र हैं, जिन्होंने सर्वथा मौलिक¹ चिंतन किया और किसी का झूठा नहीं चखा। वे एक राजनीतिक विचारक, चिंतक और स्वप्नद्रष्टा थे। उनका व्यक्तित्व बहुआयामी था। उनका चिंतन राजनीति तक ही परिमित न होकर संस्कृति, साहित्य, दर्शन, इतिहास और भाषा तक विस्तृत था। उनके विचारों में अनेकता में एकता परिलक्षित होती है। वे वज्र के समान कठोर तो फूल के समान कोमल भी हैं।² उनमें कबीर की स्पष्टवादिता और निराला की निर्लिप्तता का अनूठा सामंजस्य था। वैचारिक दृष्टि से वे उग्र थे, किंतु गांधी की अहिंसा में अपनी आस्था प्रकट की। गांधीवाद को एक अधूरा दर्शन मानते थे, वे समाजवादी थे, किंतु मार्क्स को एकांगी मानते थे, वे राष्ट्रवादी थे, किंतु विश्व सरकार के स्वप्नद्रष्टा थे। वे अत्यधिक आधुनिक थे, किंतु आधुनिक सभ्यता में पूर्णतः परिवर्तन कर देना चाहते थे। वे विद्रोही और क्रांतिकारी थे, लेकिन शांति और अहिंसा के प्रबल पक्षधर थे।³

लोहिया ने मार्क्सवाद और गांधीवाद के मूल को हृदयंगम कर लिया था, किंतु दोनों ही उन्हें अपूर्ण लगे, क्योंकि इतिहास की धारा ने दोनों का परित्याग कर दिया था। दोनों का महत्त्व एक युग-विशेष तक ही सीमित था।⁴

लोहिया की दृष्टि में मार्क्स पश्चिम, गांधी पूर्व के प्रतीक थे। एतदर्थ, उनकी तीव्र आकांक्षा पूर्व और पश्चिम की इस खाई को पाटने की थी। मानवीय विचार से वे पूर्व और पश्चिम, गोरे और काले, संपन्न और विपन्न, छोटे और बड़े राष्ट्रों तथा नर और नारी के विभेद को समाप्त कर विश्व समाजवाद के स्वप्नद्रष्टा थे।⁵

कथनी-करनी का अद्भुत सम्मिलन उनकी विचार-पद्धति का वैशिष्ट्य था। विचार और कर्म की निरंतरता उनका मूलमंत्र थी। वे एक आदर्श विश्व संस्कृति के स्वप्नद्रष्टा थे। लोहिया ने हृदय से भौतिक, भौगोलिक, राष्ट्रीय और राजकीय सीमाओं के बंधन अंगीकार नहीं किए।⁶

डॉ० लोहिया एक राजनीतिक संत थे। वे जीवनभर संघर्षरत रहे। इस संघर्ष में उन्हें अभिन्न मित्रों और साथियों को छोड़ना पड़ा, पर वे हिचकिचाए नहीं। नीति और नीति-विहीनता के मध्य द्वर्धर्ष संघर्ष में उन्होंने नीति को हृदयंगम किया।

वे मानवता के लिए समर्पित व्यक्तित्व थे। उन्होंने ग़रीबों और असहायों के दुःख-दर्द को चीन्हा था।

डॉ० लोहिया का जन्म 23 मार्च 1910 को तमसा नदी के तट पर अकबरपुर के फ़ैजाबाद जनपद में हुआ था। उनका परिवार मूलतः राजस्थानी था। लोहे के व्यवसाय ने उन्हें लोहिया की संज्ञा दी। वे अपने पिता हीरालाल की एकमात्र संतान थे। शैशवावस्था में माँ और

दादी का सुख उन्हें प्राप्त नहीं हुआ। उनका जीवन छात्रावासों में बीता। उन्होंने बंबई से मैट्रिक, बनारस हिंदू विश्वविद्यालय से इंटर और कलकत्ता विश्वविद्यालय से बी०ए० ऑनर्स की परीक्षा उत्तीर्ण की। प्रो० जॉबार्ट के पर्यवेक्षण में उन्होंने 'धरती का नमक' नामक विषय पर शोध-कार्य किया और डॉक्टर की उपाधि से विभूषित हुए।

उनके पिता हीरालाल गांधी के अंधभक्त थे। पिता के जीवन ने उन्हें अनुप्रेरित किया। राष्ट्रसंघ में बीकानेर के महाराजा के भारत सरकार द्वारा प्रतिनिधित्व बनाए जाने पर आपत्ति की। अन्याय के विरुद्ध यह उनका प्रथम विद्रोह था। उन्हें 'लीग ऑफ नेशनस' की दर्शक दीर्घा से निष्कासित कर दिया गया।

भारत आने पर 1933 के अंत में, काँग्रेस सोशलिस्ट पत्रिका का प्रकाशन प्रारंभ किया। 1936 में वे अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी के सदस्य चुने गए और नेहरू के परामर्श पर उन्हें विदेश विभाग का सचिव बनाया गया। 1934 में डॉ० लोहिया नासिक जेल में काँग्रेस समाजवादी दल की स्थापना में प्रमुखतः सक्रिय रहे। वे इस दल के संस्थापक सदस्यों में से एक थे।⁷ 1942 के 'भारत छोड़ो आंदोलन' में लोहिया ने भूमिगत रहकर अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। भारतीय राजनीति में 'सविनय अवज्ञा आंदोलन' का प्रयोग कर समाजवादी पार्टी को जंगजू बना दिया। डॉ० लोहिया ने शिवत्व को धारण किया।⁸ न केवल उन्होंने गोआ, दमन और दीव के जनमानस में ही स्वतंत्रता की चेतना जाग्रत की, बल्कि नेपाली जनता को सामंतवाद से मुक्त कराने में भी व्यापक आंदोलन को संचालित किया। 1954 में, वे प्रजा समाजवादी दल के महामंत्री बनाए गए, किंतु दलीय मतभेदों ने उन्हें दल को छोड़ने के लिए विवश कर दिया और 1956 में⁹ एक नए समाजवादी दल का निर्माण किया। प्रजा समाजवादी और समाजवादी दल की एकता के लिए अनेकों भगीरथ प्रयास निरर्थक रहे। 1962 के आमचुनाव की भारी पराजय ने डॉ० लोहिया को समाजवादी आंदोलन को संगठित करने के लिए अनुप्रेरित किया। अंत में, लोहिया के समाजवादी दल और प्रजा समाजवादी दल के विलीनीकरण से जून 1964 में लोहिया के नेतृत्व में संसोपा का गठन हुआ, किंतु यह एकता अल्पकालीन ही रही। वे दल की नीति एवं रीति के प्रतिपादक थे।

1963 में, डॉ० लोहिया फर्रुखाबाद से लोकसभा के सदस्य निर्वाचित हुए। वस्तुतः उन्होंने लोकसभा में आकर उसके वाद-विवादों और प्रश्नोत्तरों का स्वर ही परिवर्तित कर दिया।¹⁰ संसद में अपने प्रथम भाषण में उन्होंने भारतीय जनता की विपन्नता के संबंध में कहा कि भारत में 27 करोड़ जनता की दैनिक मजदूरी तीन आने से भी कम है। वे एक वक्त का भोजन भी नहीं जुटा पाते, जब कि प्रधानमंत्री के कुत्ते पर तीन रुपए प्रतिदिन व्यय होता है।¹¹ उन्होंने राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, मंत्रियों आदि पर जो भारी व्यय होता है, उसके आँकड़े लोकसभा में प्रस्तुत किए और भारतीय जनता को आश्चर्यचकित कर दिया।

लोकसभा में लोहिया को एक तूफानी क्रांतिकारी की संज्ञा प्राप्त हुई। जयप्रकाश नारायण ने 12 अक्टूबर 1967 में उनकी मृत्यु पर कहा था, 'वे भारतीय समाजवाद के महान संस्थापकों में से एक थे¹²..... उनके दिल में गरीबों के लिए बड़ा दर्द था।'

वे अँग्रेजी भाषा के कटु आलोचक थे। लोकभाषा के प्रयोग पर उन्होंने बल दिया। अँग्रेजी एक सामंती भाषा है, जो जनवादी समाजवाद की स्थापना में एक बड़ा अवरोध है। वे आय की सीमा व खर्च की सीमा का निर्धारण करना चाहते थे। जब सभी लोगों के निजी खर्च

राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री और करोड़पति के भी— एक सीमा के नीचे रहेंगे तो चीजों के दाम अपने-आप कम होंगे और कम आमदनी वाले लोग भी अपनी मेहनत का फायदा उठा सकेंगे।¹³

डॉ० लोहिया नारी-स्वतंत्रता के पक्षपाती थे और स्त्री व पुरुष को बराबरी का दर्जा देना चाहते थे। उनका कहना था, 'दिमाग के अंदर औरत और मर्द के जो भी कीड़े हैं, उनको हमेशा के लिए खत्म करो।'¹⁴

भाई-भतीजावाद, कुनवापरस्ती व जाति-बिरादरी के आधार पर अवसरों को प्रदान करना नहीं चाहते थे। उन्होंने राजनीतिक अनुशासन पर भी विशेष बल दिया था।

उन्होंने आदमी को अन्याय और अत्याचार से लड़ने के लिए सदैव प्रेरित किया। उन्होंने कहा, 'अन्याय का विरोध करने की आदत बन जानी चाहिए।' ¹⁵ उन्होंने 'दाम बाँधो आंदोलन' के संचालन पर बल दिया। जब तक सावधौम राष्ट्र विद्यमान है, सरकार का प्रथम दायित्व सीमाओं की रक्षा करना है।¹⁶

वे सप्तक्रांति के जनक थे। उनकी यह सप्तक्रांति जयप्रकाश नारायण की सप्तक्रांति बनी। उन्होंने संसोपा को एक नया दर्शन दिया और उसे एक संघर्षरत संस्था बना दिया। भारतीय समाजवादी आंदोलन और राजनीतिक दर्शन को उनका अनुदाय प्रतिस्पर्धात्मक है, वैसे डॉ० लोहिया के हठवादी व्यक्तित्व ने भारतीय समाजवादी आंदोलन की अपूरणीय क्षति की। उनकी उग्रता समाजवादी आंदोलन को संगठित करने में सदैव बाधक रही। वे भारत के द्वितीय गांधी बनना चाहते थे, किंतु उनमें गांधी जैसी क्षमता नहीं थी।¹⁷

उनके विचारों में विरोधाभास और अस्पष्टता है। उनका दर्शन एक सांगोपांग दर्शन नहीं है। उन्होंने दार्शनिक आलोचनाएँ की, किंतु एक दर्शन का प्रतिपादन नहीं किया। उन्होंने अँग्रेजी का ज़बरदस्त विरोध किया और हिंदी को राष्ट्रभाषा के रूप में अपनाने पर बल दिए जाने के लिए जनमानस को झकझोरा, किंतु वे स्वयं और संसोपा के मूर्धन्य लेखक अपनी रचनाएँ अँग्रेजी में लिखते रहे। पार्टी के प्रस्ताव और पार्टी-कार्यवाहियाँ सभी स्तरों पर अँग्रेजी के माध्यम से संचालित होती रहीं। अतः संसोपा और डॉ० लोहिया का हिंदी वाङ्मय के लिए कोई अनुदाय नहीं है। उन्होंने रचनात्मक विरोध नहीं किया। उनके और संसोपा के व्यक्तिगत आरोप निम्न स्तरीय थे। नेहरू के दादा और उनकी वेशभूषा पर आक्षेपों ने उन्हें मानसिक दृष्टि से निम्न स्तरीय ही नहीं बनाया, बल्कि भारतीय समाज उनके तीखे व्यंग्यों से आंदोलित भी नहीं हुआ। यह उनकी मनोवैज्ञानिक अक्षमता थी।

वे व्यक्तिगत स्वतंत्रता के प्रबल पक्षधर होकर भी वैयक्तिक स्वातंत्र्य पर अप्रत्यक्ष रूप से आक्रमण कर रहे थे। विदेशों में अपनी वेशभूषा और अपने प्रेरक मार्क्स की वेशभूषा के प्रति पराङ्मुखी बने रहे। उनका सांस्कृतिक आचरण उनके समाजवाद को प्रश्नचिह्नित कर देता है।

राष्ट्र ने काँग्रेस के नेतृत्व में कोई प्रगति नहीं की, यह सर्वथा अनैतिक ही नहीं प्रत्युत यह उनका अवैज्ञानिक विश्लेषण था। नेहरू ने राष्ट्र को संगठित किया, झंझावतों के होते हुए भी एकत्व प्रदान किया, भारत की काया में समाजवादी रंग भरकर एक नए दर्शन का प्रतिपादन किया। श्रीमती गांधी ने दक्षिणपंथियों से ज़बरदस्त टक्कर ली और धरोहर के रूप में उपलब्ध नेहरू के अनुदाय को विकसित किया, जबकि लोहिया ने समाजवादी आंदोलन को विघटित किया, राष्ट्र को एक सशक्त समाजवादी दल नहीं दे पाए, एक विरोधी दल का निर्माण भी नहीं

कर पाए। मूर्धन्य समाजवादी नेताओं में भी एकता स्थापित करने में अक्षम रहे। उन्होंने लोकतंत्र के संवैधानिक रूप को भ्रष्ट किया। भारत में पाँच वर्ष के उपरांत, महान् क्रांति की उपलब्धि को अनदेखा किया। परिवर्तन के इस विपुल साधन को उनका उर्वरा मस्तिष्क नहीं समझ पाया। उनका यह कथन कि संसद में भी आने से क्या होता है, उनकी लोकतंत्री ढाँचे के प्रति अनास्था की अभिव्यक्ति है। 'नेहरू और श्रीमती गांधी ने अपने महान् व्यक्तित्व से काँग्रेस को अनुप्राणित किया और उसकी उम्र बढ़ाई, जबकि संसोपा उनके जीवन-काल में एक सशक्त दल नहीं बन पाया और बाद में उसका अस्तित्व ही समाप्त हो गया।

अनेक विरोधाभासों के बावजूद सामाजिक व राजनीतिक दर्शन के उनके योगदान को विस्मृत नहीं किया जा सकता है। उन्होंने समय रहते भारतीय सरकार से धर्म, जाति, भाषा, संप्रदाय-जनित राजनीति को दूर रखने की वकालत की। अमीर-ग़रीब की बढ़ती खाई को नियंत्रित करने के लिए 'दाम बाँधो नियम' सिद्धांत प्रतिपादित किया। नर-नारी की समानता के लिए संघर्ष कर स्थिर भारतीय समाज की कल्पना की। एशिया महाद्वीप में सुदृढ़ता हेतु 'हिंदुस्तान पाकिस्तान महासंघ' का विचार प्रतिपादित किया एवं चिरस्थायी शांति हेतु विश्व सरकार का सिद्धांत स्थापित किया।

संदर्भ

1. ए० अप्पादोराय : पॉलिटिकल आइडियाज इन मॉडर्न इंडिया : इम्पेक्ट ऑफ़ दि वेस्ट, पृ० 60
'Perhaps the credit for original thinking in the doctrinal foundation of socialism as applied to under developed economics must go to Ram Manohar Lohia more than to any other.'
2. ओंकार शरद : लोहिया के विचार, पृ० 11
3. वही, पृ० 11
4. डॉ० वेदव्रत शर्मा : जवाहरलाल नेहरू : एक समाजवादी दार्शनिक, पृ० 240
5. ओंकार शरद : लोहिया के विचार, पृ० 11
6. वही, पृ० 11
7. संघर्षशील क्रांतिकारी नेता, 'डॉ० लोहिया', हिंदुस्तान, 12 अक्टूबर 1967
8. जन-पत्रिका, मई 1968, पृ० 45
9. 28 दिसंबर 1955, 1 जनवरी 1956, संस्थापक सम्मेलन, हैदराबाद
10. मोहनसिंह सैंगर, 'तूफान में उड़ता पत्ता', हिंदुस्तान, 12 अक्टूबर 1967
11. मधु लिमए, संक्रमण-कालीन राजनीति, पृ० 77
12. इनरफ्लेप, लोहिया : बहु आयामी व्यक्तित्व, संपादक : मुख्तार अनीस, विजयकांत दीक्षित।
13. लक्ष्मीकांत वर्मा, समाजवादी दर्शन और डॉ० लोहिया, पृ० 273
14. वही, पृ० 266
15. वही, पृ० 261
16. ओमप्रकाश दीपक, एक असमाप्त जीवनी, दिनमान 30 अक्टूबर, 5 नवंबर 1956
17. एस०एस० जोशी : यादों की जुगाली, पृ० 289

□ प्राचार्या, रानी भाग्यवती देवी महिला महाविद्यालय, बिजनौर (उ०प्र०)

भारत और नेपाल का सामाजिक संबंध

अनिलकुमार मैहरा

भारत और नेपाल का संबंध इतने निकट का एवं प्राचीन है कि भारतीय संस्कृति से भिन्न संदर्भ में नेपाल की संस्कृति के उद्गम को नहीं ढूँढा जा सकता। बौद्धधर्म के प्रवर्तक गौतम बुद्ध का जन्म प्राचीन भारतीय शाक्य गणराज्य में कपिलवस्तु के समीप लुम्बिनी नामक स्थान पर हुआ था, जो अब आधुनिक नेपाल की सीमा में है। नेपाल के बहुत से विधान और सामाजिक व्यवस्थाओं पर स्वाभाविक रूप से भारतीय प्रभाव है और नेपालीभाषा संस्कृत के अत्यंत निकट है। किंतु नेपाली सभ्यता की अपनी निजी विशेषताएँ हैं, जिनमें उसकी परंपराओं और विभिन्न संस्कृतियों का सम्मिश्रण देखने को मिलता है। सामाजिक व्यवस्था भारतीय समाज से प्रभावित होते हुए भी अपने रीति-रिवाजों के लिए स्वतंत्र थी।

पारिवारिक संबंध :

भारत में सामाजिक संगठन की सबसे छोटी और महत्वपूर्ण इकाई परिवार है। इसके अंतर्गत अनेक व्यक्ति तथा स्त्रियाँ एक छत्र-छाया में पलते हैं। व्यक्ति का उत्कर्ष उसके पारिवारिक जीवन के माध्यम से होता है। जन्म से लेकर मृत्यु तक की सारी अवस्था पारिवारिक संगठन के अंतर्गत ही संचालित होती है। माता-पिता, पति-पत्नी, भाई-बहन और पुत्र-पुत्री के संयोग से परिवार का निर्माण होता है। अतः परिवार मनुष्य के सभ्य और सुसंस्कृत होने का स्वाभाविक तारतम्य है, जिसके माध्यम से मानव-जीवन का उन्नयन होता है। ऋग्वेद के एक प्रसंग में पुरोहित विवाह के समय वर-वधू को आशीर्वाद देते हुए कहता है कि तुम यहाँ इसी घर में रहो, वियुक्त मत होओ, अपने घर में पुत्रों और पौत्रों के साथ खेलते और आनंद मनाते हुए समस्त आयु का उपभोग करो।¹ इसी प्रसंग में आगे कहा गया है कि तू सास, ससुर, ननद और देवर पर शासन करनेवाली रानी बने।²

रात्रि में परिवार के सभी सदस्यों के सोने का विवरण अथर्ववेद में दिया गया है।³ पिता इस परिवार का प्रमुख होता था, जिसके निर्देशन में परिवार के सभी सदस्य काम करते थे। इस प्रकार आर्यों ने आरंभ में जिस परिवार का संगठन किया, वह पितृसत्तात्मक परिवार था, जिसमें पिता कुटुंब का प्रधान होता था।

वेद ग्रंथों से ज्ञात होता है कि सबसे अधिक आयुवाला व्यक्ति गृहस्वामी होता था, जो कुटुंब की देखभाल करता था। उसके प्रति परिवार के सभी सदस्यों में आदर-भावना होती थी।⁴ अनेक जातकों में ऐसे परिवारों का उल्लेख है, जो अपने सदस्यों के सहयोग और सहायता से चलते थे।⁵ अनेक ऐसे भी परिवारों का उल्लेख है, जिनके सदस्य अपनी स्वतंत्र इच्छा के अनुसार पिता आदि को दुःखी छोड़कर बौद्धधर्म में दीक्षित हो गए थे तथा संपत्ति में अपना अधिकार स्वयं अवरुद्ध कर लिया था।⁶

नेपाली अभिलेखों से स्पष्ट होता है कि नेपाली परिवार संस्था भारतीय परिवार संस्था

से भिन्न नहीं थी। भारतीय राजाओं की तरह लिच्छवि नरेश एक से अधिक विवाह कर लेते थे। भारत में यह परंपरा बहुत प्राचीनकाल से प्रचलित थी। धर्मशास्त्रकारों के अनुसार ब्राह्मण चार, क्षत्रिय तीन, वैश्य दो और शूद्र एक पत्नी रख सकता था।⁷ रामायण से ज्ञात होता है कि राजा दशरथ की कौशल्या, कैकेयी और सुमित्रा नामक तीन पत्नियाँ थीं।⁸ पांडु की कुंती और माद्री दो भार्याएँ थीं। श्रीकृष्ण की सोलह हजार पत्नियाँ पत्नी बताई गई हैं।⁹ बहु-विवाह प्रथा का प्रभाव नेपाली राजाओं पर स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है। प्रथम मानदेव की तीन रानियाँ क्षेम सुंदरी, भोगिनी तथा विजय स्वामियों के नाम अभिलेखों में आए हैं।¹⁰

भारतीय परिवार में जिस प्रकार माता-पिता को आदर दिया प्राप्त था उसी प्रकार नेपाली समाज में भी माता-पिता को आदर प्राप्त था। इस प्रकार दोनों देशों के पारिवारिक संबंधों में समान रूप से विवरण प्राप्त होते हैं। इससे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि नेपाली परिवार-संस्था का विकास भारतीय परंपरा के अनुसार हुआ था।

विधवाओं की स्थिति :

भारत तथा नेपाल में सामाजिक संबंधों में स्त्रियों की दशा प्रायः समान थी। नेपाल के समाज में स्त्रियों की स्थिति पर संवत् 59-635 ई० के मालिगाँव अभिलेख से रोचक प्रकाश पड़ता है। इसमें कहा गया है कि उस स्त्री को, जो पति के मरने, नष्ट हो जाने अर्थात् खो जाने, संन्यासी हो जाने, जातिच्युत हो जाने अथवा किसी अन्य कारण से जो समाज में स्वीकृत हो पतिहीन हो जाने की स्थिति में दूसरा विवाह करने की अनुमति दे देनी चाहिए।¹¹ यह कथन भारतीय स्मृतिकार पराशर के उस कथन का अनुवाद ज्ञात होता है जिसमें कहा गया है कि पत्नी के विनष्ट होने, मृत होने, पतित होने, क्लीव होने की दशा में पत्नी को दूसरा विवाह कर लेना चाहिए। किंतु नेपाल के मालिगाँव अभिलेख¹² से यह ज्ञात होता है कि ऐसी स्त्रियों को जो स्वयं पतित होकर दूसरा विवाह कर लेती हैं और इसके अतिरिक्त पुत्रहीन रहती हैं मापचौक का अधिकार (मापचौक अधिकरण से प्राप्त होनेवाली राजकीय सहायता) तो होगा किंतु उनके कंतन नाम से पारिभाषित धन को मापचौक अधिकारी ले लेंगे। जो स्त्रियाँ दुश्चरित्रा, संतोषविहीन और रागानुसक्ता होकर पुरुषाभिलाषिणी होती हैं उनको पुत्रवती होने पर भी मापचौक अधिकार नहीं दिया जाएगा। इस अभिलेख के आधार पर यह कहा जा सकता है कि नेपाल में विधवाओं की दशा उसी प्रकार कठोर थी, जिस प्रकार भारतीय शास्त्रकारों ने इनके विभिन्न कृत्यों को प्रतिबंधित किया था।¹³

सती-प्रथा :

भारतीय समाज में प्रचलित प्राचीन परंपराओं में सती-प्रथा का प्रभाव भी नेपाली समाज में दृष्टिगोचर होता है। इस प्रथा के अनुसार पति के मरने के बाद परलोक और जन्मांतर में भी तद्वत् अटूट संबंध बने रहने के विश्वास के कारण यह प्रथा प्रचलित थी। यद्यपि भारत में इस प्रथा का संकेत वैदिक समाज में भी प्राप्त होता है तथापि इसका स्पष्ट उल्लेख रामायण और महाभारत में प्राप्त होता है। रामायण में वेदवती के सती होने का उल्लेख है।¹⁴ इस प्रकार के उल्लेख महाभारत में मिलते हैं। महाभारत के अनुसार पांडु के मृत होने पर माद्री सती हो गई थी।

कृष्ण के पिता वसुदेव के मरने पर उनकी चार पत्नियाँ देवकी, मद्रा, रोहिणी, मदिरा ने सह-मरण किया था।¹⁵ महाभारत के शांतिपर्व में एक कपोत और कपोती की कथा दी गई है,

जिसमें कपोत के मर जाने पर कपोती सती हो गई थी।¹⁶ सती से संबंधित यह दृष्टांत उस युग के सती-प्रथा प्रचलन का आभास कराता है। पुराणों में भी सती-प्रथा के अनेक प्रसंग प्राप्त होते हैं। कृष्ण की मृत्यु पर उनकी पत्नियों ने उनके मृत शरीर का आलिंगन करके अग्नि में प्रवेश किया था।¹⁷ अपने पति बलराम के मृत होने पर रेवती प्रसन्नतापूर्वक उसके शरीर को लेकर शीतल अग्नि में प्रवृष्टि हुई थी।¹⁸ पुराणों में ये उल्लेख गुप्तकालीन समाज में सतीप्रथा के प्रचलन की सूचना देते हैं। न केवल पुराणों में अपितु गुप्तकालीन अभिलेखीय प्रमाणों से भी इसकी पुष्टि होती है। गोपराज के एरण पाषाण स्तंभाभिलेख में उल्लेख है कि गोपराज की मृत्यु के बाद उसकी भक्त अनुरक्त प्रिया एवं सुंदरी स्त्री ने भी उसकी चिता की अग्नि में प्रवेश किया था।¹⁹ गुप्तकालीन समाज में प्रचलित इस प्रथा का प्रभाव नेपाली समाज पर पड़ना स्वाभाविक था। मानदेव के चांगु नारायण अभिलेख से यह स्पष्ट होता है कि मानदेव के पिता धर्मदेव के दिवंगत होने पर उसकी माता ने अपने पति का अनुसरण करने का निश्चय किया था।²⁰ इससे वह तभी विचलित हुई थी, जब मानदेव ने उसके पहले अपने प्राण त्यागने की धमकी दी थी। इस प्रकार भारत और नेपाल दोनों ही देशों में सतीप्रथा का अभिलेखों में प्रथम बार लगभग एक साथ उल्लेख होना यह संकेत देता है कि इनके तत्कालीन समाज में स्त्रियों के स्थान एवं आदर्श नारी की कल्पना में बहुत भेद नहीं था।

रहन-सहन :

नेपाल के उपलब्ध अभिलेखों से वहाँ के निवासियों के रहन-सहन, वस्त्रालंकार देवा-रचना, शिरोभूषण, शस्त्रास्त्र, घरेलू उपयोग के सामान, आवागमन के साधन, वाद्ययंत्र पर प्रकाश देनेवाली सामग्री बहुत कम मिलती है। भारतीय इतिहास में इस विषय पर तत्कालीन वाङ्मय शिल्प तथा अभिलेख विशेष सहयोग करते हैं, किंतु लिच्छविकालीन संस्कृति के लिए ऐसे साक्ष्य प्रायः नहीं के बराबर हैं। इन विषयों पर भारतीय तथा नेपाली साक्ष्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि नेपाल-निवासियों का रहन-सहन यद्यपि पूर्णतः भारतीय नहीं था तथापि भारतीय संस्कृति से अवश्य प्रभावित था। चीनी यात्री शुआन-च्वांग ने अपनी भारत-यात्रा के विवरण में नेपालियों की चर्चा करते हुए कहा है कि वे बेडौल व भद्दे शरीरवाले, स्वभाव से वंचक, जनसंसर्ग में अरुचि रखनेवाले, समय और न्याय के महत्त्व से अपरिचित एवं विद्याहीन परंतु कलाओं में दक्ष होते हैं।²¹ शुआन-च्वांग द्वारा किया गया यह मूल्यांकन नेपाल की घाटी के निवासियों का न होकर घाटी के समीप वाली किसी अर्द्ध सभ्य अथवा असभ्य जाति का होना चाहिए, जिसके साथ संभवतः चीनी यात्री का अनुभव सुखद न रहा हो क्योंकि नेपाल में प्राप्त अनेक अभिलेखीय साक्ष्यों से स्पष्ट है कि सातवीं शती से नेपाल की सभ्यता भारतीय सभ्यता से बहुत भिन्न नहीं थी।²² इस प्रसंग में प्रथम मानदेव का चाँगुनारायण अभिलेख उल्लेखनीय है। इसमें कहा गया है कि मानदेव के कंधे विशाल थे, भुजाएँ हाथी की सूँड के समान और नेत्र खिले हुए काले कमल की तरह तथा उसके शरीर की छवि पालिशदार सुवर्ण के सदृश थी। यह वर्णन अतिरंजित होते हुए भी सत्य के निकट ज्ञात होता है। अतः नेपाल के निवासी भारतीयों के समान ही सुंदर क्रांति वाले होते थे।

नेपाल में प्राप्त अभिलेखों में हस्तिमार्ग और महापथ आदि शब्दों का उल्लेख मिलता है। इसके साथ-साथ कुछ अभिलेखों से ज्ञात होता है कि लिच्छविकालीन नेपाल में आवागमन

के लिए बैलगाड़ियों, घोड़ागाड़ियों तथा रथों का प्रयोग होता था। किंतु इन गाड़ियों तथा रथों आदि की बनावट के बारे में कोई जानकारी नहीं मिलती। इसी प्रकार एक अभिलेख में बताया गया है कि कुछ विशेष प्रकार के अपराधियों के लिए पदक-पदक केयूर-नूपुर आदि पहिनना वर्जित था। इससे यह आभास मिलता है कि नेपाल में पदक केयूर-नूपुर आदि आभूषण न केवल स्त्रियाँ अपितु पुरुष भी धारण करते थे।

प्राचीन नेपाल में आभूषण धारण करने की प्रथा पुरुषों में भी थी। इसका ज्ञान ताम्र इतिहास से भी होता है, जिसमें कहा गया है कि नेपाल नरेश ना-लिंगतियों (नरेंद्रदेव) अपने शरीर को मोतियों एवं मूँगे आदि बहुमूल्य रत्नों से सजाता था और सुवर्ण के कर्णफूल, पन्ने का हार एवं बुद्ध मूर्तियों से अलंकृत करधनी पहनता था।²³ इस ग्रंथ से यह भी ज्ञात होता है कि उस समय नेपाल में लोग केवल एक वस्त्र धारण करते थे, जिसे वे उत्तरीय की तरह शरीर से ऊर्ध्व भाग पर लपेट लेते थे। इस प्रकार के वस्त्र धारण करने का प्रचलन भारत में भी था। जैसा की अजंता के कुछ चित्रों से स्पष्ट होता है।²⁴ तांग इतिहास के आधार पर रेग्मी का कथन है कि नेपाल के सामान्य जनों में सिर की भवों तक मुड़ाने और कानों में छेद कराकर उनमें बाँस की नलिकाएँ पहनने की प्रथा थी। जिनके कान जितने अधिक लटके होते थे, वह उतना ही अधिक सुंदर माना जाता था। कान छिदवाने की प्रथा प्राचीन भारत में भी प्रचलित थी।²⁵ इस प्रकार अनेक तथ्यों के आधार पर यह ज्ञात होता है कि नेपाल-निवासियों का रहन-सहन भारतवासियों से विशेष भिन्न नहीं था।

संदर्भ

1. ऋग्वेद, 10/85
2. ऋग्वेद, 42-46
3. अथर्ववेद, पृ० 4-5
4. जातक 2, पृ० 321-40, जातक 3, पृ० 150-180
5. जातक 3, पृ० 167
6. जातक 6, पृ० 69
7. मनुस्मृति, 3, 13
8. रामायण 2, 20, 38-55
9. महाभारत आदि पर्व 111/8-9, 112-118
10. क्षेमसुंदरी का नाम मानदेव के 'ईष्ट एंड वैस्ट' में प्रकाशित एक लेख में आया है, विजयस्वामिनों का रेग्मी द्वारा उल्लिखित एक अभिलेख में 'एँशिअंट' नेपाल, पृ० 119 तथा भोगिनो देवों का अभिलेख संग्रह भाग 1 पृ० 24 में प्रकाशित सूर्यघाट-अभिलेख में है।
11. पूर्णिका अंक 4 भाग-4, पृ० 356 मालीगाँव अभिलेख।
12. नीली संस्कृत इस्फ्रेक्शन अभिलेख सं० 47, पंक्ति 12
13. मनुस्मृति 5-157, स्कंधपुराण 4-74
14. रामायण 7-17-14
15. महाभारत 17-7-8-24
16. महाभारत शांतिपर्व 139-8-9

17. विष्णुपुराण 5-38-2
18. विष्णुपुराण 5-38-3
19. फ्लोट भारतीय अभिलेख संग्रह भाग-3, पृ० 93
20. नोली चाँगु नारायण अभिलेख।
21. टी० वार्ड्स, आन शुंआन-च्वांग ट्रेवेल्स इन इंडिया भाग-2, पृ० 135
22. श्रीराम गोयल, प्राचीन नेपाल का राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास, पृ० 167
23. रेग्मी, एंशिअंट नेपाल, पृ० 176-177
24. जी० राजदानी, अजंता, 4 फलक 15
25. बौद्धायन गृहसूत्र, 1/12

□ मकान नं० 384, हुडा, सैक्टर-प्रथम
रोहतक (हरियाणा)